पाँचवीं आवृत्ति

भाद्रपद शुक्ला पंचमी वीर नि० सं० २४८२

प्रतियाँ १५००

: मूल्य :

बारह रुपये

: मुद्रक :

पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ

जैनेन्द्र प्रेस,

ललितपुर (उ० प्र०)

समर्पण

अध्यात्ममूर्ति पूज्य श्री कानजीस्वामीको

जिन्होंने इस पामर पर अपार उपकार किया है, जो
स्वयं मोक्षमार्गमें विचर रहे हैं और अपनी दिव्य-
श्रुतधारा द्वारा भरतभूमिके जीवोंको सतत
रूपसे मोक्षमार्ग दर्शा रहे हैं, जिनकी पवित्र
वाणीमें मोक्षमार्ग के मूलरूप कल्याण-
मूर्ति सम्यग्दर्शनका माहात्म्य निरन्तर
बरस रहा है, और जिनकी परम
कृपा द्वारा यह ग्रन्थ तैयार हुआ
है। ऐसे कल्याणमूर्ति सम्य-
ग्दर्शनका स्वरूप समझाने
वाले परमोपकारी

गुरुदेवश्रीको

यह ग्रन्थ अत्यंत
भक्तिभाव पूर्वक
समर्पण
करता
हूँ।

—दासानुदास 'रामजी'

अनुवादककी ओरसे

इस युगके परम आध्यात्मिक संत-पुरुष श्री कानजीस्वामीसे जैन-समाजका बहुभाग सुपरिचित हो चुका है। अल्पकालमें ही उनके द्वारा जो सत्-साहित्य-सेवा, आध्यात्मिकताका प्रचार और सद्भावोंका प्रसार हुआ है, वह गत सैकड़ों वर्षों में भी शायद किसी अन्य जैन सन्त-पुरुषसे हुआ हो!

मुझे श्री कानजीस्वामीके निकट बैठकर कईवार उनके प्रवचन सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वे 'आध्यात्मिक' और 'निश्चय-व्यवहार' जैसे शुष्क विषयोंमें भी ऐसा सरसता उत्पन्न कर देते हैं कि श्रोतागण घन्टों क्या, महीनों तक निरन्तर उनके त्रिकाल प्रवचन सुनते रहते हैं। और श्रोताओंकी जिज्ञासात्मक रुचि बराबर बनी रहती है।

उनके निकट बैठकर अनेक महानुभावोंने ज्ञान-लाभ लिया है और आत्मार्थी विद्वान् श्री पं० हिंमतलाल जे० शाहने श्री समयसार, प्रवचनसार, आदि अनेक ग्रन्थोंका गुजराती अनुवाद किया है, जिनका राष्ट्रभाषानुवाद करनेका सौभाग्य मुझे मिला है।

स्वामीजी के अत्यन्त निकटस्थ एवं आध्यात्ममर्मज्ञ वयोवृद्ध विद्वान् श्री रामजीभाई दोशी ने मोक्षशास्त्र ग्रन्थके टीका-संग्रह का परोपकारी कार्य किया है। गुजराती पाठकोंमें यह टीकाशास्त्र अत्यधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। मैंने स्वयं भी पर्यूषण पर्वमें ललितपुर की जैन-समाजके समक्ष उसी गुजराती भाष्यको २-३ वार हिन्दीमें पढ़कर विवेचन किया, जो समाजको बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुआ।

उसी भाष्य-ग्रन्थका राष्ट्रभाषा-हिन्दीमें अनुवाद करनेका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ है, जो आपके करकमलोंमें प्रस्तुत है। मेरा विश्वास है कि सामान्य हिन्दी पाठक भी इस 'तत्त्वार्थ-विवेचन' का पठन-मनन करके तत्त्वार्थका रहस्यज्ञ बन सकता है। हिन्दी जगतमें इस ग्रन्थका अधिकाधिक प्रचार होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर
२५-७-५४

—परमेष्ठीदास जैन.

दो शब्द

आज इस चिर-प्रतीक्षित ग्रन्थराज की "मोक्षशास्त्र" पर आध्यात्मिक दृष्टिसे की गई विस्तृत भाष्य समान टीकाको प्रकाशित होते देखकर हृदय बहुत आनन्दित हो रहा है। हमारे यहां दिगम्बर समाजमें इस ग्रन्थराजकी बहुत ही उत्कृष्ट महिमा है। सर्वदा पर्यूषण पर्वमें सर्व स्थानोंमें दस दिवसोंमें इसी ग्रन्थराजके दस अध्यायोंका अर्थ सहित वांचन करनेकी पद्धति निरन्तर प्रचलित है। तथा बहुतसे स्त्री-पुरुषोंको ऐसा नियम होता है कि नित्य-प्रति इसका पूरा स्वाध्याय जरूर करना। इस प्रकारकी पद्धति जो कि अभी रूढ़िमात्र ही रह गई है, अर्थ एवं भाव पर लक्ष्य किये विना मात्र स्वाध्याय कल्याणकारी कदापि नहीं बन सकता, कदाचित् कषाय मन्द करे तो किंचित् पुण्य हो सकता है, लेकिन मोक्षमार्गमें सम्यक् रहित पुण्यका क्या मूल्य है? लेकिन यहां पर तो इतना ही समझना है कि समाजमें अभी भी इस ग्रन्थराजका कितना आदर है। इसकी और अनेक महान् महान् दिग्गज आचार्य श्रीमद् उमास्वामी आचार्यके बाद हुये जिन्होंने इस ग्रन्थराज मोक्षशास्त्र पर अनेक विस्तृत टीकायें श्री सर्वार्थसिद्धि, श्रीराजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक आदि और हिन्दी भाषामें भी अर्थ-प्रकाशिका आदि अनेक विस्तृत टीकायें रचीं। जितनी बड़ी-बड़ी टीकाएँ इस ग्रन्थराज पर मिलती हैं उतनी अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं मिलतीं। ऐसे ग्रन्थराज पर अध्यात्मरसरोचक हमारे माननीय भाई श्री रामजीभाई माणेकचन्दजी दोशी, एडवोकेट, संपादक आत्मधर्म एवं प्रमुख श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण सहित एक विस्तृत भाष्यरूप टीका गुजरातीमें तैयार की, जिसमें अनेक-अनेक ग्रन्थोंमें इस विषय पर क्या कहा गया है उन सबके अक्षरशः उद्धरण साथमें देनेसे यह टीका बहुत ही सुन्दर एवं उपयोगी बन गई है, यह टीका गुजरातीमें वीर संवत् २४७३ के फागुन सुदी १ को १००० प्रति प्रकाशित हुई. लेकिन सर्व समाजको यह टीका इतनी अधिक पसंद आयी कि सिर्फ ६ मासमें सर्व १००० प्रतियाँ पूर्ण हो गईं और मांग निरन्तर आती रहनेके कारण वीर सं० २४७५ अषाढ़ सुदी २ को दूसरी आवृत्ति प्रति १००० की प्रकाशित करनी पड़ी। ऐसे सुन्दर प्रकाशनको देखकर यह तीव्र भावना हुई कि अगर यह विस्तृत संकलन हिन्दी भाषामें अनुवाद होकर प्रकाशित हो तो हिन्दी-भाषी एवं भारत भरके मुमुक्षु भाइयोंको इसका महान् लाभ मिले, अतः मैंने अपनी भावना श्री माननीय रामजीभाईको व्यक्त की, लेकिन कुछ समय तक इस पर विचार होता रहा कि हिन्दी-भाषी समाज बड़े-बड़े उपयोगी ग्रंथोंको भी खरीदनेमें संकोच करती है, अतः ग्रन्थोंके प्रकाशनमें बड़ी रकम अटक जानेसे दूसरे प्रकाशन

रुक जाते हैं आदि आदि। यह बात सत्य भी है, कारण हमारे यहां शास्त्रोंको सिर्फ मन्दिरमें ही रखनेकी पद्धति है जो कि ठीक नहीं है। जिस प्रकार हर एक व्यक्ति व्यक्तिगतरूपसे अलग अलग अपने-अपने आभूषण रखना चाहता है चाहे वह उनको कभी-कभी ही पहिनता हो; उसीप्रकार हरएक व्यक्तिको जिसके मोक्षमार्ग प्राप्त करनेकी अभिलाषा है उसको तो मोक्षमार्ग प्राप्त करनेके साधनभूत सत्‌शास्त्र आभूषणसे भी ज्यादा व्यक्तिगतरूपसे अलग-अलग रखनेकी आवश्यकता अनुभव होनी चाहिये। यही कारण है कि जिससे बड़े-बड़े उपयोगी ग्रन्थोंका प्रकाशन-कार्य समाजमें कम होता जा रहा है। लेकिन जब अनेक स्थानोंसे इस मोक्षशास्त्रको हिन्दी भाषामें प्रकाशन करानेकी मांग आने लगी तो अन्तमें अनुवाद कराकर प्रकाशन करानेका निर्णय हुआ। फलतः यह ग्रन्थराज सभाष्य आपको आज मिल रहा है, आशा है सर्व मुमुक्षुगण इससे पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे।

इस टीकाके लिखने वाले व संग्राहक श्री माननीय रामजीभाईने इसको तैयार करनेमें अत्यन्त असाधारण परिश्रम किया है, तथा अपने गम्भीर शास्त्राभ्यासका इसमें दोहन किया है। जब इस टीकाके तैयार करनेका कार्य चलता था तब तो हमेशा प्रातःकाल ४ बजेसे भी पहले उठकर लिखनेको बैठ जाते थे। उनकी उम्र ७२ वर्षके आसपास होने पर भी उनकी कार्य-शक्ति बहुत ही आश्चर्यजनक है। उन्होंने सं० २००२ के मगसर सुदी १० से वकालत बन्द करके निवृत्ति ले ली है, और तभीसे करीब-करीब आप सम्पूर्ण समय सोनगढ़में ही रहते हैं। आपमें सूक्ष्म न्यायोंको भी ग्रहण करनेकी शक्ति, विशाल बुद्धि, उदारता और इस संस्था (श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर सोनगढ़) के प्रति अत्यन्त प्रेम आदिकी प्रशंसा पूज्य महाराजश्रीके मुखसे भी अनेक बार मुमुक्षुओंने सुनी है।

जो भी मुमुक्षु इस ग्रन्थका स्वाध्याय करेंगे उनपर इस प्रकार श्रीयुत रामजीभाईके प्रखर पांडित्य एवं कठिन श्रमकी छाप पड़े बिना नहीं रह सकती। अतः श्री रामजीभाईका समाज पर बहुत उपकार है कि जिन्होंने इस ग्रन्थराजका विषय अनेक ग्रन्थोंमें कहाँ किस प्रकार आया है और उसका अभिप्राय क्या है? यह सब संकलन करके एक ही जगह एकत्र करके हमको दे दिया है।

सबसे महान् उपकार तो हम सबके ऊपर परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजी स्वामीका है कि जिनकी अमृतवाणी रुचिपूर्वक श्रवण करने मात्रसे अपने आपको पहिचाननेका मार्ग मुमुक्षुको प्राप्त होता है. और जिनकी अध्यात्मसरिताका अमृतमय जलपान करके श्री रामजीभाई एवं श्री पंडित हिम्मतलाल जेठालाल शाह जिन्होंने समयसार, प्रवचनसार, नियमसारकी सुन्दर टीका बनाई ऐसे-ऐसे नररत्न प्रगट हुए हैं। मेरे ऊपर तो परम पूज्य

परम उपकारी श्री गुरुदेव कानजीस्वामीका महान्–महान् उपकार है कि जिनके द्वारा अनेक भवोंमें नहीं प्राप्त किया ऐसा मोक्षमार्गका उपाय साक्षात् प्राप्त हुआ है। और भविष्यके लिये यही आन्तरिक भावना है कि पूर्ण पदकी प्राप्ति होने तक आपका उपदेश मेरे हृदयमें निरन्तर जयवन्त रहो।

श्रावण शुक्ला २
वीर नि० सं० २४८०

—नेमीचन्द पाटनी
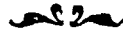
द्वितीय आवृत्ति

आज हमें इस ग्रन्थराजकी हिन्दी में द्वितीयावृत्ति प्रस्तुत करते हुए बहुत ही आनन्द हो रहा है। तत्त्वरसिक समाजने इस ग्रन्थराजको इतना ज्यादा अपनाया कि प्रथम आवृत्तिकी १००० प्रतियां ६ महिनेमें ही समाप्त हो गईं, उस पर भी समाजकी बहुत ज्यादा मांग बनी रही; लेकिन कई कारणोंसे तथा पूज्य कानजीस्वामीजीके संघसहित तीर्थराज श्री सम्मेद-शिखरकी यात्रा जानेके कारण यह दूसरी आवृत्ति इतनी देरीसे प्रकाशित हो सकी है। इस आवृत्तिमें कुछ आवश्यक संशोधन भी किये गये हैं तथा नवीन उद्धरण आदि भी और बढ़ाये गये हैं तथा अशुद्धियां भी बहुत ही कम रह गई हैं। इस प्रकार दूसरी आवृत्ति पहली आवृत्तिसे भी विशेषता रखती है, अतः तत्त्वरुचिक समाजसे निवेदन है कि इस ग्रन्थको भले प्रकार अध्ययन करके तत्वज्ञानकी प्राप्ति पूर्वक आत्मलाभ करके जीवन सफल करें।

अषाढ़ वदी १
वीर नि० सं० २४८४

—नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशकीय निवेदन

(पांचवीं आवृत्ति)

आचार्यप्रवर श्री उमास्वामीकृत 'तत्त्वार्थ सूत्र' नामक शास्त्र अनेक प्रकारसे अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें मोक्षका मार्ग दर्शाया है । निर्मल तत्वज्ञानी अनेक समर्थ आचार्यों तथा अनेक विद्वानों द्वारा इस शास्त्रपर अनेक छोटी-बड़ी टीकाएँ भी हुई हैं।

आज वर्तमान भौतिक युगमें सर्वत्र काम-भोग-बन्धकी कथा सुलभ है, किन्तु एकत्व-विभक्त आत्माका यथार्थ स्वरूप समझाकर अविनाशी सुख प्राप्त करनेका अपूर्व उपाय जिनके द्वारा हमें सुलभ हो रहा है ऐसे आत्मज्ञ संत श्री कानजीस्वामीका हम सब पर महान उपकार है । उनके द्वारा जो पवित्र ज्ञानगंगाका प्रवाह बह रहा है उसमें निमग्न होकर हम सब पावन बनें और वीतराग सर्वज्ञ कथित मोक्षमार्ग पर चलकर अपनेमें पूर्ण वीतरागता प्राप्त करें ऐसी भावना भाते हैं ।

हमारे अध्यात्मरुचिवंत सन्माननीय भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रामजीभाईने अविरत प्रयत्न पूर्वक आध्यात्मिक दृष्टिको मुख्य करके इस शास्त्रपर एक विस्तृत भाष्यरूप टीका गुजरातीमें तैयार की थी, उसकी हिन्दी भाषामें चार आवृत्तियां तो प्रकाशित हो चुकी हैं; यह पांचवीं आवृत्ति है । इसमें उन्होंने योग्य संशोधन कर दिया है, अतः हम उनका विशेषरूपसे आभार मानते हैं।

अन्य जिन-जिन साधर्मियोंने इस कार्यमें सहायता दी है उन सबका हम आभार मानते हैं।

छपते समय अनेक स्थलों पर मात्राएँ टूट गई हैं और अन्य भी अशुद्धियां रह गई हैं, कृपाकर शुद्धिपत्रके अनुसार अशुद्धियां ठीक करके पढ़ें-ऐसी विनती है ।

वीर नि० सं० २५०२
विक्रम सं० २०३२
भाद्रपद शुक्ला पंचमी

卐

साहित्य प्रकाशन-समिति
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जैनशास्त्रोंकी कथन-पद्धति समझकर तत्वार्थोंकी सच्ची श्रद्धा करनेकी रीति

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६९ से ३७३)

"व्यवहारनयका श्रद्धान छोड़ि निश्चयनयका श्रद्धान करना योग्य है।" "व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यकौं वा तिनके भावनिकौं वा कारण कार्यादिककौं काहूकौं काहूविषैं मिलाय निरूपण करै है। सो ऐसे ही श्रद्धानतैं मिथ्यात्व है। तातैं याका त्याग करना। बहुरि निश्चयनय तिनहीकौं यथावत् निरूपै है, काहूकौं काहूविषैं न मिलावै है। ऐसे ही श्रद्धानतैं सम्यक्त हो है। तातैं याका श्रद्धान करना। यहाँ प्रश्न—जो ऐसैं है, तौ जिनमार्ग विषैं दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या है, सो कैसैं ?

ताका समाधान - जिनमार्ग विषैं कहीं तौ निश्चयनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकौं तौ 'सत्यार्थ ऐसैं ही है' ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है, ताकौं 'ऐसैं है नाहीं निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इसप्रकार जाननेका नाम ही दोऊ नयनिका ग्रहण है। **बहुरि दोऊ नयनिके व्याख्यानकौं समान सत्यार्थ जानि ऐसैं भी है ऐसैं भी है, ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तनेकरि तौ दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या है नाहीं।**

बहुरि प्रश्न—जो व्यवहारनय असत्यार्थ है, तौ ताका उपदेश जिनमार्ग विषैं काहेकौं दिया—एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था ? ताका समाधान—ऐसा ही तर्क समयसार गा० ८ विषैं किया है। तहाँ यह उत्तर दिया है—याका अर्थ—जैसैं अनार्य जो म्लेच्छ सो ताहि म्लेच्छभाषा विना अर्थ ग्रहण करावनेकौं समर्थ न हूजे। तैसैं व्यवहार विना परमार्थका उपदेश अशक्य है। तातैं व्यवहारका उपदेश है। बहुरि इसही सूत्रकी व्याख्याविषैं ऐसा कह्या है—'व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः'। याका अर्थ—यहु निश्चयके अंगीकार करावनेकौं व्यवहारकरि उपदेश दीजिए है। बहुरि **व्यवहारनय है, सो अंगीकार करने योग्य नाहीं।**

यहाँ प्रश्न—व्यवहार विना निश्चयका उपदेश कैसैं न होय। बहुरि व्यवहारनय कैसैं अंगीकार करना, सो कहो ?

ताका समाधान—निश्चयनयकरि तौ आत्मा परद्रव्यनितैं भिन्न और स्वभावनितैं अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है ताकौं जे न पहिचानें, तिनकौं ऐसें ही कह्या करिए तौ वह समझै नाहीं। तब उनकों व्यवहार नयकरि शरीरादिक परद्रव्यनिकी सापेक्षकरि नर, नारक, पृथ्वीकायादि-रूप जीवके विशेष किए। तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार लिएं वाकै जीवकी पहिचानि भई। अथवा अभेद वस्तु विषैं भेद उपजाय ज्ञानदर्शनादि गुणपर्यायरूप जीवके विशेष किए, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है, इत्यादि प्रकार लिएं वाकै जीवकी पहिचान भई। बहुरि निश्चयनयकरि वीतरागभाव मोक्षमार्ग है ताकौं जे न पहिचानें, तिनकौ ऐसें ही कह्या करिए, तौ वै समझें नाहीं। तब उनकौं व्यवहारनय करि तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्यका निमित्त मेटनेंकी सापेक्षकरि व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभावके विशेष दिखाए, तब वाकै वीतरागभावकी पहिचान भई। याही प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार विना निश्चयका उपदेश न होना जानना। बहुरि यहाँ व्यवहारकरि नर, नारकादि पर्याय ही कौं जीव कह्या, सो पर्याय ही कौं जीव न मानि लैना। पर्याय तौ जीव पुद्गलका संयोग-रूप है। तहाँ निश्चयकरि जीव जुदा है, ताही कौं जीव मानना। जीवका संयोग तैं शरीरा-दिककौं भी उपचारकरि जीव कह्या, सो कहनेंमात्र ही है। परमार्थतैं शरीरादिक जीव होते नाहीं। ऐसा ही श्रद्धान करना। बहुरि अभेद आत्मा विषैं ज्ञानदर्शनादि भेद किए, सो तिनकौं भेदरूप ही न मानि लैनें। भेद तौ समझावनेके अर्थ हैं। निश्चयकरि आत्मा अभेद ही है। तिसहीकौं जीव वस्तु मानना। संज्ञा संख्यादिकरि भेद कहे, सो कहनें मात्र ही है। परमार्थ तैं जुदे जुदे हैं नाहीं। ऐसा ही श्रद्धान करना। बहुरि परद्रव्यका निमित्त मेटनेकी अपेक्षा व्रत शील संयमादिककौं मोक्षमार्ग कह्या। **सो इन ही कौं मोक्षमार्ग न मानि लेना।** जातैं परद्रव्यका ग्रहण-त्याग आत्माकै होय, तौ आत्मा परद्रव्यका कर्ता हर्ता होय **सो कोई द्रव्य कोई द्रव्य कै आधीन है नाहीं।** तातैं आत्मा अपने भाव रागादिक हैं, तिनकौ छोड़ि वीतरागी होहै। **सो निश्चयकरि वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है।** वीतराग भावनिके अर व्रतादिकनिकै कदाचित् कार्य-कारणपनो हैं। **परमार्थतैं बाह्य क्रिया मोक्षमार्ग नाहीं, ऐसा ही श्रद्धान करना।** ऐसैं ही अन्यत्र भी व्यवहारनयका अंगीकार करना जान लेना।

यहाँ प्रश्न—जो व्यवहारनय परकौं उपदेशविषैं ही कार्यकारी है कि अपना भी प्रयोजन साधै है?

ताका समाधान—आप भी यावत् निश्चयनयकरि प्ररूपित वस्तुकौं न पहिचानें तावत्

व्यवहार मार्गकरि वस्तुका निश्चय करे। तातैं निचली दशाविषैं आपकौं भी व्यवहारनय कार्यकारी है। परन्तु व्यवहारकौं उपचारमात्र मानि वाकै द्वारै वस्तुका श्रद्धान ठीक करै, तौ कार्यकारी होय। बहुरि **जो निश्चयवत् व्यवहार भी सत्यभूत मानि 'वस्तु ऐसैं ही है,' ऐसा श्रद्धान करै, तौ उलटा अकार्यकारी होय जाय** सो ही पुरुषार्थसिद्धिउपाय शास्त्रमें कह्या है—

> अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
> व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥
>
> माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
> व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

इनका अर्थ—मुनिराज अज्ञानीके समझावनेकौं असत्यार्थ जो व्यवहारनय ताकौं उपदेशै है। जो केवल व्यवहारही कौं जानें है, ताकौं उपदेश ही देना योग्य नाहीं है। बहुरि जैसें जो सांचा सिंह कौं न जानें, ताकें बिलाव ही सिंह है, तैसें जो निश्चय कौं न जानै, ताकै व्यवहार ही निश्चयपणाकौं प्राप्त होहै। (मो० मा० प्र० पृ० ३६९ से ३७३)

निश्चय-व्यवहाराभास-अवलम्बियोंका निरूपण

अब निश्चय-व्यवहार दोऊ नयनिके आभासकौं अवलम्बै हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टि तिनिका निरूपण कीजिए है—

जे जीव ऐसा मानें हैं—जिनमतविषैं निश्चय-व्यवहार दोय नय कहे हैं; तातैं हमकौं तिनि दोऊनिका अंगीकार करना। ऐसें विचारि जैसें केवल निश्चयाभासके अवलम्बीनिका कथन किया था, तैसें तौ निश्चयका अंगीकार करै हैं अर जैसें केवल व्यवहाराभासके अवलम्बीनीका कथन किया था, तैसें तौ व्यवहारका अंगीकार करै हैं। यद्यपि ऐसें अंगीकार करने विषैं दोऊ नयनिविषैं परस्पर विरोध है, तथापि करैं कहा, सांचा तो दोऊ नयनिका स्वरूप भास्या नाहीं, अर जिनमतविषैं दोय नय कहे तिनिविषैं काहूकौं छोड़ी भी जाती नाहीं। तातैं **भ्रम लिएं दोऊनिका साधन साधैं हैं, ते भी जीव मिथ्यादृष्टि जानने।**

अब इनिकी प्रवृत्तिका विशेष दिखाइए है—अंतरंगविषैं आप तो निर्धारकरि यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गकौं पहिचान्या नाहीं। जिन आज्ञा मानि **निश्चय व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दोय प्रकार मानें है। सो मोक्षमार्ग दोय नाहीं। मोक्षमार्गका निरूपण**

मोक्षमार्गरूपसे बतलाकर फिर निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञानका विवेचन किया है। दूसरे अध्यायमें ५३ सूत्र हैं; उसमें जीवतत्त्वका वर्णन है। जीवके पांच असाधारण भाव, जीवका लक्षण तथा इन्द्रिय, योनि, जन्म, शरीरादिके साथके सम्बन्धका विवेचन किया है। तीसरे अध्यायमें ३९ तथा चौथे अध्यायमें ४२ सूत्र हैं। इन दोनों अध्यायोंमें संसारी जीवोंको रहनेके स्थानरूप अधो, मध्य और ऊर्ध्व-इन तीन लोकोंका वर्णन है और नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव-इन चार गतियों का विवेचन है। पाँचवें अध्यायमें ४२ सूत्र हैं और उसमें अजीवतत्वका वर्णन है; इसलिये पुद्गलादि अजीव द्रव्योंका वर्णन किया है। तदुपरान्त द्रव्य, गुण, पर्यायके लक्षणका वर्णन बहुत संक्षेप में विशिष्ट रीतिसे किया है —यह इस अध्याय-की मुख्य विशेषता है। छठवें अध्यायमें २७ तथा सातवें अध्यायमें ३९ सूत्र हैं, इन दोनों अध्यायोंमें आस्रवतत्त्वका वर्णन है। छठवें अध्यायमें प्रथम आस्रवके स्वरूपका वर्णन करके फिर आठों कर्मोंके आस्रवके कारण बतलाये हैं। सातवें अध्यायमें शुभास्रवका वर्णन है, उसमें बारह व्रतोंका वर्णन करके उसका आस्रवके कारणमें समावेश किया है। इस अध्यायमें श्रावकाचारके वर्णनका समावेश हो जाता है। आठवें अध्यायमें २६ सूत्र हैं और उसमें बंध-तत्त्वका वर्णन है। बन्धके कारणोंका तथा उसके भेदोंका और स्थितिका वर्णन किया है। नववें अध्यायमें ४७ सूत्र हैं और उसमें संवर तथा निर्जरा इन दो तत्वोंका बहुत सुन्दर विवेचन है, तथा निर्ग्रन्थ मुनियोंका स्वरूप भी बतलाया है। इसलिये इस अध्यायमें निश्चय-सम्यक्चारित्रके वर्णनका समावेश हो जाता है। पहले अध्यायमें निश्चय सम्यग्दर्शन तथा निश्चय सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया था और इस नववें अध्यायमें निश्चय सम्यक्चारित्रका (-संवर, निर्जराका) वर्णन किया। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गका वर्णन पूर्ण होने पर अन्तमें दसवें अध्यायमें नव सूत्रों द्वारा मोक्षतत्त्वका वर्णन करके श्री आचार्य-देवने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

५. संक्षेपमें देखनेसे इस शास्त्रमें निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप मोक्ष-मार्ग, प्रमाण-नय-निक्षेप, जीव-अजीवादि सात तत्व, ऊर्ध्व-मध्य-अधो यह तीन लोक, चार गतियाँ, छह द्रव्य और द्रव्य-गुण-पर्याय, इन सबका स्वरूप आ जाता है। इसप्रकार आचार्य भगवानने इस शास्त्रमें तत्त्वज्ञानका भण्डार बड़ी खूबीसे भर दिया है।

(४) तत्वार्थों की यथार्थ श्रद्धा करनेके लिये कुछ विषयों पर प्रकाश

६—अ० १. सूत्र १, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रके सम्बन्धमें श्री नियमसार शास्त्र गाथा २ की टीकामें श्री पद्मप्रभमलधारिदेवने कहा है कि "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं" ऐसा वचन होनेसे मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है। इससे यह सूत्र शुद्धरत्न-

त्रय अर्थात् निश्चय माक्षमार्गकी व्याख्या करता है। ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे, इस सूत्रका कोई विरुद्ध अर्थ करे तो वह अर्थ मान्य करने योग्य नहीं है।

इस शास्त्रमें पृष्ठ ६ पैरा नं० ४ में उसके अनुसार अर्थ करनेमें आया है उस ओर जिज्ञासुओंका ध्यान खींचने आता है।

७—सूत्र २ 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यहां " सम्यग्दर्शन " शब्द दिया है वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और वही प्रथम सूत्रके साथ सुसंगत अर्थ है। कहीं शास्त्रमें सात तत्त्वोंको भेदरूप दिखाना हो तो वहाँ भी 'तत्त्वार्थश्रद्धा' ऐसे शब्द आते हैं; वहां 'व्यवहार सम्यग्दर्शन' ऐसा उसका अर्थ करना चाहिये।

इस सूत्रमें तो तत्वार्थश्रद्धान शब्द सात तत्वोंको अभेदरूप दिखानेके लिये है, इसलिये सूत्र २ " निश्चयसम्यग्दर्शन" की व्याख्या करता है।

इस सूत्रमें 'निश्चयसम्यग्दर्शन' की व्याख्या की है। उसके कारण इस शा॰ पृष्ठ ७ से १७ में स्पष्टतया दिखाये हैं; वह जिज्ञासुओंको सावधानी पूर्वक पढ़नेका अनुरोध किया जाता है।

८—प्रश्नः—वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है और जैन-शास्त्र अनेकान्तका विद्या-प्रतिपादन करते हैं, तो सूत्र १ में कथित निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् शुद्धरत्नत्रय और सूत्र २ में कथित निश्चय सम्यग्दर्शनको अनेकान्त किस भाँति घटित होता है ?

उत्तर—(१) निश्चय मोक्षमार्ग वही खरा (-सच्चा) मोक्षमार्ग है और व्यवहार मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है; तथा निश्शय सम्यग्दर्शन ही सच्चा सम्यग्दर्शन है, व्यवहार सम्यग्दर्शन सच्चा सम्यग्दर्शन नहीं है। और—

(२) वह स्वाश्रयसे ही प्रगट हो सकता है—और पराश्रयसे कभी भी प्रगट नहीं हो सकता ऐसा अनेकान्त है।

(३) मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है अर्थात् उसे परकी अपेक्षा नहीं है किन्तु तीनों काल स्वकी अपेक्षासे ही वह प्रगट हो सकता है, वह अनेकान्त है।

(४) इसलिये उसके प्रगट होनेमें आंशिक स्वाश्रय और आंशिक पराश्रयपना है— (-अर्थात् वह निमित्त, व्यवहार, भेद आदिके आश्रयसे है) ऐसा मानना वह सच्चा अनेकान्त नहीं है परन्तु वह मिथ्या-एकान्त है; इस प्रकार निःसंदेह निश्चित करना ही अनेकान्त-विद्या है।

२—नियमसार गाथा ९१ पृष्ठ १७३ कलश नं० १२२.
३— „ „ ९२ „ १७५ टीका
४— „ „ १०९ „ २१५ कलश-१५५ नीचेकी टीका,
५— „ „ १२१ „ २४४ टीका,
६— „ „ १२३ „ २४९ टीका,
७— „ „ १२८ „ १५९-१६० टीका तथा फुटनोट,
८— „ „ १४१ „ २८२ गाथा, १४१ की भूमिका,

प्रवचनसारजी (पाटनी ग्रन्यमाला) में देखो:—

९— गाथा ११ टीका पृष्ठ सं० १२-१३
१०— „ ४-५ „ „ „ ७
११— „ १३ की भूमिका तथा टीका पत्र, १४-१५
१२— „ ७८ टीका पृष्ठ, ८८-८९
१३— „ ९२ „ „ १०४-५
१४—गाथा १५९ तथा टीका पृष्ठ २०३ (तथा इस गाथाके नीचे पं० श्री हेमराजजीकी टीका पृष्ठ नं० २२०) (यह पुस्तक हिन्दीमें श्री रायचन्द्र ग्रन्यमालाकी देखना)
१५—गाथा २४८ तथा टीका, पृष्ठ ३०४, (तथा उस गाथा नीचे पं० हेमराजजीकी टीका हिन्दी पुस्तक-रायचन्द्र ग्रन्थमालाकी)
१६—गाथा २४५ तथा टीका पृष्ठ ३०१,
१७—गाथा १५६ तथा टीका पृष्ठ २०१,

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत समयसारजी कलशोंके ऊपर श्री राजमल्लजी टीका (सूरतसे प्रकाशित) पुण्य-पाप अधिकार कलश ४, पृ० १०३-४,
कलश ५ पृष्ठ १०४-५
„ ६ „ १०६ (इसमें धर्मीके शुभभावोंको बन्ध-मार्ग कहा है)
„ ८ „ १०८
„ ९ „ १०९
„ ११ „ ११२-१३ (यह सभी कलश श्री समयसार पुण्य-पाप अधिकारमें हैं वहाँसे भी पढ़ लेना)

योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा नं० ७१ में (पुण्यको भी निश्चयसे पाप कहा है)

योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा नं० ३२, ३३, ३४, ३७

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत मोक्षपाहुड़ गाथा ३१

समाधिशतक गाथा १६

पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २२०

पंचास्तिकाय गाथा १६५, १६६-६७-६८-६९,

पं० बनारसीदासकृत नाटक समयसारमें पुण्य-पाप अधिकार

कलश १२ पृष्ठ १३१-३२

" ७ " १२६-२७

" ८ " १२७-२८

समयसारजी शास्त्र मूल गाथा टीका गाथा ६९, ७०, ७१, ७२, ७४, ९२, गाथा ३८ तथा टीका, गाथा २१०, २१४, २७६-२७७-२९७ गाथा टीका पढ़ना ।

१४५ से १५१, १८१ से १८३ पृष्ठ २९५ (--परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होनेसे)

३०६-७, (शुभभाव व्यवहार चारित्र निश्चयसे विषकुम्भ) २९७ गाथामें श्री जयसेनाचार्यकी टीकामें भी स्पष्ट खुलासा है ।

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली सस्ती ग्रन्थमाला) पृष्ठ, नं० ४, ३२७-२८-३२-३३-३४-३९-४०-४१-४२-४३-४४, ३६०-६१, ३६५ से ३७१ (३७१-३७५-७६-७७ पृष्ठमें विशेष बात है) ३७२, ३७३-७५-७६-७७-९७, ४०७-८, ४५७, ४७१-७२

व्यवहारनयके स्वरूपकी मर्यादा

१४—समयसार गाथा ८ की टीकामें कहा है कि " व्यवहारनय म्लेच्छ भाषाके स्थान पर होनेसे परमार्थका कहनेवाला है इसलिये, व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है परन्तु × × वह **व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ।**" फिर गाथा० ११ की टीकामें कहा कि **व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है** इसलिये वह अविद्यमान, असत्य अर्थको, अभूतअर्थको प्रगट करता है, **शुद्धनय एक ही भूतार्थ होनेसे सत्य, भूत अर्थको प्रगट करता है** × × बादमें कहा है कि × × इसलिये जो शुद्धनयका आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यक्‌दृष्टि हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं । इसलिये कर्मोंसे भिन्न आत्माके देखनेवालोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ।"

गाथा ११ के भावार्थमें श्री पं० जयचन्दजीने कहा है कि—

प्राणियोंको भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादिकालसे ही है, और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं । और जिनवाणीमें व्यवहारनयका उपदेश

शुद्धनयका हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनयका पक्ष तो कभी पाया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है,—वह कहीं कहीं-पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरुने शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानतासे दिया है; कि—"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेनेसे सम्यक्‌दृष्टि हो सकता है; इसे जाने विना जब तक जीव व्यवहारमें मग्न है तब तक आत्माका ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता"। ऐसा आशय समझना चाहिये ॥ ११ ॥

१५—कोई ऐसा मानते हैं कि प्रथम व्यवहारनय प्रगट हो और बादमें व्यवहारनयके आश्रयसे निश्चयनय प्रगट होता है अथवा प्रथम व्यवहारधर्म करते-करते निश्चयधर्म प्रगट होता है तो यह मान्यता योग्य नहीं है, कारण कि निश्चय-व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक-देहली-पृष्ठ ३६६)

(१) निश्चयसम्यग्ज्ञानके विना जीवने अनन्तवार-मुनिव्रत पालन किये परन्तु उस मुनिव्रतके पालनको निमित्तकारण नहीं कहा गया, कारण कि सत्यार्थ कार्य प्रगट हुए विना साधक (-निमित्त) किसको कहना ?

प्रश्नः—"जो द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षके अर्थी गृहस्थपनों छोड़ि तपश्चरणादि करें हैं, तहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध न भया, तातैं पुरुषार्थ किये तौ कछू सिद्धि नाहीं। ताका समाधान—अन्यथा पुरुषार्थकरि फल चाहे, तो कैसे सिद्धि होय? तपश्चरणादिक व्यवहार-साधन विषैं अनुरागी होय प्रवर्त्तै, ताका फल शास्त्र विषैं तो शुभबन्ध कह्या है, अर यह तिसतैं मोक्ष चाहै है, तो कैसें सिद्धि होय! अतः यहु तौ भ्रम है।"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४५६ देखो।)

(२) मिथ्यादृष्टिकी दशामें कोई भी जीवको कभी भी 'सम्यग् श्रुतज्ञान' हो सकता [illegible] जिसको 'सम्यक् श्रुतज्ञान' प्रगट हुआ है उसे ही 'नय' होते हैं, कारण कि 'नय' ज्ञान [illegible] श्रुतज्ञानका अंश है अंशी बिना अंश कैसा? "सम्यक् श्रुतज्ञान" (भावश्रुत- [illegible] दोनों नय एक साथ होते हैं, प्रथम और पीछे ऐसा नहीं है; इसप्रकार सच्चे [illegible]।

(३) [illegible] ऐसा है कि चतुर्थ गुणस्थानसे ही निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट [illegible] है और [illegible] सम्यक्‌श्रुतज्ञान प्रगट होता है, सम्यक् श्रुतज्ञानमें दोनूं नय अंशोंका

सद्भाव एकी साथ है आगें पीछे नय होते नहीं। निजात्माके आश्रयसे जब भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ तब अपना ज्ञायकस्वभाव तथा उत्पन्न हुई जो शुद्धदशा उसे आत्माके साथ अभेद मानना वह निश्चयनयका विषय, और जो अपनी पर्यायमें अशुद्धता तथा अल्पता शेष है वह व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार दोनों नय एक ही साथ जीवको होते हैं। इसलिये प्रथम व्यवहारनय अथवा व्यवहारधर्म और बादमें निश्चयधर्म ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है।

१६—प्रश्नः—निश्चयनय और व्यवहारनय समकक्ष हैं ऐसा मानना ठीक है ?

उत्तरः—नहीं, दोनों नयको समकक्षी माननेवाले एक संप्रदाय* है वे दोनोंको समकक्षी और दोनोंके आश्रयसे धर्म होता है ऐसा निरूपण करते हैं परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो स्पष्टरूपसे कहते हैं कि भूतार्थके (निश्चयके) आश्रयसे ही हमेशा धर्म होता है, पराश्रयसे (—व्यवहारसे) कभी अंशमात्र भी सच्चा धर्म (—हित) नहीं होता। हाँ; दोनों नयोंका तथा उनके विषयोंका ज्ञान अवश्य करना चाहिये। गुणस्थान अनुसार जैसे-जैसे भेद आते हैं वह जानना प्रयोजनवान है परन्तु दोनों समान हैं—समकक्ष हैं ऐसा कभी नहीं है, कारण कि दोनों नयोंके विषयमें और फलमें परस्पर विरोध है इसलिये व्यवहारनयके आश्रयसे कभी भी धर्मकी उत्पत्ति, वृद्धि और टिकाना होता ही नहीं ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना

---

* उस सम्प्रदायकी व्यवहारनयके सम्बन्धमें क्या श्रद्धा है ? देखो—(१) श्री मेघविजयजी गणी कृत युक्तिप्रबोध नाटक (वह गणीजी कविवर श्री बनारसीदासके समकालीन थे) उनने व्यवहार-नयके आलम्बन द्वारा आत्महित होना बताकर श्री समयसार नाटक तथा दिगम्बर जैनमतके सिद्धान्तोंका खण्डन किया है तथा (२) जो प्रायः १६ वीं शतीमें हुये—अब भी उनके सम्प्रदायमें बहुत मान्य हैं उन श्री यशोविजयजी उपाध्यायकृत गुर्जर साहित्य-संग्रहमें पृष्ठ नं० २०७, २१९, २२२, ५८४, ८५ में दि० जैनधर्मके विशेष सिद्धान्तोंका उग्र (—सख्त) भाषा द्वारा खण्डन किया है, वे बड़े ग्रन्थकार थे—विद्वान थे उनने दिगम्बर आचार्योंका यह मत बतलाया है कि:—

(१) निश्चयनय होने पर ही व्यवहारनय हो सकता है—व्यवहारनय प्रथम नहीं हो सकता।

(२) प्रथम व्यवहारनय तथा व्यवहारधर्म और पीछे निश्चयनय और निश्चयधर्म ऐसा नहीं है।

(३) निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों समकक्ष नहीं है—परस्पर विरुद्ध हैं उनके विषय और फलमें विपरीतता है।

(४) निमित्तका प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसा दिगम्बर आचार्योंका मत है। इन मूल बातोंका उस सम्प्रदायने उग्र जोरोंसे खण्डन किया है—इसलिये जिज्ञासुओंसे प्रार्थना है कि उनमें कौन मत सच्ची है उसका निर्णय सच्ची श्रद्धाके लिये करें—जो बहुत प्रयोजनभूत है—जरूरी बात है।

चाहिये, समयसारजीमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत ११ वीं गाथाको गाथा जैनागमका प्राण कहा है, इसलिये उस गाथा और टीकाका मनन करना चाहिये। गाथा निम्नोक्त है:—

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है;
भूतार्थके आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होत है। (कालमें)

१७—प्रश्न:—व्यवहार-मोक्षमार्गको मोक्षका परम्परा कारण कहा है वहाँ क्या प्रयोजन है?

समाधान—(१) सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धात्मद्रव्यके आलम्बन द्वारा अपनी शुद्धता बढ़ाकर जैसे-जैसे शुद्धता द्वारा गुणस्थानमें आगे बढ़ेगा तैसे तैसे अशुद्धता (शुभाशुभका) अभाव होता जायगा और क्रमशः शुभभावका अभाव करके शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करेगा ऐसा दिखानेके लिये व्यवहार-मोक्षमार्गको परम्परा (निमित्त) कारण कहा गया है। यह निमित्त दिखानेके प्रयोजनसे व्यवहारनयका कथन है।

(२) **शुभभाव ज्ञानीको भी आस्रव (-बन्धके कारण) होनेसे वे निश्चय-नयसे परम्परा भी मोक्षका कारण हो सकते नहीं** श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा गाथा ५९ में कहा है कि **कर्मोंका आस्रव करनेवाली क्रियासे परम्परा भी निर्वाण प्राप्त हो सकते नहीं; इसलिये संसार-भ्रमणके कारणरूप आस्रवको निंद्य जानो ॥५९॥**

(३) पंचास्तिकाय गाथा १६७ में श्री जयसेनाचार्यने कहा है कि—"श्री अर्हंतादिमें भी राग छोड़ने योग्य है" पीछे गाथा १६८ में कहा है कि, **धर्मी जीवका राग भी (निश्चयनयसे) सर्व अनर्थका परम्परा कारण है।**

(४) इस विषयमें स्पष्टीकरण श्री नियमसारजी गाथा ६० (गुजराती अनुवाद) पृष्ठ ११७ फुटनोट नं० ३ में कहा है कि "शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत शुद्धोपयोगका हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्षका हेतु है ऐसा गिन करके यहां उपचारसे व्यवहारव्रतको मोक्षके परम्परा हेतु कहा है, वास्तवमें तो शुभोपयोगी मुनिके योग्य शुद्ध परिणति ही (शुद्धात्मद्रव्यको आलम्बन करती होनेसे) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग हेतु होती है, इसप्रकार इस शुद्धपरिणतिमें स्थित जो मोक्षके परम्परा हेतुपनाका आरोप उसकी साथ रहा हुआ शुभोपयोगमें करके व्यवहारव्रतको मोक्षका परम्परा हेतु कहनेमें आता है। परन्तु जहां शुद्धपरिणति ही न हो वहां रहा हुआ शुभोपयोगमें मोक्षके परम्परा हेतुपनेका आरोप भी कर सकते नहीं, कारण कि जहां मोक्षका यथार्थ हेतु प्रगट हुआ ही नहीं—विद्यमान ही नहीं वहाँ शुभोपयोगमें आरोप किसका करना?"

(५) और पंचास्तिकाय गाथा १५९ (गुज० अनु०) पृष्ठ २३३-३४ में फुटनोट नं० ४ में कहा है कि—"जिनभगवानके उपदेशमें दो नयों द्वारा निरूपण होता है। वहां, निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ उपचरित निरूपण किया जाता है।

प्रश्नः—सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिये; अभूतार्थ उपचरित निरूपण किसलिये किया जाता है ?

उत्तरः—जिसे सिंहका यथार्थ स्वरूप सीधा समझमें नहीं आता हो, उसे सिंहके स्वरूपके उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्लीके स्वरूपके निरूपण द्वारा सिंहके यथार्थ स्वरूपकी समझकी ओर ले जाता है; उसी प्रकार जिसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप सीधा समझमें न आता हो उसे वस्तुस्वरूपके उपचरित निरूपण द्वारा वस्तुस्वरूपकी यथार्थ समझकी ओर ले जाते हैं। **और लम्बे कथनके बदलेमें संक्षिप्त कथन करने के लिये भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है।** यहां इतना लक्ष्यमें रखने योग्य है कि—जो पुरुष बिल्लीके निरूपणको ही सिंहका निरूपण मानकर बिल्लीको ही सिंह समझ ले वह तो उपदेशके ही योग्य नहीं है, उसी प्रकार जो पुरुष उपचरित निरूपणको ही सत्यार्थ निरूपण मानकर वस्तुस्वरूपको मिथ्यारीतिसे समझ बैठे वह तो उपदेशके ही योग्य नहीं है।

[यहाँ एक उदाहरण लिया जाता है:—

साध्य-साधन सम्बन्धी सत्यार्थ निरूपण इसप्रकार है कि—'छठवें गुणस्थानमें वर्तती हुई आंशिक शुद्धि सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है।' अब, छठवें गुणस्थानमें कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है,—इस बातको भी साथ ही साथ समझाना हो तो, विस्तारसे ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धिके सद्भावमें, उसके साथ-साथ महाव्रतादिके शुभ विकल्प हठ रहित, सहजरूपसे प्रवर्तन हों वह छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है।' ऐसे लम्बे कथनके बदलेमें, ऐसा कहा जाये कि 'छठवें गुणस्थानमें प्रवर्तमान महाव्रतादिके शुभ विकल्प सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है,' तो यह उपचरित निरूपण है। ऐसे उपचरित निरूपणमेंसे ऐसा अर्थ निकालना चाहिये 'महाव्रतादिके शुभ विकल्प (साधन) नहीं किन्तु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धिको बताना था वह शुद्धि वास्तवमें सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है।]

(६) परम्परा कारणका अर्थ निमित्तकारण है, व्यवहार-मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्ष-

करना। शुभोपयोग–अशुभोपयोगकौं हेय जानि तिनके त्यागका उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै, तहाँ अशुभोपयोगकौं छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्त्तना। जातैं शुभोपयोगतै अशुभोपयोगविषैं अशुद्धताकी अधिकता है।

बहुरि शुद्धोपयोग होय, तब तो परद्रव्यका साक्षीभूत ही रहै है। तहाँ तो किछू परद्रव्यका प्रयोजन ही नाहीं। बहुरि शुभोपयोग होय, तहाँ बाह्य–व्रतादिककी प्रवृत्ति होय, अर अशुद्धोपयोग होय, तहाँ बाह्य अव्रतादिककी प्रवृत्ति होय। जातैं अशुद्धोपयोगकै अर परद्रव्यकी प्रवृत्तिकै निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध पाइए है। बहुरि पहलै अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग होइ, पीछैं शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग होइ ऐसी क्रम परिपाटी है। परन्तु कोई ऐसैं मानै कि शुभोपयोग है, सो शुद्धोपयोगकौं कारण है जैसे अशुभ छूटकर शुभोपयोग हो है, तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। जो ऐसैं ही कार्य कारणपना हो तौ शुभोपयोग-का कारण अशुभोपयोग ठहरै। (तो ऐसा नहीं है) द्रव्यलिंगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है, शुद्धोपयोग होता ही नाहीं तातैं **परमार्थ तैं इनकै कारण-कार्यपना है नाहीं।** जैसे अल्परोग निरोग होनेका कारण नहीं, और भला नहीं **तैसे शुभोपयोग भी रोग समान है भला नहीं है।** (मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३७५ से ७७)

सभी सम्यग्दृष्टिओंको ऐसा श्रद्धान होता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वे व्यवहारधर्मको मिथ्यात्व समझते हों; और ऐसा भी नहीं है कि उसे सच्चा मोक्षमार्ग समझते हों।

१९—प्रश्नः—शास्त्रमें प्रथम तीन गुणस्थानोंमें अशुभोपयोग और ४-५-६ गुणस्थानमें अकेला शुभोपयोग कहा है वह तारतम्यताकी अपेक्षसे है या–मुख्यताकी अपेक्षासे है ?

उत्तरः—वह कथन तारतम्यता अपेक्षा नहीं है परन्तु मुख्यताकी अपेक्षासे कहा है (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ४०१ देखो) इस सम्बन्धमें विस्तारसे देखना हो तो प्रवचनसार (रायचन्द्र ग्रन्थमाला) अध्याय ३ गाथा ४८ श्री जयसेनाचार्यकी टीका पृष्ठ ३४२में देखो।

२०—प्रश्नः—शास्त्रमें कई जगह–शुभ और शुद्ध परिणामसे कर्मोंका क्षय होता है ऐसा कथन है, अब शुभ तो औदयिकभाव है—बन्धका कारण है, ऐसा होने पर भी शुभभावसे कर्मोंका क्षय बतानेका क्या प्रयोजन है ?

उत्तरः—(१) शुभ परिणाम–रागभाव–(मलिनभाव) होनेसे वे किसी भी जीवके हों–सम्यक्दृष्टिके हों या मिथ्यादृष्टिके हों किन्तु वे मोहयुक्त उदयभाव होनेसे सम्यग्दृष्टिका

शुभभाव भी बन्धका ही कारण है, संवर–निर्जराका कारण नहीं है और यह बात सत्य ही है, जिसे इस शास्त्रमें पृष्ठ ४५७ से ४६२ में अनेक शास्त्रके प्रमाण द्वारा दिखाया है।

(२)—शास्त्रके कोई भी कथनका अर्थ करना हो तो प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि **वह किस नयका कथन है?** ऐसा विचार करने पर--सम्यग्दृष्टिके शुभभावोंसे कर्मोंका क्षय होता है—वह कथन **व्यवहारनयका है,** इसलिये उसका ऐसा अर्थ होता है कि **वह ऐसा नहीं है परन्तु निमित्त बतानेकी अपेक्षासे यह उपचार किया है** अर्थात् वास्तवमें वह शुभ तो कर्म--बन्धका ही कारण है परन्तु सम्यग्दृष्टिके नीचेकी भूमिकामें--४ से १० गुणस्थान तक—शुद्ध परिणामके साथ वह भूमिकाके योग्य शुभभाव निमित्तरूप होते हैं, उसका ज्ञान कराना इस उपचारका प्रयोजन है ऐसा समझना।

(३) एक ही साथ शुभ और शुद्ध परिणामसे कर्मोंका क्षय जहाँ पर कहा हो **वहाँ उपादान और निमित्त दोनों उस उस गुणस्थानके समय होते हैं** और इसप्रकारके ही होते हैं- विरुद्ध **नहीं,** ऐसा बताकर उसमें जीवके **शुद्धभाव तो उपादान कारण हैं और शुभ भाव निमित्त कारण है** ऐसे इन दो कारणों **का ज्ञान कराया है, उसमें निमित्त कारण अभूतार्थ कारण है**—वास्तवमें कारण नहीं है इसलिये शुभ परिणामसे कर्मोंका क्षय कहना उपचार कथन है ऐसा समझना।

(४) प्रवचनसार (पाटनी ग्रन्थमाला) गाथा २४५ की टीका पृष्ठ ३०१ में ज्ञानीके शुभोपयोगरूप व्यवहारको "आस्रव ही" कहा है, अतः उनसे संवर लेशमात्र भी नहीं है।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १६८ में भी कहा है कि "उससे आस्रवका निरोध नहीं हो सकता," तथा गाथा १६६ में भी कहा है कि "व्यवहारमोक्षमार्ग वह सूक्ष्म परसमय है और वह बन्धका हेतु होनेसे उसका मोक्षमार्गपना निरस्त किया गया है। गाथा १५७ तथा उसकी टीकामें शुभाशुभ परचारित्र है, बन्धमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है।"

(५) इस सम्बन्धमें खास लक्ष्यमें रखने योग्य बात यह है कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय शास्त्रकी गाथा १११ का अर्थ बहुत समयसे कितेक द्वारा असंगत करनेमें आ रहा है, उसकी स्पष्टताके लिये देखो, इस शास्त्रके पृ० नं० ४६१।

उपरोक्त सब कथनका अभिप्राय समझकर ऐसी श्रद्धा करना चाहिये कि—धर्मी जीव प्रथमसे ही शुभरागका भी निषेध करते हैं। अतः धर्म–परिणत जीवका शुभोपयोग भी हेय है, त्याज्य है, निषेध्य है, कारण कि वह बन्धका ही कारण है। जो प्रथमसे ही ऐसी श्रद्धा नहीं करता उसे आस्रव और बन्ध-तत्त्वकी सत्यश्रद्धा नहीं हो सकती, और ऐसे जीव

रही है परन्तु श्री प्रवचनसार गाथा १३ से ५४ तक टीका सहित उनका स्पष्ट समाधान किया है, उनमें गाथा ४८ में कहा है कि "जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थोंको नहीं जानता, उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है," बादमें विस्तारसे टीका करके अन्तमें कहा है कि "इसप्रकार फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको (आत्माको) नहीं जानता।" प्रवचनसार गाथा ४६ (पाटनी ग्रन्थमाला) में भी बहुत स्पष्ट कहा है, गाथा पर टीकाके साथ जो कलश दिया है वह खास सूक्ष्मतासे पढ़ने योग्य है।

शुद्धोपयोगका फल केवलज्ञान है इसलिये केवलज्ञान प्रगट करनेके लिये शुद्धोपयोग अधिकार शुरु करते आचार्यदेवने प्रवचनसार गाथा १३ की भूमिकामें कहा है कि "इसप्रकार यह (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव) **समस्त शुभाशुभोपयोगवृत्तिको अपास्त कर,** (हेय मानकर, **तिरस्कार करके, दूर करके**) शुद्धोपयोगवृत्तिको आत्मसात् (अपनेरूप) करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं। उसमें (पहले) शुद्धोपयोगके फलकी आत्माके प्रोत्साहनके लिये प्रशंसा करते हैं" कारण कि शुद्धोपयोगका ही फल केवलज्ञान है।

उस केवलज्ञानके सम्बन्धमें विस्तारसे स्पष्ट आधार द्वारा समझनेके लिये देखो इस शास्त्रके पृष्ठ संख्या १६६ से १७७ तक।

(२) प्रवचनसार गाथा ४७ की टीकामें सर्वज्ञके ज्ञानस्वभावका वर्णन करते-करते कहा है कि "अतिविस्तारसे बस हो, जिसका अनिवारित फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिकज्ञान अवश्यमेव सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वको जानता है" इससे ही सिद्ध होते हैं कि सर्वज्ञेयोंका सम्पूर्ण स्वरूप-प्रत्येक समयमें केवलज्ञानके प्रति सुनिश्चित होनेसे अनादि अनन्त क्रमबद्ध-क्रमवर्ति पर्यायें केवलज्ञानीके ज्ञानमें स्पष्ट प्रतिभासित हैं और वे सुनिश्चित होनेसे सब द्रव्योंकी सब पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, उलटी-सीधी, अगम्य वा अनिश्चित होती ही नहीं।

(३) पर्यायको क्रमवर्ती भी कहनेमें आता है, उसका अर्थ श्री पंचास्तिकायकी गाथा १८ की टीकामें ऐसा किया है कि—"**क्योंकि वे (पर्यायें) क्रमवर्ती होनेसे उनका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है।**" बादमें गाथा २१ की टीकामें कहा है कि "जब जीव द्रव्यको गौणतासे तथा पर्यायकी मुख्यतासे विवक्षित होता है तब वह (१) उपजता है, (२) विनष्ट होता है, (३) जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (-विद्यमान) पर्याय समूहको विनष्ट करता है और (४) जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है (-आ पहुँचा है) ऐसे असत्को (अविद्यमान पर्याय समूहको) उत्पन्न करता है।

(४) पंचाध्यायी भाग १ गाथा १६७–६८ में कहा है कि " 'क्रम' धातु है जो पाद-विक्षेप अर्थमें प्रसिद्ध है" गमनमें पैर दायां–बायां क्रमसर ही चलते हैं उलटे क्रमसे नहीं चलते। इसप्रकार द्रव्योंकी पर्याय भी क्रमबद्ध होती है, जो अपने–अपने अवसरमें प्रगट होती है, उसमें कोई समय पहिले की पीछे और पीछेवाली पहिले ऐसे उलटी–सीधी नहीं होती अतः प्रत्येक पर्याय अपने स्व–समयमें ही क्रमानुसार प्रगट होती रहती है।

(५) पर्यायको क्रमभावी भी कहनेमें आता है, श्री प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायशास्त्रमें (३ परोक्ष परिशिष्ट सूत्र ३ गाथा १७–१८की टीकामें) कहा है कि 'पूर्वोत्तर चारिणोः कृतिकाशकटोदयादिस्वरूपयोः कार्यकारणयोः श्चाग्नि धुमादिस्वरूपयोः इति। वे नक्षत्रोंका दृष्टान्तसे भी सिद्ध होता है कि जैसे नक्षत्रोंके गमनका क्रमभावीपना कभी भी निश्चित क्रमको छोड़कर उलटा नहीं होता वैसे ही, द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायोंका उत्पाद–व्ययरूप प्रवाहका क्रम अपने निश्चित क्रमको छोड़कर कभी भी उलटा–सीधा नहीं होता परन्तु स्व-समयमें उत्पाद होता रहता है।

(६) केवली–सर्वज्ञका ज्ञानके प्रति सर्वज्ञेयों–सर्वद्रव्योंकी त्रिकालवर्ती सर्व पर्यायें ज्ञेयपनासे निश्चित ही हैं और क्रमबद्ध हैं उसकी सिद्धि करनेके लिये प्रवचनसार गाथा ९९ की टीकामें बहुत स्पष्ट कथन है विशेष देखो, पाटनी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार गाथा–

गाथा	१०	पृष्ठ	१२	टीका और	भावार्थ
"	२३	"	२७–२९	"	"
"	३७	"	४४	"	"
"	३८	"	४५	"	"
"	३९	"	४६	"	"
"	४१	"	४८	"	"
"	४८–४९	"	५५ से ५८	"	"
"	५१	"	५९	"	"
"	९९	"	१२४–२६	"	"
"	११३	"	१४७–४८	"	"
"	२००	"	२४३	"	"

(७) श्री [illegible] टीकामें कलशोंकी श्री राजमलजी कृत टीका ([illegible]) में पृष्ठ १० कहा है कि ताको ब्योरो– "यह जीव इतना काल [illegible] इसी न्योंधु (नोंध) [illegible] माहे छै।"

(८) अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी भी भविष्यकी पर्यायोंको निश्चितरूपसे स्पष्ट जानते ही हैं, और नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र तथा ताराओंकी गति, उदय-अस्त, ग्रहणकाल आदिको निश्चितरूपसे अल्पज्ञ जीव भी जान सकते हैं तो सर्वज्ञ वीतराग पूर्णज्ञानी होनेसे सर्वद्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको निश्चितरूपसे (उसके क्रममें नियत) कैसे नहीं जान सकता ? —अवश्य जानता ही है ।

(९) इस कथनका प्रयोजन—स्वतंत्र वस्तुस्वरूपका ज्ञान द्वारा केवलज्ञानस्वभावी अपनी आत्माका जो पूर्णस्वरूप है उसका निश्चय करके, सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थोंका वास्तविक श्रद्धान कराना और मिथ्या श्रद्धा छुड़ाना चाहिये । क्रमवद्धके सच्चे श्रद्धानमें कर्तापनेका और पर्यायका आश्रयसे छूटकर अपना त्रैकालिक ज्ञातास्वभावकी दृष्टि और आश्रय होता है, उसमें स्वसन्मुख ज्ञातापनेका सच्चा पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म उन पाँचोंका समूह एक ही साथ होता है, यह नियम है । ऐसा अनेकान्त वस्तुका स्वभाव है ऐसा श्रद्धान करना, कारण कि उसकी श्रद्धा किये विना सच्ची मध्यस्थता आ सकती नहीं ।

२३—तत्त्वज्ञानी स्व० श्री पं० वनारसीदासजीने 'परमार्थ वचनिकामें ज्ञानी-अज्ञानीका भेद समझनेके लिये कहा है कि:—

(१) **अब मूढ़ तथा ज्ञानी जीवकी विशेषणी और भी सुनो**,—ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधि जानै, मूढ़ मोक्षमार्ग न साधि जानै, काहे—यातें सुनो—मूढ़ जीव **आगमपद्धतिको*** व्यवहार कहै; अध्यात्मपद्धतिको निश्चय कहै तातें आगम अङ्ग एकान्तपनो साधिकैं मोक्षमार्ग दिखावैं, **अध्यात्मअङ्गको** ÷ व्यवहारसे (भी) न जानै, यह मूढ़दृष्टिको स्वभाव वाही याही भाँति सूझै काहेतें ?—यातें जू-आगम अंग वाह्य-क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, ताको स्वरूप साधिवो सुगम । ता (वे) वाह्यक्रिया करतौ संतौ आपकूं मूढ़ जीव मोक्षको अधिकारी मानै, (परन्तु) अन्तरगर्भित अध्यात्मरूप क्रिया सौ अन्तरदृष्टि ग्राह्य है सो क्रिया मूढ़ जीव न जानै । अन्तरदृष्टिके अभावसौं अन्तरक्रिया दृष्टिगोचर आवे नाहीं, तातें मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधिवेको असमर्थ है ।

---

* आगम पद्धति—दो प्रकारसे है—(१) भावरूप पुद्‌गलाकार आत्माकी अशुद्धि परिणतिरूप—अर्थात् दया, दान, पूजा, अनुकम्पा, अव्रत तथा अणुव्रत-महाव्रत, मुनिके २८ मूलगुणोंका पालनादि शुभभावोंरूप जीवके मलिन परिणाम । (२) द्रव्यरूप पुद्‌गलपरिणाम ।

÷ अन्तर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धतिको साधना सो अध्यात्म-अङ्गका व्यवहार है ।

(२) अथ सम्यक् दृष्टिको विचार सुनो--

सम्यग्दृष्टि कहा (कौन) सो सुनो--संशय, विमोह, विभ्रम ए तीन भाव जामें नाहीं सो सम्यग्दृष्टि। संशय, विमोह, विभ्रम कहा-ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखावतु है सो सुनो-जैसें च्यार पुरुष काहु एकास्थान विषै ठाढ़े। तिन्ह चारि हू के आगे एक सीपको खण्ड किन्ही और पुरुषनै आनि दिखायो। प्रत्येक तें प्रश्न कीनो कि यह कहा है? सीप है कै रूपौ है, प्रथम ही एक पुरुष संशैवालो बोल्यो-कछु सुध नाहीं परत, किधौं सीप है किधौं रूपौ है मोरी दिष्टिविषै याकौ निरधार होत नाहि नैं। भी दूजो पुरुष विमोहवालो बोल्यो कि कछू मोहि यह सुधि नाहीं कि तुम सीप कौनसौं कहतु है रूपो कौनसौं कहतु है मेरी दृष्टिविषै कछु आवतु नाहीं तातै हम नांहिनै जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहे बोलै नाहीं गहलरूप सौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रमवालो बोल्यो कि--यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान रूपौ है याको सीप कौन कहै मेरी दृष्टिविषै तो रूपौ सूझतु है तातै सर्वथा प्रकार यह रूपो है सो तीनौं पुरुष तौ वा सीपको स्वरूप जान्यौ नाहीं। तात तीनों मिथ्यावादी। अब चौथौ पुरुष बोल्यो कि यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान सीपको खण्ड है यामें कहा धोखो, सीप सीप सीप, निरधार सीप, याको जु कोई और वस्तु कहै सौ प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रामक अथवा अंध, तैसं सम्यग्दृष्टिकौ स्वपरस्वरूपविषै न संसे है, न विमोह, न विभ्रम, यथार्थदृष्टि है तातै सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरदृष्टि करि मोक्षपद्धति साधि जानै। **बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप*** **मानै; सो निमित्त नानारूप है, एकरूप नाहीं, अन्तरदृष्टिके प्रमान मोक्षमार्ग साधै** सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरनकी कनिका जागै मोक्षमार्ग साँचौ। **मोक्षमार्ग कौ साधिवौ। यहै व्यवहार,**

---

* व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला होनेसे जितने अलग-अलग, एक-एक, भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा वह विचित्र अनेक वर्णमालाके समान होनेसे, जाननेमें आता हुआ उसकाल प्रयोजनवान है, परन्तु उपादेयरूपसे प्रयोजनवान नहीं है, ऐसी समझ पूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव अपने चारित्रगुणकी पर्यायमें आंशिक शुद्धताके साथ जो शुभअंश है उसे बाह्यभाव और बाह्य निमित्तरूपसे जानते है। शास्त्रमें कहीं पर उस शुभको शुद्ध पर्यायका व्यवहारनयसे साधक कहा हो तो उसका अर्थ यह बाह्य निमित्तमात्र है-हेय है ऐसा मानता है, अतः वह आश्रय करनेयोग्य या हितकर न मानकर बाधक ही है ऐसा मानता है।

÷ पाटनी ग्रन्थमाला श्री प्रवचनसार गाथा ९४ में "अविचलित चेतनामात्र आत्मव्यवहार है" ऐसा टीकामें पृष्ठ १११-१२ में कहा है, उसे यहां 'मोक्षमार्ग साधिवो उसे व्यवहार ऐसा निरूपण किया।

शुद्धद्रव्य+अक्रियारूप सो निश्चै। ऐसैं व्यवहार की स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानै, मूढ़जीव न जानै न मानै। मूढ़ जीव बन्ध पद्धतिको साधिकरि मोक्ष कहै, सो बात ज्ञाता मानै नाहीं। काहेतैं, यातैं जु बन्धके साधते बन्ध सधै, मोक्ष सधै नाहीं। ज्ञाता कदाचित् बन्ध-पद्धति विचारै तव जानै कि या पद्धतिसौं* मेरो द्रव्य अनादिको बन्धरूप चाल्यो आयो है— अब या पद्धतिसों÷ मोह तोरिवो है या पद्धतिको राग पूर्वकी ज्यों हे नर काहे करौ ?।

छिनमात्र भी बन्ध पद्धतिविषै मगन होय नाहीं सो ज्ञाता अपनो स्वरूप विचारै, अनुभवै, ध्यावै, गावै, श्रवन करै, नवधा-भक्ति, तप क्रिया अपने शुद्धस्वरूपके सन्मुख होइकरि करै। यह ज्ञाताको आचार, याहीको नाम मिश्रव्यवहार।

(४) अब हेय ज्ञेय उपादेयरूप ज्ञाताकी चाल ताको विचार लिख्यते :—

हेय—त्यागरूप तौ अपने द्रव्यकी अशुद्धता, ज्ञेय—विचाररूप अन्य षट्द्रव्यको स्वरूप, उपादेय—आचरनरूप अपने द्रव्यकी शुद्धता, ताकी व्योरौ—गुणस्थानक प्रमान हेय ज्ञेय उपादेय-रूप शक्ति ज्ञाताकी होय। ज्यों ज्यों ज्ञाताकी हेय ज्ञेय उपादेयरूप वर्धमान होय त्यों-त्यों गुणस्थानकी वढ़वारी कही है, गुणस्थानक प्रवान ज्ञान, गुणस्थानक प्रवान क्रिया। तामैं विशेष इतनौ जु एक गुणस्थानक वर्ती अनेक जीव होंहि तौ अनेक रूपको ज्ञान कहिए, अनेकरूपकी क्रिया कहिए। भिन्न-भिन्न सत्ताके प्रवान करि एकता मिलै नाहीं। एक-एक जीव द्रव्य विषैं अन्य अन्यरूप औदयिक भाव होंहि तिन औदयिकभाव अनुसारी ज्ञानकी अन्य अन्यता जाननी। परन्तु विशेष इतनो जु कोऊ जातिको ज्ञान ऐसो न होइ जु परसत्तावलम्बनशीली होइकरि मोक्षमार्ग साक्षात् कहे काहे तैं अवस्था प्रवान (कारण कि अवस्थाके प्रमानमें) परसत्तावल-म्बक है। ने ज्ञानको परसत्तावलम्बी परमार्थता न कहे, जो ज्ञान हो सो स्वसत्तावलम्बन-

---

+ त्रैकालिक एकरूप रहनेवाला जो आत्माका ध्रुव ज्ञायकभाव है वह भूतार्थ निश्चयनयका विषय होनेसे उसे **'शुद्धद्रव्य अक्रियारूप'** कहा गया है; उसे परमपारिणामिक भाव भी कहनेमें आता है और वह नित्य सामान्य द्रव्यरूप होनेसे निष्क्रिय है तथा क्रिया पर्याय है इससे व्यवहारनयका विषय है।

* यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवको उनकी भूमिका के अनुसार होनेवाले शुभभावको भी बन्धपद्धति कही है। बन्धमार्ग—बन्धका कारण—बन्धका उपाय और बन्धपद्धति एकार्थ हैं।

÷ सम्यग्दृष्टि शुभभावको बन्धपद्धतिमें गिनते हैं इसलिये उनसे लाभ या किंचित् हित मानते नहीं, और उनका अभाव करनेका पुरुषार्थ करते हैं; इसलिये 'यह बन्धपद्धतिका मोह तोड़कर स्वसन्मुख प्रवर्तनका उद्यम करते हुए शुद्धतामें वृद्धि करनेकी सीख अपनेको दे रहे हैं।

शोली होय ताके नाऊ ज्ञान। ता ज्ञान (उस ज्ञान) कौ सहकारभूत, निमित्तरूप नाना प्रकार औदयिकभाव होंहि तीन्ह औदयिकभावोंको ज्ञाता तमाशगीर, न कर्ता न भोक्ता, न आचरनी तातैं कोऊ यों कहै कि या भांतिके औदयिकभाव होंहि सर्वथा, सो फलानों गुणस्थान कहिए सो झूठो। तिनि द्रव्यको स्वरूप सर्वथा प्रकार जान्यो नाही। काहेतैं-यातैं जु और गुण-स्थानकनकी कौन वात चलावै, केवलिके भी औदयिक भावनिकी नानाप्रकारता (अनेक प्रकारता) जाननी। केवलीके भी औदयिकभाव एकसे होय नाहीं। काहू केवलिकों दंड कपाटरूप क्रिया उदय होय, काहू केवलिकों नाहीं। जो केवलिविषैं भी उदयकी नानाप्रकारता है तो और गुणस्थानककी कौन वात चलावै। तातैं औदयिक* भावके भरोसे ज्ञान नाहीं, ज्ञान स्वशक्ति प्रवान है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानकी शक्ति, ज्ञायक प्रमान ज्ञान, स्वरूपाचरनरूप चारित्र, यथानुभव प्रमान यह ज्ञाताको सामर्थ्यपनो।

इन वातनको व्यौरो कहांताई लिखिये, कहांताई कहिए। वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत, तातैं यह विचार वहुत कहा लिखहिं। जो ज्ञाता होइगो सो थोरी ही लिख्यो वहुत करि समुझैगो, जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगो नहीं। यह —वचनिका यथाका यथा सुमति प्रवान केवलिवचनानुसारी है। जो याहि सुणैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण। इति परमार्थ वचनिका।

२४—समाजमें आत्मज्ञानके विषयमें अपूर्व जिज्ञासा और जागृति

(१) जिसे सत्यकी ओर रुचि होने लगी है, जो सत्यतत्त्वको समझने और निर्णय करनेके इच्छुक हैं वह समाज, मध्यस्थतासे शास्त्रोंकी स्वाध्याय और चर्चा करके नयार्थ, अनेकान्त, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार दो नयोंकी सच्ची व्याख्या और प्रयोजन तथा मोक्षमार्गका दो प्रकारसे निरूपण हेय-उपादेय और प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायोंकी भी स्वतन्त्रता केवलज्ञान और क्रमवद्ध पर्याय आदि प्रयोजनभूत विषयोंमें उत्साहसे अभ्यास कर रहे हैं और तत्त्वनिर्णयके विषयमें समाजमें विशेष विचारोंका प्रवाह चल रहा है ऐसा नीचेके आधारसे भी सिद्ध होता है—

(२) श्री भारत० दि० जैन संघ (मथुरा) द्वारा ई० सन् १९४४ में प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक (पं० टोडरमलजी कृत) की प्रस्तावना पृष्ठ ९ में शास्त्रीजीने कहा है कि "अव तक शास्त्रस्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओंमें एकान्त निश्चयी और एकान्तव्यवहारी-

* यहां सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोगको औदयिकभाव कहा है और उस औदयिक भावसे संवर-निर्जरा नहीं परन्तु वन्ध होता है।

को ही मिथ्यादृष्टि कहते सुनते आए हैं। परन्तु दोनों नयोंका अवलम्बन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं। यह आपकी (स्व० श्री टोडरमलजीकी) नई और विशेष चर्चा है। ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके सूक्ष्मभावोंका विश्लेषण करते हुए आपने कई अपूर्व बातें लिखी हैं उदाहरणके लिए आपने इस बातका खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकारका है। वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय-व्यवहारालम्बो मिथ्यादृष्टियोंकी है, वास्तवमें पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चय सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि भेदोंकी रात-दिन चर्चा करते रहते हैं उनके मंतव्यसे पण्डितजीका मंतव्य कितना भिन्न है ?। इसीप्रकार आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि "निश्चय-व्यवहार दोनोंका उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि दोनों नयोंका स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, इसलिये दोनों नयोंका उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार किन्तु दोनों ही उपादेय हैं, किन्तु पंडितजीने इसे मिथ्यादृष्टियोंकी प्रवृत्ति बतलाई है।"

आगे पृष्ठ ३०में उद्धरण दिया है कि 'जो ऐसा मानता है कि निश्चयका श्रद्धान करना चाहिये और प्रवृत्ति व्यवहारकी करना चाहिये' उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही बतलाते हैं।

२५—इस शास्त्रकी इस टीकाके आधारभूत शास्त्र

इस टीकाका संग्रह-मुख्यतया श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक, श्री अर्थप्रकाशिका, श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार श्री धवला-जयधवला-महाबन्ध तथा श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक इत्यादि अनेक सत् शास्त्रोंके आधार पर किया गया है, जिसकी सूची भी इस ग्रन्थमें शुरूमें दी गई है।

२६—अध्यात्मयोगी सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीकी कृपाका फल

मोक्षमार्गका सत्य पुरुषार्थ दर्शानेवाले, परमसत्य जैनधर्मके मर्मके पारगामी और अद्वितीय उपदेशक, आत्मज्ञ, सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीसे मैंने इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि पढ़ लेनेकी प्रार्थना की और उन्होंने उसे स्वीकारनेकी कृपा की। फलस्वरूप उनकी सूचनानुसार सुधार करके मुद्रणके लिये भेजा गया। इसप्रकार यह ग्रन्थ उनकी कृपाका फल है—ऐसा कहने की आज्ञा लेता हूं। इस कृपाके लिये उनका जितना उपकार व्यक्त करें उतना कम ही है।

२७—मुमुक्षु पाठकोंसे.......

मुमुक्षुओंको इस ग्रन्थका सूक्ष्म दृष्टिसे और मध्यस्थरूपसे अध्ययन करना चाहिए। सत् शास्त्रका धर्मबुद्धि द्वारा अभ्यास करना सम्यग्दर्शनका कारण है। तदुपरान्त, शास्त्राभ्यासमें निम्न बातें मुख्यतया ध्यानमें रखना चाहिए—

(१) सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है।

(२) निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीवको सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि क्रियाएँ नहीं होती क्योंकि वे क्रियाएँ पाँचवें गुणस्थानमें शुभभावरूपसे होती हैं।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको होता है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि उससे धर्म होगा, अथवा वह शुभभावरूप व्यवहार करते-करते भविष्यमें धर्म होगा; किन्तु ज्ञानियोंको वह हेयबुद्धि होनेसे, उससे (शुभभावसे धर्म होगा) ऐसा वे कभी नहीं मानते।

(४) पूर्ण वीतरागदशा प्रगट न हो वहाँ तक पद अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते, किन्तु उस भावको धर्म नहीं मानना चाहिए और न ऐसा मानना चाहिये कि उससे क्रमशः धर्म होगा; क्योंकि वह विकार होनेसे अनन्त वीतराग देवोंने उसे बन्धनका ही कारण कहा है।

(५) प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायसे स्वतन्त्र है; एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ कर नहीं सकती; परिणमित नहीं कर सकती, प्रेरणा नहीं दे सकती, प्रभाव-असर-मदद या उपकार नहीं कर सकती; लाभ-हानि नहीं कर सकती, मार-जिला नहीं सकती, सुख-दुःख नहीं दे सकती-ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी स्वतन्त्रता अनन्त ज्ञानियोंने पुकार-पुकार कर कही है।

(६) जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि पहले निश्चयसम्यक्त्व होता है और फिर व्रत; और निश्चयसम्यक्त्व तो विपरीत अभिप्राय रहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान है, इसलिये ऐसा यथार्थ श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

(७) प्रथम गुणस्थानमें जिज्ञासु जीवोंको ज्ञानी पुरुषोंके धर्मोपदेशका श्रवण, उनका निरन्तर समागम, सत्शास्त्रका अभ्यास, पठन-मनन, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दानादि शुभभाव होते हैं, किन्तु पहले गुणस्थानमें सच्चे व्रत-तपादि नहीं होते।

२८—अन्तमें........

मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद करनेका कार्य कठिन, परिश्रमसाध्य था, उसको पूरा करनेवाले श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवादके पात्र हैं।

इस शास्त्रकी प्रथमावृत्ति तथा दूसरी आवृत्ति तैयार करनेमें अक्षरशः मिलान करके जांचनेके कार्यमें तथा शास्त्रानुसार स्पष्टता करनेके कार्यमें प्रेमपूर्वक अपना समय देकर बहुत श्रम दिया है, इस सहायके लिये श्री ब्र० गुलाबचन्दभाईको आभार सहित धन्यवाद है।

हिन्दी समाजको इस गुजराती-मोक्षशास्त्र टीकाका लाभ प्राप्त हो इसलिये इसका हिन्दी अनुवाद करनेके लिये तथा दूसरी आवृत्तिके लिये श्री नेमिचन्दजी पाटनीने पुनः पुनः प्रेरणा की थी, और कमल प्रिन्टिंग प्रेसमें यह शास्त्र सुन्दर रीतिसे छपाने की व्यवस्था करनेके लिये श्री नेमिचन्दजी पाटनी (प्रधान-मन्त्री श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ-राजस्थान) को धन्यवाद है।

इस ग्रन्थका प्रूफरीडिंग, शुद्धिपत्र, विस्तृत विषय-सूची, शब्द-सूची आदि तैयार करनेका कार्य सावधानीसे श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल (-मदनगंज) ने तथा ब्र० गुलाबचन्दजीने किया है, अतः उन्हें भी धन्यवाद है।

अक्षय तृतीया
वीर नि० सम्वत् २४८९

रामजी माणेकचन्द दोशी,
—प्रमुख—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

श्री मोक्षशास्त्र टीकाकी विषय-सूची

सूत्र नम्बर	विषय	पृष्ठ संख्या

सूत्र नम्बर	विषय	पृष्ठ संख्या
	सम्यग्दर्शन सभी सम्यग्दृष्टियोंके एक समान	१०४
	सम्यग्ज्ञान सभी सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वकी अपेक्षासे समान है	१०४
	अवस्थामें विकासका क्रम बढ़ होना वगैरह अपेक्षासे समान नहीं है	१०४
	सम्यक्चारित्रमें भी अनेकान्त	१०४
	दर्शन (श्रद्धा) ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणोंकी अभेददृष्टिसे निश्चय-सम्यग्दर्शनकी व्याख्या	१०५
	निश्चयसम्यग्दर्शनका चारित्रके भेदोंकी अपेक्षासे कथन	१०५
	निश्चयसम्यग्दर्शनके बारेमें प्रश्नोत्तर	१०५
	व्यवहारसम्यग्दर्शनकी व्याख्या	१०६
	व्यवहाराभास सम्यग्दर्शनको कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं।	१०७
	सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका उपाय	१०७
	निर्विकल्प अनुभवका प्रारम्भ	१०९
	सम्यग्दर्शन पर्याय है तो भी उसे गुण कैसे कहते हैं	१०९
	सभी सम्यग्दृष्टियोंका सम्यग्दर्शन समान है	११०
	सम्यग्दर्शनके भेद क्यों कहे गये हैं ?	११०
	सम्यग्दर्शनकी निर्मलता	१११
	सम्यक्त्वकी निर्मलतामें पांच भेद किस अपेक्षासे	११२
	सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सम्यक्त्व प्रगट होनेकी बात श्रुतज्ञान द्वारा बराबर जानते हैं।	११२
	सम्यग्दर्शन सम्बन्धी कुछ प्रश्नोत्तर	११७
	ज्ञान-चेतनाके विधानमें अन्तर क्यों है ?	११९
	ज्ञान-चेतनाके सम्बन्धमें विचारणीय नव विषय	१२०
	अक्रमिकविकास और क्रमिकविकासका दृष्टान्त	१२१
	इस विषयके प्रश्नोत्तर और विस्तार	१२३
	सम्यग्दर्शन और ज्ञान-चेतनामें अन्तर	१२८
	चारित्र न पले फिर भी उसकी श्रद्धा करनी चाहिए	१२९
	निश्चयसम्यग्दर्शनका दूसरा अर्थ	१२९

प्रथम अध्यायका परिशिष्ट—२

	निश्चयसम्यग्दर्शन—	१३१

सूत्र नम्बर	विषय	पृष्ठ संख्या

अध्याय तीसरा

अध्याय चौथा

उपसंहार

अध्याय छठवां

अध्याय सातवाँ

अध्याय आठवाँ

अध्याय नववां

इस शास्त्रकी टीकामें लिये गये आधारभूत शास्त्र

१ सर्वार्थसिद्धि टीका
२ राजवार्तिक
३ श्लोकवार्तिक
४ अर्थप्रकाशिका
५ सर्वार्थसिद्धि प्रश्नोत्तर
६ मोक्षशास्त्र (पन्नालालजी साहित्याचार्य टीका)
७ तत्त्वार्थ सूत्र (इङ्गलिश)
८ तत्त्वार्थसार
९ समयसार
१० प्रवचनसार
११ पंचास्तिकाय
१२ नियमसार
१३ परमात्मप्रकाश
१४ अष्टपाहुड
१५ बारस अणुवेक्खा
१६ समयसार प्रवचन भाग (१–२–३)
१७ नियमसार प्रवचन (भाग १)
१८ समयसार नाटक
१९ समयसार (कलश टीका) राजमलजीकृत
२० पंचाध्यायी
२१ धवला टीका
२२ जयधवला टीका
२३ तिलोयपण्णत्ति
२४ गोम्मटसार
२५ महाबन्ध
२६ श्रीमद् राजचन्द्र
२७ आत्मसिद्धिशास्त्र
२८ वृहद् द्रव्य-संग्रह
२९ द्रव्य-संग्रह
३० पुरुषार्थसिद्धयुपाय
३१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा
३२ मोक्षमार्ग प्रकाशक
३३ समयसार जयसेनाचार्य टीका
३४ पद्मनन्दी पंचविंशतिका
३५ रत्नकरण्ड श्रावकाचार
३६ भगवती आराधना
३७ योगसार (योगीन्द्रदेवकृत)
३८ चर्चा समाधान (भूधरदासजी)
३९ प्रमेयरत्नमाला
४० न्यायदीपिका
४१ प्रमेयकमलमार्तण्ड
४२ अध्यात्मकमलमार्तण्ड
४३ आलाप पद्धति
४४ भाव-संग्रह
४५ जैनसिद्धान्त प्रवेशिका (बरैयाजी)
४६ आप्तमीमांसा
४७ चारित्रसार
४८ अनुभव-प्रकाश
४९ बनारसी विलास, परमार्थ-वचनिका
५० सत्तास्वरूप
५१ रहस्यपूर्ण चिट्ठी (टोडरमल्ल जी)
५२ छहढाला
५३ जैनसिद्धान्त दर्पण, इत्यादि

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१	माक्षमार्ग को	मोक्षमार्ग को
२३	अंतिम	पम्परा	परम्परा
३१	१७	मूड	मूढ़
३२	१	दृष्टि को	दृष्टिका
३२	१८	साविवो	साधिवो
३७	३	उसक	उसको
३७	८	हन्दी	हिन्दी
५०	१८	मनःपर्य ज्ञान	मनःपर्यय ज्ञान
५२	१७	धम	धर्म
६२	१९	श्रुत प्रमाण का	परार्थ श्रुत प्रमाण का
१६२	१८	क्रमनः	क्रमनः
२३३	अंतिम	सम्मूर्च्छिना	सम्मूर्च्छिनो
२४३	"	जब समें	जब उसमें
२६४	१८	असंख्यात	संख्यात
२७२	अंतिम	गयान	महान
३०८	१४	बत	बताया
"	१५	स	माद
३१५	२३	का	कारण
३४२	१५	५३	३५
३८६	१	कन्तु	किन्तु

मूलभूत भूलके विना दुःख नहीं होता, और उस भूलके दूर होने पर सुख हुए विना नहीं रह सकता,—यह अबाधित सिद्धान्त है। वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझे विना वह भूल दूर नहीं होती; इसलिये इस शास्त्रमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझाया गया है, इसीलिये इसका नाम '**तत्त्वार्थसूत्र**' भी रखा गया है।

(३) यदि जीवको वस्तुके यथार्थ स्वरूप सम्बन्धी मिथ्या मान्यता [Wrong Belief] न हो तो ज्ञानमें भूल न हो। जहाँ मान्यता सच्ची होती है वहाँ ज्ञान सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान-पूर्वक ही यथार्थ प्रवृत्ति होती है। इसलिए आचार्य देवने इस शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए प्रथम अध्यायके पहले ही सूत्रमें यह सिद्धांत वताया है कि सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान-पूर्वक होनेवाली सच्ची प्रवृत्ति द्वारा ही जीव दुःखसे मुक्त हो सकते हैं।

(४) '**स्वयं कौन है**' इस सम्बन्धमें जगतके जीवोंकी भारी भूल चली आ रही है। वहुतसे जीव शरीरको अपना स्वरूप मानते हैं, इसलिए वे शरीरकी रक्षा करनेके लिए निरन्तर अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं। जव कि जीव शरीरको अपना मानता है तव जिसे वह समझता है कि यह शारीरिक सुविधा चेतन या जड़ पदार्थोंकी ओरसे मिलती है उनकी ओर उसे राग होता ही है; और जिसे वह समझता है कि असुविधा चेतन या जड़ पदार्थों की ओर से मिलती हैं उनकी ओर उसे द्वेप भी होता ही है। और इस प्रकारकी धारणासे जीवको आकुलता वनी रहती है।

(५) जीवकी इस **महान् भूलको** शास्त्रमें 'मिथ्यादर्शन' कहा गया है। जहाँ मिथ्या मान्यता होती है वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होता है, इसलिये मिथ्यादर्शनरूपी भूलको महा पाप भी कहा जाता है। मिथ्यादर्शन भारी भूल है और वह सर्व दुःखों की महान् वलवती जड़ है,—जीवोंको ऐसा लक्ष न होनेसे वह लक्ष करानेके लिए और वह भूल दूर करके जीव अविनाशी सुखकी ओर पैर रखें इस हेतुसे आचार्य देवने इस शास्त्रमें सवसे पहला शव्द '**सम्यग्दर्शन**' प्रयुक्त किया है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही उसी समय ज्ञान सच्चा हो जाता है, इसलिये दूसरा शव्द '**सम्यग्ज्ञान**' प्रयुक्त किया गया है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्‌चारित्र होता है इसलिये '**सम्यक्‌चारित्र**' शव्दको तीसरे स्थान पर रखा है। इस प्रकार तीन शव्दोंका प्रयोग करनेसे कहीं लोग यह न मान वैठें कि—'सच्चा सुख प्राप्त करनेके तीन मार्ग हैं' इसलिये प्रथम सूत्रमें ही यह वता दिया है कि "तीनोंकी एकता ही मोक्षमार्ग है"।

(६) यदि जीवको सच्चा सुख चाहिये है तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिये। जगतमें कौन कौनसे पदार्थ हैं, उनका क्या स्वरूप है, उनका कार्यक्षेत्र क्या है, जीव क्या है, वह क्यों दुःखी होता है,—इसकी यथार्थ समझ हो तब ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसलिये आचार्यदेवने दश अध्यायोंमें सात तत्त्वोंके द्वारा वस्तुस्वरूप बतलाया है।

(७) इस—मोक्षशास्त्रके दश अध्यायोंमें निम्नलिखित विषय लिये गये हैं—

१ अध्यायमें—मोक्षका उपाय और जीवके ज्ञानकी अवस्थाओंका वर्णन है।

२ अध्यायमें—जीवके भाव, लक्षण और शरीरके साथ जीवका सम्बन्धका वर्णन किया गया है।

३-४ अध्यायमें—विकारी जीवोंके रहनेके क्षेत्रोंका वर्णन है। इसप्रकार प्रथम चार अध्यायोंमें पहले **जीव तत्त्वका** वर्णन किया गया है।

५ अध्यायमें—दूसरे **अजीव तत्त्वका** वर्णन है।

६-७ अध्यायमें—जीवके नवीन विकारभाव (आस्रव) तथा उनका निमित्त पाकर जीवका सूक्ष्म जड़कर्मके साथ होनेवाला सम्बन्ध बताया है। इसप्रकार तीसरे **आस्रव तत्त्वका** वर्णन किया है।

८ अध्यायमें—यह बताया गया है कि जीवका जड़ कर्मोंके साथ किस प्रकार बन्ध होता है और वह जड़कर्म कितने समय तक जीवके साथ रहते हैं। इसप्रकार इस अध्यायमें चौथे **बन्ध तत्त्वका** वर्णन किया गया है।

९ अध्यायमें—यह बताया गया है कि जीवके अनादिकालसे न होने वाले धर्मका प्रारम्भ संवरसे होता है, जीवकी यह अवस्था होने पर उसे सच्चे सुखका प्रारम्भ होता है, और क्रमशः शुद्धिके बढ़ने पर विकार दूर होता है, उससे निर्जरा अर्थात् जड़कर्मके साथके बन्धका अंशतः अभाव होता है। इस प्रकार नववें अध्यायमें पाचवाँ और छट्ठा अर्थात् **संवर और निर्जरा तत्त्व** बताया गया है।

१० अध्यायमें—जीवकी शुद्धिकी पूर्णता, सर्व दुःखोंसे अविनाशी मुक्ति और सम्पूर्ण पवित्रता—मोक्ष तत्त्व है, इसलिये आचार्य देवने सातवाँ **मोक्ष तत्त्व** दसवें अध्यायमें बतलाया है।

(८) मंगलाचरणमें भगवानको 'कर्मरूपी पर्वतोंको भेदनेवाला' कहा है। कर्म दो प्रकारके हैं:—१-भावकर्म, २-द्रव्यकर्म। जब जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे भावकर्मरूपी पर्वतोंको दूर करता है तब द्रव्यकर्म स्वयं ही अपने आप हट जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं; ऐसा जीवकी शुद्धताका और कर्मक्षयका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है;—यहाँ यही बताया गया है। जीव जड़कर्मको परमार्थतः नष्ट कर सकता है,—यह कहनेका आशय नहीं है।

(९) मंगलाचरणमें नमस्कार करते हुए देवागमन, समवसरण, चामर और दिव्य-शरीरादि पुण्य-विभूतियोंका उल्लेख नहीं किया गया है, जो तीर्थंकर भगवानके पास होती हैं; क्योंकि पुण्य आत्माका गुण (शुद्धता) नहीं है।

(१०) मंगलाचरणमें गुणोंसे पहचान करके भगवानको नमस्कार किया है। अर्थात् भगवान विश्वके (समस्त तत्त्वोंके) ज्ञाता हैं, मोक्षमार्गके नेता हैं, और उन्होंने सर्व विकारों (दोषों) का नाश किया है,—इसप्रकार भगवानके गुणोंका स्वरूप बतलाकर गुणोंको पहचान करके उनकी स्तुति की है। वैसे निश्चयसे अपनी आत्माकी ही स्तुति की है।

प्रथम अध्याय

निश्चय मोक्षमार्गकी व्याख्या

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थः—[**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, तीनों मिलकर [**मोक्षमार्गः**] मोक्षका मार्ग है, अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

टीका

(१) सम्यक्—यह शब्द प्रशंसावाचक है, जो कि यथार्थताको सूचित करता है। विपरीत आदि दोषोंका अभाव 'सम्यक्' है।

दर्शन—का अर्थ है श्रद्धा, 'ऐसा ही है—अन्यथा नहीं' ऐसा प्रतीति-भाव।

सम्यग्ज्ञान—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरहित अपने आत्माका तथा परका यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

संशय—'विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः'; अर्थात् 'ऐसा है कि ऐसा है' इस-

प्रकार परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञानको संशय कहते हैं; जैसे आत्मा अपने कार्यको कर सकता होगा या जड़के कार्यको ? शुभ रागरूप व्यवहार से धर्म होगा या वीतरागतारूप निश्चयसे ?

विपर्यय:—"विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः"; अर्थात् वस्तुस्वरूपसे विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है' इसप्रकारका एकरूपज्ञान विपर्यय है; जैसे शरीरको आत्मा जानना।

अनध्यवसाय:—"किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः"; अर्थात् 'कुछ है' ऐसा निर्धार-रहित विचार अनध्यवसाय है; जैसे मैं कोई कुछ हूं,—ऐसा जानना।

[विशेषः—जीव और आत्मा दोनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।]

सम्यक्चारित्र:—(यहाँ 'सम्यक्' पद अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके लिये प्रयुक्त किया है।) सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मामें स्थिरताका होना सम्यक्चारित्र है।

यह तीनों क्रमशः आत्माके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणोंकी शुद्ध पर्यायें हैं।

मोक्षमार्ग:— यह शब्द एकवचन है, जो यह सूचित करता है कि मोक्षके तीन मार्ग नहीं, किन्तु इन तीनोंका एकत्व मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्गका अर्थ है अपने आत्माकी शुद्धिका मार्ग, पंथ, उपाय। उसे अमृतमार्ग, स्वरूपमार्ग अथवा कल्याणमार्ग भी कहते हैं।

(२) इस सूत्रमें अस्तिसे कथन है, जो यह सूचित करता है कि इससे विरुद्ध भाव जैसे कि राग, पुण्य इत्यादिसे धर्म होता है या वे धर्ममें सहायक होते हैं, इसप्रकारकी मान्यता, ज्ञान और आचरण मोक्षमार्ग नहीं है।

(३) इस सूत्रमें "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि" कहा है, वह निश्चय रत्नत्रय है, व्यवहार रत्नत्रय नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यवहार रत्नत्रय राग होनेसे बंधरूप है।

(४) इस सूत्रमें 'मोक्षमार्ग' शब्द निश्चय मोक्षमार्ग बतानेके लिये कहा है—ऐसा समझना चाहिये।

(५) मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है—

"निजपरमात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होनेसे मोक्षमार्ग है, और वह शुद्ध रत्नत्रयका फल निज शुद्धात्माकी प्राप्ति है।"

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार गाथा २ की टीका)

इस सूत्रमें 'सम्यग्दर्शन' कहा है वह निश्चयसम्यग्दर्शन है—ऐसी बात तीसरे सूत्रके

सिद्ध होती है, उसीमें निसर्गज और अधिगमज ऐसा भेद कहा है—वह निश्चय सम्यग्दर्शनका ही भेद है। और इस सूत्रकी संस्कृत टीका श्री तत्त्वार्थराजवार्तिकमें जिस कारिका तथा व्याख्या द्वारा वर्णन किया है उस आधारसे इस सूत्र में तथा दूसरे सूत्र में कथित जो सम्यग्दर्शन है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा सिद्ध होता है।

तथा इस सूत्रमें जो "ज्ञान" कहा है वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। अ० १-सूत्र ९ में उसीके पाँच भेद कहे हैं, उसीमें मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान भी आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

बादमें इस सूत्रमें 'चारित्राणि' शब्द निश्चयसम्यक्चारित्र दिखानेके लिये कहा है। श्री तत्त्वार्थ रा० वा० में इस सूत्र कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र माना है। क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (-व्यवहार रत्नत्रय) आस्रव और बंधरूप है, इससे इस सूत्रका अर्थ करने में यह तीनों आत्माकी शुद्ध पर्याय एकत्वरूप परिणमित हुई है। इसप्रकार शास्त्रकार ने ही बतलाया है—ऐसा स्पष्ट होता है।

पहले सूत्रका सिद्धान्त

(५) अज्ञानदशामें जीव दुःख भोग रहे हैं, इसका कारण यह है कि उन्हें अपने स्वरूपके सम्बन्धमें भ्रम है, जिसे (जिस भ्रमको) 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है। 'दर्शन'का एक अर्थ मान्यता भी है, इसलिये मिथ्यादर्शनका अर्थ मिथ्या मान्यता है। जहाँ अपने स्वरूपकी मिथ्या मान्यता होती है वहां जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे ज्ञानको 'मिथ्याज्ञान' कहा जाता है। जहाँ स्वरूपकी मिथ्या मान्यता और मिथ्या ज्ञान होता है वहाँ चारित्र भी मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे चारित्रको 'मिथ्याचारित्र' कहा जाता है। अनादिकालसे जीवोंके 'मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र' अपने अपराधसे चले आ रहे हैं; इसलिये जीव अनादिकालसे दुःख भोग रहे हैं।

क्योंकि अपनी यह दशा जीव स्वयं करता है इसलिये वह स्वयं उसे दूर कर सकता है और उसे दूर करनेका उपाय 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' ही है, दूसरा नहीं;—यही यहां कहा है। इससे सिद्ध होता है कि जीव सतत जो अन्य उपाय किया करता है वह सब मिथ्या है। जीव धर्म करना चाहता है, किन्तु उसे सच्चे उपायका पता न होनेसे वह खोटे उपाय किये बिना नहीं रहता; अतः जीवको यह महान् भूल दूर करनेके लिये **पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये**। उसके बिना कभी किसीके धर्मका प्रारम्भ हो ही नहीं सकता।

निश्चय सम्यग्दर्शनका लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थः—[**तत्त्वार्थश्रद्धानं**] तत्त्व (वस्तु) के स्वरूपसहित अर्थ–जीवादि पदार्थोंकी श्रद्धा करना [**सम्यग्दर्शनम्**] सम्यग्दर्शन है ।

टीका

(१) तत्त्वोंकी सच्ची (–निश्चय) श्रद्धाका नाम सम्यग्दर्शन है । 'अर्थ' का अर्थ है द्रव्य–गुण–पर्याय; और 'तत्त्व' का अर्थ है उसका भावस्वरूप । स्वरूप (भाव) सहित प्रयोजनभूत पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

(२) इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनको पहचाननेका लक्षण दिया है । सम्यग्दर्शन लक्ष्य और तत्त्वार्थश्रद्धान उसका लक्षण है ।

(३) किसी जीवको यह प्रतीति तो हो कि—'यह ज्ञातृत्व है, यह श्वेत वर्ण है' इत्यादि, किन्तु ऐसा श्रद्धान न हो कि—दर्शन–ज्ञान आत्माका स्वभाव है और मैं आत्मा हूं तथा वर्णादिक पुद्गलके स्वभाव हैं और पुद्गल मुझसे भिन्न (पृथक्) पदार्थ है, तो उपरोक्त मात्र 'भाव' का श्रद्धान किंचित्मात्र कार्यकारी नहीं है । यह श्रद्धान तो किया कि 'मैं आत्मा हूं' किन्तु आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान नहीं किया, तो 'भाव' के श्रद्धानके बिना आत्माका श्रद्धान यथार्थ नहीं होता; इसलिये 'तत्त्व' और उसके 'अर्थ'का श्रद्धान होना ही कार्यकारी है ।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९, पृष्ठ ३१७–३१८)

(४) **दूसरा अर्थः**—जीवादिको जैसे 'तत्त्व' कहा जाता है वैसे ही 'अर्थ' भी कहा जाता है । जो तत्त्व है वही अर्थ है, और उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । जो पदार्थ जैसा अवस्थित है उसका उसीप्रकार होना सो तत्त्व है, और 'अर्यते' कहने पर निश्चय किया जाय सो अर्थ है । इसलिये तत्त्वस्वरूपका निश्चय तत्त्वार्थ है, और तत्त्वार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९, पृष्ठ ३१८)

(५) विपरीत अभिनिवेश (उल्टे अभिप्राय) से रहित जीवादिका तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है । सम्यग्दर्शनमें विपरीत मान्यता नहीं होती, यह बतानेके लिये

श्रावकको पहले क्या करना चाहिये, सो कहते हैं—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥

(मोक्षपाहुड़ गाथा-८६)

अर्थः—पहले श्रावकको सुनिर्मल, मेरुके समान निष्कंप-अचल (चल, मल और अगाढ़ दूषणसे रहित अत्यंत निश्चल) सम्यक्त्वको ग्रहण करके दुःखोंके क्षयके लिये उसे (सम्यक्त्वके विषयभूत एकरूप आत्माको) ध्यानमें ध्याना चाहिये।

भावार्थः—पहले तो श्रावकको निरतिचार निश्चल सम्यक्त्वको ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिये कि जिस सम्यक्त्वकी भावनासे गृहस्थको गृहकार्य संबंधी आकुलता, क्षोभ, दुःख मिट जाय; कार्यके बिगड़ने-सुधरनेमें वस्तुस्वरूपका विचार आये तब दुःख मिट जाय। सम्यग्दृष्टिके ऐसा विचार होता है कि—सर्वज्ञने जैसा वस्तुस्वरूप जाना है वैसा निरंतर परिणमित होता है, और वैसा ही होता है; उसमें इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दुःखी होना व्यर्थ है। ऐसे विचारसे दुःख मिटता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। इसलिए सम्यक्त्वका ध्यान करनेको कहा है।

अब, सम्यक्त्वके ध्यानकी महिमा कहते हैं:—

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥

(मोक्षपाहुड़ गाथा-८७)

अर्थः—जो सम्यक्त्वको ध्याता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है, और सम्यक्त्वरूप परिणत जीव आठों दुष्ट कर्मोंका क्षय करता है।

भावार्थः—सम्यक्त्वका ध्यान ऐसा है कि यदि पहले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी, उसके स्वरूपको जानकर उसका ध्यान करे तो वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर जीवके परिणाम ऐसे होजाते है कि संसारके कारणभूत आठों दुष्टकर्मोंका क्षय हो जाता है। सम्यक्त्वके होते ही कर्मोंकी गुणश्रेणी निर्जरा होती जाती है। और अनुक्रमसे मुनि होने पर, चारित्र और शुक्लध्यानके सहकारी होने पर सर्व कर्मोका नाश होता है।

अब, इस बातको संक्षेपमें कहते हैं;—

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥

(मोक्षपाहुड़ गाथा–८८)

अर्थः—श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—बहुत कहनेसे क्या साध्य है ? जो नरप्रधान भूतकालमें सिद्ध हुये और भविष्यमें सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्वका ही माहात्म्य जानो ।

भावार्थः—सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि भूतकालमें जो श्रेष्ठ पुरुष आठ कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त हुये हैं तथा भविष्यमें होंगे, वे इसी सम्यक्त्वसे हुये हैं और होंगे । इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाय ? संक्षेपमें समझना चाहिये कि मुक्तिका प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है । ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि गृहस्थोंके क्या धर्म होता है ? यह सम्यक्त्व–धर्म ऐसा है कि जो सर्व धर्मके अंगको सफल करता है ।

अब यह कहते हैं कि जो निरंतर सम्यक्त्वका पालन करते हैं वे धन्य हैं—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥

(मोक्षपाहुड़ गाथा–८९)

अर्थः—जिस पुरुषके मुक्तिको प्राप्त करनेवाला सम्यक्त्व है, और उस सम्यक्त्वको स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया–अतिचार नहीं लगाया वह पुरुष धन्य है, वही कृतार्थ है, वीर शूरवीर है, वही पंडित है, वही मनुष्य है ।

भावार्थः—लोकमें जो कुछ दानादि करता है उसे धन्य कहा जाता है, तथा जो विवाह, यज्ञादि करता है उसे कृतार्थ कहा जाता है, जो युद्धसे पीछे नहीं हटता उसे शूरवीर कहते हैं, और जो बहुत से शास्त्र पढ़ लेता है उसे पंडित कहते हैं; किन्तु यह सब कथन मात्र है । वास्तवमें तो–जो मोक्षके कारणभूत सम्यक्त्वको मलिन नहीं करता,–उसे निरतिचार पालता है वही धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पंडित है, वही मनुष्य है; उसके बिना (सम्यक्त्वके बिना) मनुष्य पशु समान है । सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा कही गई है ।

(६) सम्यग्दर्शनका बल—

केवली और सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते, और संसारावस्थाको

नहीं चाहते; यह सम्यग्दर्शनका ही बल समझना चाहिये।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग-प्रकाशक, [illegible])

(१०) सम्यग्दर्शनके भेद—

ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी निर्ग्रन्थादि (पशु आदि) के और केवली तथा सिद्ध भगवानके सम्यग्दर्शनको समान कहा है; उनके आत्म-प्रतीति एक ही प्रकारकी होती है। किन्तु स्वपर्यायकी योग्यताकी अपेक्षा से सम्यग्दर्शनके तीन भेद हो जाते हैं (१) औप-शमिक सम्यग्दर्शन, (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, (३) क्षायिक सम्यग्दर्शन।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग-प्रकाशक, अ० ९, पृष्ठ ३२४)

औपशमिक सम्यग्दर्शन—उस दशामें मिथ्यात्वकर्म के तथा अनन्तानुबन्धी कषायके ज़ड़ रजकण स्वयं उपशमरूप होते हैं; जैसे मैले पानीमेंसे मैल नीचे बैठ जाता है; अथवा जैसे अग्नि राखसे ढक जाती है। आत्माके पुरुषार्थसे जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब औपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है।*

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन—इस दशामें मिथ्यात्व ओर मिश्रमिथ्यात्व कर्मके रज-कण आत्मप्रदेशोंसे पृथक् होने पर उनका फल नहीं होता, ओर सम्यक्मोहनीयकर्मके रजकण उदयरूप होते हैं, तथा अनन्तानुवन्धी कपायकर्मके रजकण विसंयोजनरूप होते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—इस दशामें मिथ्यात्वप्रकृतिके (तीनों उपविभागके) रजकण आत्मप्रदेशसे सर्वथा हट जाते हैं, इसलिये मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धीकी सातों प्रकृतियोंका क्षय हुआ कहलाता है।

(११) सम्यग्दर्शनके अन्य प्रकारसे भेद—

सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके आत्माकी-तत्त्वकी प्रतीति एकसी होती है, तथापि

---

* अनादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व, और अनन्तानुवन्धीकी चार,—ऐसी पांच प्रकृतियां उपशमरूप होती हैं। और सादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होने पर जिसके मिथ्यात्वकी तीन प्रकृतियाँ सत्तारूप होती हैं उसके मिथ्यात्वकी तीन और अनन्तानुवन्धी की चार, ऐसे सात प्रकृतियां उपशमरूप होती हैं, और जिस सादि मिथ्यादृष्टिके एक मिथ्यात्व प्रकृति ही सत्तामें होती है उसके मिथ्यात्व की एक, और अनन्तानुवन्धीकी चार,—ऐसी पांच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं।

चारित्रदशाकी अपेक्षा से उनके दो भेद हो जाते हैं—(१) वीतराग सम्यग्दर्शन, (२) सराग सम्यग्दर्शन ।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मामें स्थिर होता है तब उसके निर्विकल्प दशा होती है; तब रागके साथ बुद्धिपूर्वक सम्बन्ध नहीं होता । जीवकी इस दशाको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है । और जब सम्यग्दृष्टि जीव अपनेमें स्थिर नहीं रह सकता तब रागमें उसका अनित्य-सम्बन्ध होता है, इसलिये उस दशाको 'सराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है । ध्यान रहे कि सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कभी नहीं मानता कि शुभ रागसे धर्म होता है या धर्ममें सहायता होती है ।

(समयसार जयसेनाचार्य गाथा–१६६)

(१२) सराग सम्यग्दृष्टिके प्रशमादि भाव—

सम्यग्दृष्टिके रागके साथ सम्बन्ध होता है तब चार प्रकारके शुभभाव होते हैं (१) प्रशम, (२) संवेग, (३) अनुकम्पा, (४) आस्तिक्य ।

प्रशम—क्रोध-मान-माया-लोभ सम्बन्धी राग-द्वेषादिकी मन्दता ।

संवेग—संसार अर्थात् विकारी भावका भय ।

अनुकम्पा—स्वयं और पर-सर्व प्राणियों पर दयाका प्रादुर्भाव ।

आस्तिक्य—जीवादि तत्त्वोंका जैसा अस्तित्व है वैसा ही आगम और युक्तिसे मानना ।

सराग सम्यग्दृष्टिको इन चार प्रकारका राग होता है, इसलिये इन चार भावोंको उपचारसे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा जाता है । जिसके सम्यग्दर्शन न हो तो वे शुभभाव प्रशमाभास, संवेगाभास, अनुकम्पाभास, और आस्तिक्याभास हैं,—ऐसा समझना चाहिये । प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके यथार्थ (निश्चय) लक्षण नहीं हैं; उसका यथार्थ लक्षण अपने शुद्धात्माकी प्रतीति है ।

(१३) सम्यग्दर्शनका विषय (लक्ष्य) तथा स्वरूप—

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको कैसा मानता है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको परमार्थतः त्रिकाल शुद्ध, ध्रुव, अखण्ड चैतन्यस्वरूप मानता है ।

प्रश्नः—इस समय जीवकी विकारी अवस्था तो होती है, तो उसका क्या ?

उत्तरः—विकारी अवस्था सम्यग्ज्ञानका विषय है, इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि जानता तो है, किन्तु सम्यग्दृष्टिका आश्रय अवस्था (पर्याय-भेद) पर नहीं होता; क्योंकि अवस्थाके आश्रयसे जीवके राग होता है और ध्रुवस्वरूपके आश्रयसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

प्रश्नः—सम्यक्त्व (—श्रद्धा) गुण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिस गुणकी निर्मलदशा प्रगट होनेसे अपने शुद्धात्माका प्रतिभास (–यथार्थ प्रतीति) हो; अखण्ड ज्ञायक स्वभावकी प्रतीति हो।

(१) सच्चे देव-गुरु-धर्ममें दृढ़ प्रतीति, (२) जीवादि सात तत्त्वोंकी – सच्ची प्रतीति, (३) स्व-परका श्रद्धान, (४) आत्मश्रद्धान; इन लक्षणोंके अविनाभाव सहित जो श्रद्धान होता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उस पर्यायका धारक सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण है, तथा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन उसकी पर्यायें हैं।

(१४) **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** यह सूत्र निश्चय सम्यग्दर्शनके लिये है, ऐसा पं० टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्र० अ० ९ में कहते हैं—

(१) जो तत्त्वार्थश्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थोंका श्रद्धानपना सो सम्यग्दर्शनका लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है, यही तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ १-२ ॥

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें भी इसी प्रकार कहा है—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

अर्थः—विपरीताभिनिवेशसे रहित जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान सदाकाल करना योग्य है। **यह श्रद्धान आत्माका स्वरूप है, चतुर्थादि गुणस्थानमें प्रगट होता है, पश्चात् सिद्ध अवस्थामें भी सदाकाल इसका** सद्भाव रहता है-ऐसा जानना।

(सोनगढसे प्रकाशित आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३२०–३२१)

इस सम्बन्धमें पृ० ३२३ से ३२५में पंडित टोडरमल्लजी विशेष कहते हैं कि—

फिर प्रश्न है कि—छद्मस्थके तो प्रतीति-अप्रतीति कहना संभव है, इसलिए वहाँ सात तत्त्वोंकी प्रतीति सम्यक्त्वका लक्षण कहा सो हमने माना, परन्तु केवली सिद्ध भगवानके

तो सर्वका जानपना समानरूप है, **वहां सप्त तत्त्वोंकी प्रतीति कहना संभव नहीं है और उनके सम्यक्त्वगुण पाया जाता है, इसलिए वहां उस लक्षणका अव्याप्तिपना आया ?**

समाधान—जैसे छद्मस्थके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति पायी जाती है, उसीप्रकार केवली-सिद्धभगवानके केवलज्ञानके अनुसार प्रतीति पायी जाती है। जो सप्त तत्त्वोंका स्वरूप पहले ठीक किया था, वही केवलज्ञान द्वारा जाना; वहाँ प्रतीतिका परमावगाढ़पना हुआ; इसीसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा। जो पहले श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहां अप्रतीति होती; **सो तो जैसा सप्त तत्त्वोंका श्रद्धान छद्मस्थके हुआ था, वैसा ही केवली-सिद्ध भगवानके पाया जाता है,** इसलिए ज्ञानादिककी हीनता-अधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक व केवली-सिद्ध भगवानके सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है। तथा पूर्व अवस्थामें यह माना था कि—संवर-निर्जरासे मोक्षका उपाय करना। पश्चात् मुक्त अवस्था होने पर ऐसा मानने लगे कि—संवर-निर्जरासे हमारे मोक्ष हुआ। तथा पहले ज्ञानकी हीनतासे जीवादिकके थोड़े विशेष जाने थे, पश्चात् केवलज्ञान होने पर उनके सर्व विशेष जाने, **परन्तु मूलभूत जीवादिकके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थके पाया जाता है वैसा ही केवलीके पाया जाता है।** तथा यद्यपि केवली-सिद्धभगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीति सहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं, **इसलिए सम्यक्त्वगुणमें सप्त तत्त्वोंहीका श्रद्धान ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध भगवान् रागादिरूप परिणमित नहीं होते, संसार अवस्थाको नहीं चाहते, सो यह इस श्रद्धानका बल जानना।**

फिर प्रश्न है कि—सम्यग्दर्शनको तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्षमें इसका सद्भाव कैसे कहते हैं ?

उत्तरः—कोई कारण ऐसा भी होता है जो कार्य सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होता। जैसे किसी वृक्षकी किसी एक शाखासे अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई; उसके होने पर वह एक शाखा नष्ट नहीं होती; उसीप्रकार किसी आत्माके सम्यक्त्वगुणसे अनेक गुणयुक्त मुक्त-अवस्था हुई, उसके होने पर सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इसप्रकार केवली-सिद्ध **भगवानके भी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण ही सम्यक्त्व पाया जाता है। इसलिए वहां अव्याप्तिपना नहीं है।"**

(मोक्षमार्ग प्र० पृ० [illegible])

फिर प्रश्न—मिथ्यादृष्टिके भी तत्त्वश्रद्धान होता है [illegible]; प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है [illegible]

अधिगमजः—जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(१) जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस जीवने उस समय अथवा पूर्व भवमें सम्यग्ज्ञानी आत्मासे उपदेश सुना होता है। [उपदिष्टि तत्त्वका श्रवण, ग्रहण–धारण होना; विचार होना उसे देशनालब्धि कहते हैं] उसके विना किसीको सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि वह उपदेश सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है। जीव सम्यग्दर्शनको स्वतः अपनेमें प्रगट करता है, ज्ञानीका उपदेश तो निमित्त मात्र है। अज्ञानीका उपदेश सुनकर कोई सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं कर सकता, यह नियम है। और, यदि सद्गुरुका उपदेश सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता हो तो, जो जो जीव उस उपदेशको सुनें उन सबको सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। सद्गुरुके उपदेशसे सम्यग्दर्शन हुआ है,—यह कथन व्यवहारमात्र है,—निमित्तका ज्ञान करानेके लिए कथन है।

(३) अधिगमका स्वरूप इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें दिया गया है। वहां बताया है कि—'प्रमाण और नयके द्वारा अधिगम होता है'। प्रमाण और नयका स्वरूप उस सूत्रकी टीकामें दिया है, वहांसे ज्ञात करना चाहिये।

(४) तीसरे सूत्रका सिद्धान्त—

जीवको अपनी भूलके कारण अनादिकालसे अपने स्वरूपके सम्बन्धमें भ्रम बना हुआ है, इसलिये उस भ्रमको स्वयं दूर करने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जीव जब अपने सच्चे स्वरूपको समझनेकी जिज्ञासा करता है तब उसे आत्मज्ञानीपुरुषके उपदेशका योग मिलता है। उस उपदेशको सुनकर जीव अपने स्वरूपका यथार्थ निर्णय करे तो उसे सम्यक्-दर्शन होता है। किसी जीवको आत्मज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेपर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, और किसीको उसी भवमें दीर्घकालमें अथवा दूसरे भवमें उत्पन्न होता है। जिसे तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे **'अधिगमज सम्यग्दर्शन'** हुआ कहलाता है, और जिसे पूर्वके संस्कारसे उत्पन्न होता है उसे **'निसर्गज'** सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है।

[कोई जीव अपने आप शास्त्र पढ़कर या अज्ञानीका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर ले ऐसा कभी नहीं हो सकता है—देशनालब्धिके विषयमें सब प्रश्नोंका सम्पूर्ण समाधानवाला लेख देखो—आत्मधर्म वर्ष छट्ठा अंक नं० ११–१२]

जैसे वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करना हो तो वैद्यकके ज्ञानी गुरुकी शिक्षासे वह प्राप्त किया जा सकता है, वैद्यकके अज्ञानी पुरुषसे नहीं, उसीप्रकार आत्मज्ञानी गुरुके उपदेश द्वारा

सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है; आत्मज्ञानहीन (अज्ञानी) गुरुके उपदेशसे वह प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये सच्चे सुखके इच्छुक जीवोंको उपदेशकका चुनाव करनेमें सावधानी रखना आवश्यक है। जो उपदेशकका चुनाव करनेमें भूल करते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकते,—यह निश्चित समझना चाहिये ॥ ३ ॥

तत्त्वोंके नाम—

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थः—[**जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः**] १ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा और ७ मोक्ष—यह सात [**तत्त्वम्**] तत्त्व हैं।

टीका

१-जीवः—जीव अर्थात् आत्मा। वह सदा ज्ञातास्वरूप, परसे भिन्न और त्रिकाल-स्थायी है। जब वह पर-निमित्तके शुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तब उसके शुभभाव (पुण्य) होता है, और जब अशुभावलम्बनमें युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है। और जब स्वावलम्बी होता है तब शुद्धभाव (धर्म) होता है।

२-अजीवः—जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है; ऐसे द्रव्य पांच हैं। उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह चार अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित) है। अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं, तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरेसे पृथक्-स्वतंत्र है। पराश्रयके बिना जीवमें विकार नहीं होता; परोन्मुख होनेसे जीवके पुण्य-पापके शुभाशुभ विकारी भाव होते हैं।

३-आस्रव—विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी अवस्था जीवमें होती है वह भावास्रव और नवीन कर्म-रजकणोंका आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहना) सो द्रव्यास्रव है।

पुण्य-पाप दोनों आस्रव और बंधके उपभेद है।

पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, इत्यादि जो शुभ भाव जीवके होते हैं वह अरूपी विकारी भाव हैं; वह भाव-पुण्य है, और उसके निमित्तसे जड़ परमाणुओंका समूह स्वयं (अपने ही कारणसे स्वतः) एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धसे जीवके साथ बंधता है, वह द्रव्य-पुण्य है।

पापः—मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी, अव्रत इत्यादि जो अशुभभाव है सो भाव-

पाप है, और उसके निमित्तसे जड़की शक्तिसे जो परमाणुओंका समूह स्वयं बँधता है वह द्रव्य-पाप है।

परमार्थतः—वास्तवमें यह पुण्य-पाप आत्माका स्वरूप नहीं है; वह आत्माकी क्षणिक अवस्थामें परके सम्बन्धसे होनेवाला विकार है।

४-बंधः—आत्माका अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पापके भावमें रुक जाना सो भाव-बंध है। और उसके निमित्तसे पुद्गलका स्वयं कर्मरूप बँधना सो द्रव्य-बंध है।

५-संवरः—पुण्य-पापके विकारीभावको (आस्रवको) आत्माके शुद्ध भाव द्वारा रोकना सो भाव-संवर है, और तदनुसार नये कर्मोंका आगमन रुक जाय सो द्रव्य-संवर है।

६-निर्जराः—अखंडानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके लक्षके बलसे स्वरूप-स्थिरताकी वृद्धि द्वारा आंशिकरूपमें शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आंशिक नाश करना सो भाव-निर्जरा है, और उसका निमित्त पाकर जड़कर्मका अंशतः खिर जाना सो द्रव्य-निर्जरा है।

७-मोक्षः—अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा-सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल-पवित्र दशाका प्रगट होना सो भाव-मोक्ष है, और निमित्तकारण द्रव्यकर्मका सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्य-मोक्ष है।

(२) सात तत्त्वोंमेंसे प्रथम दो तत्त्व—'जीव' और 'अजीव' द्रव्य हैं, तथा शेष पांच तत्त्व उनकी (जीव और अजीवकी) संयोगी तथा वियोगी पर्यायें (विशेष अवस्थायें) हैं। आस्रव और बन्ध संयोगी हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव-अजीवकी वियोगी पर्यायें हैं। जीव और अजीव तत्त्व **सामान्य** हैं तथा शेष पांच तत्त्व पर्याय होनेसे **विशेष** कहलाते हैं।

(३) जिसकी दशाको अशुद्धमेंसे शुद्ध करना है उसका नाम तो प्रथम अवश्य दिखाना ही चाहिये, इसलिये 'जीव' तत्त्व प्रथम कहा गया है; पश्चात् जिस ओरके लक्षसे अशुद्धता अर्थात् विकार होता है उसका नाम देना आवश्यक है, इसलिये '**अजीव**' तत्त्व कहा गया है। अशुद्ध दशाके कारण-कार्यका ज्ञान करानेके लिये '**आस्रव**' और '**बंध**' तत्त्व कहे गये हैं। तत्पश्चात् मुक्तिका कारण कहना चाहिये; और मुक्तिका कारण वही हो सकता है जो आस्रव और बंधके कारणसे उल्टे रूपमें हो; इसलिये आस्रवके निरोध होनेको '**संवर**' कहा गया है। अशुद्धता-विकारके एकदेश दूर हो जानेके कार्यको '**निर्जरा**' तत्त्व कहा

है। जीवके अत्यन्त शुद्ध हो जानेकी दशाको 'मोक्ष' तत्त्व कहा है। इन तत्त्वोंको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, इसीलिये वे कहे गये हैं। उन्हें समझनेसे जीव मोक्षोपायमें युक्त हो सकता है। मात्र जीव-अजीवको जाननेवाला ज्ञान मोक्षमार्गके लिये कार्यकारी नहीं होता। इसलिये जो सच्चे सुखके मार्गमें प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें इन तत्त्वोंको यथार्थतया जानना चाहिये।

(तत्त्वार्थसार सूत्र ६ पृष्ठ ७-८, सनातन ग्रन्थमाला १७)

(४) सात तत्त्वोंके होने पर भी इस सूत्रके अन्तमें **'तत्त्वम्'** ऐसा एकवचन सूचक शब्द प्रयोग किया गया है, जो यह सूचित करता है कि इन सात तत्त्वोंका ज्ञान करके, भेद परसे लक्ष हटाकर, जीवके त्रिकालज्ञायक-भावका आश्रय करने से जीव शुद्धता प्रगट कर सकता है।

(५) चौथे सूत्र का सिद्धान्त—

इस सूत्रमें सात तत्त्व कहे गये हैं; उनमेंसे पुण्य और पापका समावेश आस्रव और बंध तत्त्वोंमें हो जाता है। जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और दुःखका नाश हो उस कार्यका नाम प्रयोजन है। जीव और अजीवके विशेष (भेद) बहुतसे हैं। उनमेंसे जो विशेषोंके साथ जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान हो और उससे सुख उत्पन्न हो; और जिसका अयथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान न हो, रागादिकको दूर करनेका श्रद्धान न हो और उससे दुःख उत्पन्न हो; इन विशेषोंसे युक्त जीव-अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत समझने चाहिये। आस्रव और बंध दुःखके कारण हैं, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष सुखके कारण हैं; इसलिये जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना आवश्यक है। इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धाके बिना शुद्धभाव प्रगट नहीं हो सकता। 'सम्यग्दर्शन' जीवके श्रद्धागुणकी शुद्ध अवस्था है; इसलिये उस शुद्धभावको प्रगट करनेके लिये सात तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान अनिवार्य है। जो जीव इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करता है वही [illegible] शुद्धस्वभावको जानकर उस ओर अपना पुरुषार्थ लगाकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। इन सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वोंके अतिरिक्त अन्य कोई 'तत्त्व' नहीं है—ऐसा समझना चाहिये ॥४॥

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ. [illegible] पृष्ठ [illegible])

निश्चय सम्यग्दर्शनादि शब्दोंके अर्थ समझनेकी रीति—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

अर्थ—[नामस्थापनाद्रव्यभावतः] [illegible]

टीका

(१) वक्ताके मुखसे निकले हुये शब्दके, अपेक्षाको लेकर भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं; उन अर्थों में व्यभिचार (दोष) न आये और सच्चा अर्थ कैसे हो यह बतानेके लिए यह सूत्र कहा है।

(२) इन अर्थोंके सामान्य प्रकार चार किये गये हैं। पदार्थोंके भेदको न्यास अथवा निक्षेप कहा जाता है। [प्रमाण और नयके अनुसार प्रचलित हुए लोकव्यवहारको निक्षेप कहते हैं।] ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है; तथापि उसे जानने पर ज्ञेय-पदार्थके जो भेद (अंश, पहलू) किये जाते हैं उसे **निक्षेप** कहते हैं। और उस अंशको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। निक्षेप नयका विषय है, और नय निक्षेपका विषयी (विषय करनेवाला) है।

(३) निक्षेपके भेदोंकी व्याख्या—

नाम निक्षेपः—गुण जाति या क्रियाकी अपेक्षा किये बिना किसीका यथेच्छ नाम रख लेना सो नाम निक्षेप है। जैसे किसीका नाम 'जिनदत्त' रखा; किन्तु वह जिनदेवके द्वारा दिया हुआ नहीं है, तथापि लोकव्यवहार (पहचानने) के लिये उसका 'जिनदत्त' नाम रखा गया है। एकमात्र वस्तुकी पहिचानके लिये उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है उसे नाम निक्षेप कहते हैं।

स्थापना निक्षेपः—किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तुका किसी दूसरी उपस्थित वस्तुमें **संबंध** या **मनोभावनाको** जोड़कर आरोप कर देना कि 'यह वही है' सो 'ऐसी भावनाको **स्थापना** कहा जाता है। जहाँ ऐसा आरोप होता है वहाँ जीवोंके ऐसी मनोभावना होने लगती है कि 'यह वही' है।

स्थापना दो प्रकारकी होती है—तदाकार और अतदाकार। जिस पदार्थका जैसा आकार हो वैसा आकार उसकी स्थापनामें करना सो 'तदाकार स्थापना' है। और चाहे जैसा आकार कर लेना सो 'अतदाकार स्थापना' है। सदृशताको स्थापना निक्षेपका कारण नहीं मान लेना चाहिये, **उसका कारण तो केवल मनोभावना ही है।** जनसमुदायकी यह मानसिक भावना जहाँ होती है वहाँ स्थापना निक्षेप समझना चाहिये। वीतराग-प्रतिमाको देखकर बहुतसे जीवोंके भगवान और उनकी वीतरागताकी मनोभावना होती है, इसलिये वह स्थापना निक्षेप है।*

---

* नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेपमें यह अन्तर है कि—नाम निक्षेपमें पूज्य-अपूज्यका व्यवहार नहीं होता और स्थापना निक्षेपमें यह व्यवहार होता है।

द्रव्य निक्षेपः—भूत और भविष्यत् पर्यायकी मुख्यताको लेकर उसे वर्तमानमें कहना-जानना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे श्रेणिक राजा भविष्यमें तीर्थंकर होंगे, उन्हें वर्तमानमें तीर्थंकर कहना-जानना, और भूतकालमें हो गये भगवान महावीरादि तीर्थंकरोंको वर्तमान तीर्थंकर मानकर स्तुति करना, सो द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप—केवल वर्तमान पर्यायकी मुख्यतासे जो पदार्थ वर्तमान जिस दशामें है उसे उसरूप कहना-जानना सो भाव निक्षेप है। जैसे सीमन्धर भगवान वर्तमान तीर्थंकरके रूपमें महाविदेहमें विराजमान हैं, उन्हें तीर्थंकर कहना-जानना, और भगवान महावीर वर्तमानमें सिद्ध हैं, उन्हें सिद्ध कहना-जानना सो भाव निक्षेप है।

(४) जहाँ 'सम्यग्दर्शनादि' या 'जीवाजीवादि' शब्दोंका प्रयोग किया गया हो वहाँ कौनसा निक्षेप लागू होता है, सो निश्चय करके जीवको सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिये। सूत्र १ में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि' तथा मोक्षमार्गः यह शब्द तथा सूत्र २ में सम्यग्दर्शन यह शब्द भावनिक्षेपसे कहा ऐसा समझना चाहिये।

(५) स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेपमें भेद—

"In Sthapana the connotation is merely attributed. It is never there. It cannot be there. In dravya it will be there or has been there, The common factor between the two is that it is not there now, and to that extent connotation is fictitious in both." (English Tatvarth Sutram, page-11)

अर्थः—**स्थापनानिक्षेपमें**-बताना मात्र आरोपित है, उसमें वह (मूल वस्तु) कदापि नहीं है, वह वहां कदापि नहीं हो सकती। और **द्रव्यनिक्षेपमें** वह (मूल वस्तु) भविष्यमें प्रगट होगी अथवा भूतकालमें थी। दोनोंके बीच सामान्यता इतनी है कि वर्तमान-कालमें वह दोनोंमें विद्यमान नहीं है, और उतने अंशमें दोनोंमें आरोप है। [—तत्त्वार्थसूत्र अंग्रेजी टीका पृष्ठ ११]

(६) पांचवें सूत्रका सिद्धान्त—

भगवानके नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप शुभभावके निमित्त हैं, इसलिये व्यवहार है। द्रव्यनिक्षेप निश्चयपूर्वक व्यवहार होनेसे अपनी शुद्ध पर्याय [illegible] प्रगट होगी यह सूचित करता है। भावनिक्षेप निश्चयपूर्वक अपनी शुद्ध पर्याय होने से [illegible]

रूपसे नहीं। आत्मा स्व-स्वरूपसे है-पर [illegible]
स्वरूपसे नहीं;—इसप्रकार जानना सो सम्यक् [illegible]
मिथ्या कल्पना की जाती है सो मिथ्या [illegible]
दूसरे जीवोंका भी कर सकता है,—[illegible]
इसलिये वह मिथ्या-अनेकान्त है।

(६) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्तके दृष्टान्त—

१—आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे नहीं, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे भी है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

२—आत्मा अपना कुछ कर सकता है, शरीरादि पर वस्तुओंका कुछ नहीं कर सकता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा अपना कर सकता है और शरीरादि परका भी कर सकता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

३—आत्माके शुद्धभावसे धर्म होता है और शुभ भावसे नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माके शुद्ध भावसे धर्म होता है और शुभ भावसे भी होता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

४—निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे भी होता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

५—निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके बाद स्वावलम्बनके बलसे जितना अंश व्यवहारका (-पराश्रयका) अभाव होता है उतना अंश निश्चय (-शुद्ध पर्याय) प्रगट होता है, ऐसा समझना सो सम्यक् अनेकान्त है। व्यवहारके करते करते निश्चय प्रगट हो जाता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

६—आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होना है और शारीरिक क्रियासे हानि-लाभ नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है और शारीरिक क्रियासे भी लाभ होता है, ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

७—एक (प्रत्येक) वस्तुमें सदा स्वतंत्र वस्तुत्वको सिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरोधी शक्तियों [सत्-असत्, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक इत्यादि] को प्रकाशित करे सो सम्यक् अनेकान्त है।

एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी शक्तिको प्रकाशित करके, एक वस्तु, दो वस्तुओंका कार्य करती है,—ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है; अथवा सम्यक् अनेकान्तसे वस्तुका जो स्वरूप निश्चित है उससे विपरीत वस्तुस्वरूपकी केवल कल्पना करके, जो उसमें न हो वैसे स्वभावोंकी कल्पना करना सो मिथ्या अनेकान्त है।

८—जीव अपने भाव कर सकता है और पर वस्तुका कुछ नहीं कर सकता-ऐसा मानना सो सम्यक् अनेकान्त है।

९—जीव सूक्ष्म पुद्गलोंका कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल पुद्गलोंका कर सकता है, —ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

(७) सम्यक् और मिथ्या एकान्तका स्वरूप -

निजस्वरूपसे अस्तिरूपता और पर-रूपसे नास्तिरूपता-आदि वस्तुका जो स्वरूप है उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाणके द्वारा ज्ञात पदार्थके एकदेशको (एक पहलूको) विषय करनेवाला नय सम्यक् एकान्त है; और किसी वस्तुके एक धर्मका निश्चय करके उस वस्तुमें रहनेवाले अन्य धर्मोंका निषेध करना सो मिथ्या एकान्त है।

(८) सम्यक् और मिथ्या एकान्तके दृष्टान्त—

१—'सिद्ध भगवन्त एकान्त सुखी हैं' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि 'सिद्धजीवोंको बिलकुल दुःख नहीं है' यह बात गर्भितरूपसे उसमें आ जाती है। और सर्व जीव एकान्त सुखी हैं—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योंकि इसमें अज्ञानी जीव वर्तमान में दुखी हैं, उसका निषेध होता है।

२—'एकान्त बोधबीजरूप जीवका स्वभाव है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि छद्मस्थ जीवकी वर्तमान ज्ञानावस्था पूर्ण विकासरूप नहीं है, यह उसमें गर्भितरूपसे आ जाता है।

३—'सम्यग्ज्ञान धर्म है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है क्योंकि 'सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य होता है'—यह गर्भित रूपसे उसमें आ जाता है। 'सम्यग्ज्ञान रहित त्याग मात्र धर्म है'—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान रहित होनेसे मिथ्या त्याग है।

(९) प्रमाणके [illegible]:—

परोक्षः—जो उपात्त[1] और अनुपात्त[2] [illegible]
(प्रमाणज्ञान) है।

प्रत्यक्षः—जो केवल आत्मासे [illegible]

प्रमाण सच्चा ज्ञान है। [illegible]
केवलज्ञान। उनमेंसे मति और श्रुत [illegible] परोक्ष हैं, [illegible]
(–आंशिक एकदेश) प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान [illegible] है।

(१०) नयके प्रकारः—

नय दो प्रकारके हैं-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। उनमेंसे जो [illegible]
द्रव्यका मुख्यतया अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिक नय है, और जो [illegible]
कराये सो पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय क्यों हैं? गुणार्थिक नय क्यों नहीं?

शास्त्रोंमें अनेक स्थलों पर द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका उल्लेख मिलता है, किन्तु कहीं भी 'गुणार्थिक नय' का प्रयोग नहीं किया गया है; इसका क्या कारण है? सो कहते हैंः—

तर्क–१ः—द्रव्यार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय गुण, और पर्यायार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय पर्याय, तथा दोनों एकत्रित होकर जो प्रमाणका विषय-द्रव्य है सो सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य है; इसप्रकार मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नहीं किया है;—यदि कोई ऐसा कहे तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अकेले गुण द्रव्यार्थिक नयका विषय नहीं है।

तर्क–२ः—द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य और पर्यायार्थिक नयका विषय पर्याय है; तथा पर्याय गुणका अंश होनेसे पर्यायमें गुण आ गये, यह मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नहीं किया है; यदि इसप्रकार कोई कहे तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पर्यायमें सम्पूर्ण गुणोंका समावेश नहीं हो जाता।

नोटः—[1]उपात्त=प्राप्त; (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं)।

[2]अनुपात्त=अप्राप्त; (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं)।

गुणार्थिक नयका प्रयोग न करनेका वास्तविक कारण—

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-दो नयोंका ही प्रयोग किया गया है। उन दोनों नयोंका वास्तविक स्वरूप यह है—

पर्यायार्थिक नयका विषय जीवकी अपेक्षित बंध-मोक्षकी पर्याय है और उस (बंध-मोक्षकी अपेक्षा) से रहित त्रैकालिक शक्तिरूप गुणोंसे अभेद त्रैकालिक जीवद्रव्य सामान्य वही द्रव्यार्थिक नयका विषय है,-इस अर्थमें शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका प्रयोग किया गया है, इसलिये गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं रहती। जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योंके त्रैकालिक ध्रुव स्वरूपमें भी उसके गुणोंका समावेश हो जाता है, इसलिये पृथक् गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक नयका प्रयोग होता है, इसमें गंभीर रहस्य है। द्रव्यार्थिक नयका विषय त्रैकालिक द्रव्य है, और पर्यायार्थिक नयका विषय क्षणिक पर्याय है। द्रव्यार्थिक नयके विषयमें पृथक् गुण नहीं है, क्योंकि गुणको पृथक् करके लक्षमें लेने पर विकल्प उठता है, और गुण भेद तथा विकल्प पर्यायार्थिक नयका विषय है। *

(११) द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयके दूसरे नाम—

द्रव्यार्थिक नयको:—निश्चय शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतंत्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी नय कहा जाता है।

पर्यायार्थिक नयको:—व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतंत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद और परलक्षी नय कहा जाता है।

(१२) सम्यग्दृष्टिके दूसरे नाम—

सम्यग्दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि और अंतरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

(१३) मिथ्यादृष्टिके दूसरे नाम—

मिथ्यादृष्टिको पर्यायबुद्धि, संयोगीबुद्धि, पर्यायमूढ, व्यवहारदृष्टि, व्यवहारमूढ [illegible], परावलम्बी बुद्धि, पराश्रितदृष्टि और बहिरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

---

* [illegible]

(१४) ज्ञान दोनों नयोंका करना चाहिये, किन्तु उसमें परमार्थतः आदरणीय निश्चय नय है,–ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य अथवा उसके भावोंको या कारण-कार्यादिको किसीका किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये, ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व होता है, अतः उसका त्याग करना चाहिये।

निश्चयनय स्वद्रव्य–परद्रव्यको अथवा उसके भावोंको या कारण–कार्यादिको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये। इन दोनों नयोंको समकक्षी (–समान कोटिका) मानना सो मिथ्यात्व है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३५१)

(१५) व्यवहार और निश्चयका फल––

वीतरागकथित व्यवहार, अशुभसे वचाकर जीवको शुभभावमें ले जाता है; उसका दृष्टान्त मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि हैं। वे भगवानके द्वारा कथित व्रतादिका निरतिचार पालन करते हैं, इसलिये शुभभावके कारण नववें ग्रैवेयक तक जाते हैं, किन्तु उनका संसार बना रहता है। और भगवानके द्वारा कथित निश्चय, शुभ और अशुभ दोनोंसे वचाकर जीवको शुद्धभावमें-मोक्षमें ले जाता है, उसका दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि है, जो कि नियमतः मोक्ष प्राप्त करता है।

(१३) शास्त्रोंमें दोनों नयोंको ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

जैन शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति––जैन शास्त्रोंमें वस्तुका स्वरूप समझानेके दो प्रकार हैं,–निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपमें जैसी हो उसीप्रकार कहना; इसलिये निश्चयनयकी मुख्यतासे जहाँ कथन हो वहाँ उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' यों जानना चाहिये और—

(२) व्यवहारनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपसे वैसी न हो किन्तु परवस्तुके साथका संबंध बतानेके लिये कथन हो; जैसे–'घीका घड़ा !' यद्यपि घड़ा घीका नहीं किन्तु [illegible] है [illegible] घी और घड़ा दोनों एक साथ हैं, यह बतानेके लिये उसे 'घीका घड़ा'

कहा जाता है। इसप्रकार जहाँ व्यवहारसे कथन हो वहाँ यह समझना चाहिये कि **'वास्तवमें तो ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि बतलानेके लिये उपचारसे वैसा कथन है।'**

दोनों नयोंके कथनको सत्यार्थ जानना अर्थात् 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसा मानना सो भ्रम है। इसलिये निश्चय कथनको सत्यार्थ जानना चाहिये, व्यवहार कथनको नहीं; प्रत्युत यह समझना चाहिये कि वह निमित्तादिको बतानेवाला उपचार कथन है।

इसप्रकार दोनों नयोंके कथनका अर्थ करना सो दोनों नयोंका ग्रहण है। दोनोंको समकक्ष अथवा आदरणीय मानना सो भ्रम है। सत्यार्थको ही आदरणीय मानना चाहिये।

[नय=श्रुतज्ञानका एक पहलू; निमित्त=विद्यमान अनुकूल परवस्तु]

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५१ के आधारसे)

(१७) निश्चयाभासीका स्वरूप—

जो जीव आत्माके त्रैकालिक स्वरूपको स्वीकार करे, किन्तु यह स्वीकार न करे कि अपनी भूलके कारण वर्तमान पर्यायमें निजके विकार हैं वह निश्चयाभासी है, उसे शुष्कज्ञानी भी कहते हैं।

(१८) व्यवहाराभासीका स्वरूप—

प्रथम व्यवहार चाहिये, व्यवहार करते करते निश्चय (धर्म) होता है ऐसा मानकर शुभराग करता है परन्तु अपना त्रैकालिक ध्रुव (ज्ञायकभाव) स्वभाव नहीं मानता और न अन्तर्मुख होता है ऐसे जीवको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा सप्त तत्त्वोंकी व्यवहार-श्रद्धा है तो भी अनादिकी निमित्त तथा व्यवहार (भेद-पराश्रय) की रुचि नहीं छोड़ता और सप्त तत्त्वकी निश्चय श्रद्धा नहीं करता इसलिये वह व्यवहाराभासी है, उसे क्रियाजड़ भी कहते हैं। और जो यह मानता है कि शारीरिक क्रियासे धर्म होता है वह व्यवहाराभाससे भी अति दूर है।

(१९) नयके दो प्रकार—

नय दो प्रकारके हैं—रागसहित और रागरहित [illegible]
पर लक्ष्य जो ज्ञान होता है वह [illegible]
नयके होनेपर भी रागसे धर्म नहीं होता [illegible]

स्व-द्रव्य या पर्यायको जव निश्चय कहा जाता है तब आत्माके साथ पर द्रव्यका जो संबंध होता है उसे आत्माका कहते हैं, यही व्यवहार है-उपचार कथन है। जैसे जड़कर्मको आत्माका कहना व्यवहार है। जड़ कर्म परद्रव्यकी अवस्था है, आत्माकी अवस्था नहीं है। तथापि उन जड़कर्मोंको आत्माका कहते हैं। यह कथन निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतानेके लिये है। अत: व्यवहार नय है—उपचार कथन है।

इस अध्यायके ३३ वें सूत्रमें दिये गये सात नय आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्यमें लागू होते हैं इसलिये उन्हें आगम शास्त्रमें निश्चय नयके विभागके रूपमें माना जाता है। इन सात नयोंमेंसे पहले तीन द्रव्यार्थिक नयके विभाग हैं और वादके चार पर्यायार्थिक नयके विभाग हैं, किन्तु वे सात नय भेद हैं इसलिए, और उनके आश्रयसे राग होता है और वे राग दूर करने योग्य हैं इसलिये अध्यात्म-शास्त्रोंमें उन सवको व्यवहार नयके उप-विभागके रूपमें माना जाता है।

आत्माका स्वरूप समझनेके लिये नय-विभाग—

शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप है—यहां (त्रिकाल शुद्ध कहनेमें) वर्तमान विकारी पर्याय गौण की गई है। यह विकारी पर्याय क्षणिक अवस्था होनेसे पर्यायार्थिक नयका विषय है और जव वह विकारी दशा आत्मामें होती है ऐसा वतलाना हो तव वह विकारी पर्याय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय होती है, और जव ऐसा वतलाना हो कि यह पर्याय पर द्रव्यके संयोगसे होती है तब वह विकारी पर्याय व्यवहार नयका विषय होती है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि जहां आत्माकी अपूर्ण पर्याय भी व्यवहारका विषय है वहाँ व्यवहारका अर्थ भेद होता है।

निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय भिन्न भिन्न अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं—

ऐसा ज्ञान करना कि रत्नत्रय जीवसे अभिन्न है सो अभेदप्रधान द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप है। इसीप्रकार रत्नत्रय जीवसे भिन्न है, ऐसा ज्ञान करना सो भेदप्रधान पर्यायार्थिक नयका स्वरूप है।

(प्रवचनसार गाथा १८१ जयसेनाचार्य टीका)

रत्नत्रयमें अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चयनयसे मोक्षमार्ग है तथा भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहार नयसे मोक्षमार्ग है।

निश्चय रत्नत्रयके समर्थन करनेका यह मतलब है कि जो भेद-प्रवृत्ति है सो व्यवहार रत्नत्रय है और जो अभेद-प्रवृत्ति है सो निश्चय रत्नत्रय है।

(२६) छट्ठे सूत्रका सिद्धान्त—

हे जीव! पहले यह निश्चय कर कि तुझे धर्म करना है या नहीं! यदि धर्म करना हो तो परके आश्रयसे मेरा धर्म नहीं है, ऐसी श्रद्धाके द्वारा पराश्रित अभिप्रायको दूर कर। परसे जो जो अपनेमें होना माना है उस मान्यताको यथार्थ प्रतीतिके द्वारा जला दे।

यहां ऐसा समझना चाहिए कि जिसप्रकार सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वोंको जानकर उनमेंसे शुद्धनयके विषयरूप जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है, उसी प्रकार अधिगमके उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेपोंको जानकर उनमेंसे शुद्धनयके विषयरूप जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है और यही सम्यग्दर्शन है ॥ ६ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जाननेके अमुख्य (अप्रधान) उपाय—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

अर्थ—[निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति विधानतः] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानसे भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक तत्त्वोंका अधिगम होता है।

टीका

१-निर्देशः—वस्तुस्वरूपके कथनको निर्देश कहते हैं।

२-स्वामित्वः—वस्तुके अधिकारीपनको स्वामित्व कहते हैं।

३-साधनः—वस्तुकी उत्पत्तिके कारणको साधन कहते हैं।

४-अधिकरणः—वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं।

५-स्थितिः—वस्तुके कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं।

६-विधानः—वस्तुके भेदोंको विधान कहते हैं।

उपरोक्त ६ प्रकारसे सम्यग्दर्शनका वर्णन निम्नप्रकार किया जाता है—

१· निर्देशः—जीवादि सात तत्त्वोंकी यथार्थ श्रद्धापूर्वक निज शुद्धात्माका [illegible] विश्वास-प्रतीतिको निर्देश कहते हैं।

संतोष आदि सभी कार्य करते हैं उनके ये सभी कार्य झूठे हैं। इसलिये सत् आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परम्परा सद्गुरुओंका उपदेश और स्वानुभवके द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। (सनावदसे प्रकाशित हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २१)

प्रश्नः—यह कहा है कि मिथ्यादृष्टि देव चार कारणोंसे प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व-को प्राप्त होते हैं, उनमें एक 'जिनमहिमा' कारण वतलाया है, किन्तु जिनबिम्बदर्शन नहीं वतलाया; इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—जिनबिम्ब-दर्शनका जिनमहिमा-दर्शनमें समावेश हो जाता है, क्योंकि जिन-विम्वके विना जिनमहिमाकी सिद्धि नहीं होती।

प्रश्नः—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षा कल्याणरूप जिनमहिमा जिनबिम्बके विना की जाती है इसलिये क्या जिन-महिमादर्शनमें जिनबिम्ब-दर्शनका अविनाभावित्व नहीं आया ?

उत्तरः—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षाकल्याणरूप जिन-महिमामें भी भावी जिनबिंबका दर्शन होता है। दूसरी बात यह है कि इस महिमामें उत्पन्न होनेवाले प्रथम सम्यक्त्व जिनबिंब-दर्शन नैमित्तिक नहीं है, किन्तु जिनगुण-श्रवण नैमित्तिक है। अर्थात् प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें जिनगुण-श्रवण निमित्त है।

प्रश्नः—जातिस्मरणका देवऋद्धि-दर्शनमें समावेश क्यों नहीं होता ?

उत्तरः—अपनी अणिमादिक ऋद्धियोंको देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि जिन भगवानके द्वारा प्ररूपित धर्मानुष्ठानसे ये ऋद्धियां उत्पन्न हुई हैं तब प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जातिस्मरण निमित्त होता है; किन्तु जिस समय सौधर्मादिक देवोंकी महा ऋद्धियोंको देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि सम्यग्दर्शन सहित संयमके फलसे-शुभभावसे वह उत्पन्न हुई है और मैं सम्यक्त्व रहित द्रव्य संयमके फलसे वाहनादिक नीच देवोंमें उत्पन्न हुआ हूं, उस समय प्रथम सम्यक्त्वका ग्रहण देवर्द्धिदर्शन-निमित्तक होता है। इस तरह जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन इन दोनों कारणोंमें अन्तर है।

नोटः—नारकियोंमें जातिस्मरण और वेदनारूप कारणोंमें भी यही नियम लगा लेना चाहिये।

प्रश्नः—आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके मिथ्यादृष्टिदेवों के प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें देवर्द्धिदर्शन कारण क्यों नहीं वतलाया ?

उत्तरः—इन चार स्वर्गोंमें महा ऋद्धिवाले ऊपरके देवोंका आगमन नहीं होता इसीलिये वहां प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण महाऋद्धिदर्शन कारण नहीं वतलाया,

इन्हीं स्वर्गोंमें स्थित देवोंकी महाऋद्धिका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति में कारण नहीं होता, क्योंकि बारम्बार इन ऋद्धियोंके देखनेसे विस्मय नहीं होता। पुनश्च, इन स्वर्गोंमें शुक्ल-लेश्याके सद्भावके कारण महाऋद्धिके दर्शनसे कोई संक्लेशभाव उत्पन्न नहीं होता।

नव ग्रैवेयक तथा ऊपरके देवोंका आगमन नहीं होता इसलिये वहाँ महाऋद्धिदर्शन कारण नहीं है। तथा ये विमानवासी देव अष्टाह्निक पर्व महोत्सव देखनेके लिये नंदीश्वरादि द्वीपोंमें नहीं जाते इसलिये वहाँ जिनमहिमा-दर्शन भी कारण नहीं है। वे अवधिज्ञानके बलसे जिनमहिमाको देखते हैं तो भी इन देवोंके रागकी न्यूनता अर्थात् मन्द राग होनेसे जिनमहिमा-दर्शन से उनको विस्मय उत्पन्न नहीं होता।

(श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४३२ से ४३६)

(४) **अधिकरणः**—सम्यग्दर्शनका अन्तरंग आधार आत्मा है और बाह्य आधार त्रसनाली है (लोकाकाशके मध्यमें चौदह राजू लम्बे और एक राजू चौड़े स्थानको त्रसनाली कहते हैं।)

(५) **स्थितिः**—तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनकी जघन्यसे जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है, औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्तकी है, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरकी और क्षायिक सम्यग्दर्शनकी सादि अनन्त है, तथा संसारमें रहनेकी अपेक्षासे उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कोडी पूर्व है।

(६) **विधानः**—सम्यग्दर्शन एक तरह अथवा स्वपर्यायकी योग्यतानुसार तीन प्रकार है—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। तथा आज्ञा, मार्ग, बीज, उपदेश, सूत्र, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ इस तरह १० भेदरूप है।

और भी अन्य प्रमुख उपाय—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थः—[च] और [सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भावाल्पबहुत्वैः] सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी पदार्थका ज्ञान होता है।

टीका

सत् और संख्याः—सत् द्रव्य-गुण-पर्यायोंमें [illegible] सामान्य और [illegible]

है' यहाँ संपूर्ण स्थानमें तेल रहनेके कारण तिल तैलका स्पर्शन है, इस तरह क्षेत्र और स्पर्शनमें अन्तर है।

क्षेत्र वर्तमान कालका विषय है और स्पर्शन त्रिकालगोचर विषय है। वर्तमानकी दृष्टिसे घड़ेमें जल है किन्तु वह त्रिकाल नहीं है। तीनों कालमें जिस जगह पदार्थकी सत्ता रहती है उसे स्पर्शन कहते हैं। यह दूसरी तरहसे क्षेत्र और स्पर्शनके बीचका अन्तर है।

काल और स्थितिमें अन्तर

'स्थिति' शब्द कुछ पदार्थोंके कालकी मर्यादा बतलाता है, यह शब्द व्याप्य है। 'काल' शब्द व्यापक है और यह समस्त पदार्थोंकी मर्यादाको बतलाता है। 'स्थिति' शब्द कुछ ही पदार्थोंका ज्ञान कराता है और 'काल' शब्द समस्त पदार्थोंका ज्ञान कराता है। कालके दो भेद हैं (१) निश्चयकाल (२) व्यवहारकाल। मुख्य कालको निश्चयकाल कहते हैं और पर्याय विशिष्ट पदार्थोंकी मर्यादा बतलानेवाला अर्थात् घण्टा घड़ी पल आदि व्यवहारकाल है। कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं अर्थात् 'स्थिति' शब्द इस बातको बतलाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक स्थानपर इतने समय रहता है। इतना काल और स्थितिमें अंतर है।

'भाव' शब्दका निक्षेपके सूत्रमें उल्लेख होने पर भी यहाँ किसलिये कहा है?

निक्षेपके सूत्र ५ वें में भावका अर्थ यह है कि वर्तमानमें जो अवस्था मौजूद हो उसे भावनिक्षेप समझना और भविष्यमें होनेवाली अवस्थाको वर्तमानमें कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। यहां ८ वें सूत्रमें 'भाव' शब्दसे औपशमिक क्षायिक आदि भावोंका ग्रहण किया है, जैसे औपशमिक भी सम्यग्दर्शन है और क्षायिक आदि भी सम्यग्दर्शन कहे जाते हैं। इसप्रकार दोनों जगह (५ वें और ८ वें सूत्रमें) भाव शब्दका पृथक् प्रयोजन है।

विस्तृत वर्णनका प्रयोजन

कितने ही शिष्य अल्प कथनसे विशेष तात्पर्य समझ लेते हैं और कितने ही शिष्य ऐसे होते हैं कि विस्तारपूर्वक कथन करने पर समझ सकते हैं। परम कल्याणमय आचार्यका सभीको तत्त्वोंका स्वरूप समझानेका उद्देश्य है। प्रमाण नयसे ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है तथापि विस्तृत कथनसे समझ सकने वाले जीवोंको निर्देश आदि तथा सत् संख्यादिका ज्ञान करानेके लिये पृथक् पृथक् सूत्र कहे हैं। ऐसी शंका ठीक नहीं है कि एक सूत्रमें दूसरेका समावेश हो जाता है इसलिये विस्तारपूर्वक कथन व्यर्थ है।

ज्ञान संबंधी विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्नः—इस सूत्रमें ज्ञानके सत्-संख्यादि आठ भेद ही क्यों कहे गये हैं, कम या अधिक क्यों नहीं कहे गये ?

उत्तरः—निम्नलिखित आठ प्रकारका निषेध करनेके लिये वे आठ भेद कहे गये हैं—

१—नास्तिक कहता है कि 'कोई वस्तु है ही नहीं'। इसलिये 'सत्' को सिद्ध करनेसे उस नास्तिकका तर्क खंडित कर दिया गया है।

२—कोई कहता है कि 'वस्तु' एक ही है, उसमें किसी प्रकारके भेद नहीं हैं। 'संख्या' को सिद्ध करनेसे यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

३—कोई कहता है कि–'वस्तुके प्रदेश (आकार) नहीं हैं'। 'क्षेत्र'के सिद्ध करनेसे यह तर्क खंडित कर दिया गया है।

४—कोई कहता है कि 'वस्तु क्रिया रहित है'। स्पर्शन के सिद्ध करनेसे यह तर्क खण्डित कर दिया गया। [नोटः—एक स्थान से दूसरे स्थानपर जाना सो क्रिया है]

५—'वस्तुका प्रलय (सर्वथा नाश) होता है' ऐसा कोई मानता है। 'काल' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

६—कोई यह मानता है कि 'वस्तु क्षणिक है' 'अन्तर' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

७—कोई यह मानता है कि 'वस्तु' कूटस्थ है। 'भाव'के सिद्ध करनेसे यह तर्क खण्डित कर दिया गया है। (जिसकी स्थिति न बदले उसे कूटस्थ कहते हैं।)

८—कोई यह मानता है कि 'वस्तु सर्वथा एक ही है अथवा वस्तु सर्वथा अनेक ही है'। 'अल्पबहुत्व'–के सिद्ध करनेसे यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

[देखो प्रश्नोत्तर सर्वार्थसिद्धि पृ० [illegible]]

सूत्र ४ से ८ तकका तात्पर्यरूप सिद्धान्त

जिज्ञासु जीवोंको जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वोंका जानना, छोड़ने योग्य मिथ्यात्व-रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिके स्वरूपकी पहिचान करना, प्रमाण और नयोंके द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करना तथा निर्देश स्वामित्वादि और सत् संख्यादिके द्वारा उसका विशेष जानना चाहिये।

अब सम्यग्ज्ञानके भेद कहते हैं—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थः—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच **[ज्ञानम्]** ज्ञान हैं।

टीका

(१) **मतिज्ञानः**-पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा (अपनी शक्तिके अनुसार) जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञानः—मतिज्ञानके द्वारा जाने हुये पदार्थको विशेषरूपसे जानना सो श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञानः—जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय या मनके निमित्तके विना रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञानः—जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके विना ही दूसरे पुरुषके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं

केवलज्ञानः—समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायोंको एक साथ प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं।

(२) इस सूत्रमें 'ज्ञानम्' शब्द एक वचनका है, वह यह वतलाता है कि ज्ञानगुण एक है और उसकी पर्यायके ये ५ भेद हैं। इनमें जव एक प्रकार उपयोगरूप होता है तब दूसरा प्रकार उपयोगरूप नहीं होता, इसीलिये इन पांचमेंसे एक समयमें एक ही ज्ञानका प्रकार उपयोगरूप होता है।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्ज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी शुद्ध पर्याय है। यह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। सम्यग्ज्ञानका स्वरूप निम्न प्रकार है:—

"सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः"

(तत्वर्थसार पूर्वार्धं गाथा १८ पृष्ठ १४)

अर्थः—जिस ज्ञानमें स्व=अपना स्वरूप, अर्थ=विषय, व्यवसाय=यथार्थ निश्चय, ये तीन वातें पूरी हों उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञानमें विषय प्रतिवोधके साथ साथ स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

नववें सूत्रका सिद्धान्त

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित ज्ञानके समस्त भेदोंको जानकर परभावोंको छोड़कर और निजस्वरूपमें स्थिर होकर जीव जो चैतन्य चमत्कार मात्र है उसमें प्रवेश करता है-गहरा उतर जाता है, वह पुरुष शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है।

(श्री नियमसार गाथा १० की टीकाका श्लोक १७) ॥९॥

कौनसे ज्ञान प्रमाण हैं?

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ—[तत्] उपरोक्त पाँचों प्रकारके ज्ञान ही **[प्रमाणे]** प्रमाण (सच्चे ज्ञान) हैं।

टीका

नववें सूत्रमें कहे हुये पाँचों ज्ञान ही प्रमाण हैं अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं है। प्रमाणके दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह ध्यान रहे कि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्ध (सन्निकर्ष) ये कोई प्रमाण नहीं हैं अर्थात् न तो इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है और न इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्धसे ज्ञान होता है, किन्तु उपरोक्त मति आदि ज्ञान स्वसे होते है इसलिये ज्ञान प्रमाण है।

प्रश्नः—इन्द्रियाँ प्रमाण है क्योंकि उनके द्वारा ज्ञान होता है?

उत्तरः—इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं है क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ है और ज्ञान तो चेतनकी पर्याय है, वह जड़ नहीं है, इसलिये आत्माके द्वारा ही ज्ञान होता है।

(श्री जयधवला [illegible])

प्रश्नः—यह ठीक है न कि प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थ हो तो [illegible] होता है?

उत्तरः—यह ठीक नहीं है। यदि प्रस्तुत पदार्थ (ज्ञेय) और आत्मा [illegible] मिलनेसे ज्ञान होता तो ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनोंको ज्ञान होना चाहिये, किन्तु [illegible]

([illegible])

और उपादान और निमित्त ये दो [illegible] स्वतन्त्र [illegible] न रहे। [illegible] है। [illegible] ऐसा [illegible]

होते हैं। यदि उपादान और निमित्त ये दोनों मिलकर काम करें तो दोनों उपादान हो जांय अर्थात् दोनोंकी एक सत्ता हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं होता।

इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि अपूर्ण ज्ञानका विकास जिस समय अपना व्यापार करता है उस समय उसके योग्य बाह्य पदार्थ अर्थात् इन्द्रियाँ प्रकाश, ज्ञेय पदार्थ, गुरु, शास्त्र इत्यादि (पर द्रव्य) अपने अपने कारणसे ही उपस्थित होते हैं, ज्ञानको उनकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। निमित्त-नैमित्तिकका तथा उपादान-निमित्तका ऐसा मेल होता है।

प्रश्न:—आप सम्यग्ज्ञानका फल अधिगम कहते हो, किन्तु वह (अधिगम) तो ज्ञान ही है, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि सम्यग्ज्ञानका कुछ फल नहीं होता।

उत्तर:—सम्यग्ज्ञानका फल आनन्द (संतोष) उपेक्षा (राग-द्वेष रहितता) और अज्ञानका नाश है। (सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३३४)

इनसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वसे ही होता है, पर पदार्थ से नहीं होता।

सूत्र ९-१० का सिद्धांत

नौवें सूत्रमें कथित पांच सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे लोग भिन्न भिन्न प्रमाण कहते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है। जिस जीवको सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह अपने सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञानके द्वारा अपनेको सम्यक्त्व होनेका निर्णय कर सकता है, और वह ज्ञान प्रमाण अर्थात् सच्चा ज्ञान है ॥ १० ॥

परोक्ष प्रमाणके भेद

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

अर्थ—[आद्ये] प्रारम्भके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [**परोक्षम्**] परोक्ष प्रमाण है।

टीका

[illegible] अर्थात् सम्यग्ज्ञान के भेदोंमेंसे प्रारंभके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [illegible] परोक्ष प्रमाण है इसलिये उन्हें संशयवान या भूलयुक्त नहीं मान [illegible] सर्वथा सच्चे ही हैं। उनके उपयोगके समय इंद्रिय या मन निमित्त [illegible] कारण उन्हें परोक्ष कहा है; स्व-अपेक्षासे पांचों प्रकारके [illegible] है।

प्रश्नः—तब क्या सम्यक्मतिज्ञानवाला जीव यह जान सकता है कि मुझे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है ?

उत्तरः—ज्ञान सम्यक् है इसलिए अपनेको सम्यग्ज्ञान होनेका निर्णय भली भांति कर सकता है; और जहाँ सम्यग्ज्ञान होता है वहाँ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है इसलिये उसका भी निर्णय कर ही लेता है। यदि निर्णय नहीं कर पाये तो वह अपना अनिर्णय अर्थात् अनध्यवसाय कहलायगा, और ऐसा होने पर उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलायगा।

प्रश्नः—सम्यक्मतिज्ञानी दर्शनमोहनीय प्रकृतिके पुद्गलोंको प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, और उसके पुद्गल उदयरूप हों तथा जीव उसमें युक्त होता हो तो क्या उसकी भूल नहीं होगी ?

उत्तरः—यदि भूल होती है तो वह ज्ञान विपरीत होगा, और इसलिए वह ज्ञान 'सम्यक्' नहीं कहला सकता। जैसे शरीरके बिगड़नेपर यह असातावेदनीयका उदय है, सातावेदनीयका उदय नहीं है—ऐसा कर्मके रजकणोंको प्रत्यक्ष देखे बिना श्रुतज्ञानके बलसे यथार्थ जान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने ज्ञान-अनुभवसे श्रुतज्ञानके बलसे वह सम्यक् (यथार्थ) जाना जा सकता है कि दर्शनमोहनीय कर्म उदयरूप नहीं है।

प्रश्नः—क्या सम्यक्मतिज्ञान यह जान सकता है कि अमुक जीव भव्य है या अभव्य ?

उत्तरः—इस संबंधमें श्री धवला शास्त्रमें (पुस्तक ६ पृष्ठ १७ में) लिखा है कि—अवग्रहसे ग्रहण किये गये अर्थको विशेष जाननेकी आकांक्षा 'ईहा' है। किसी पुरुषको देखकर 'यह भव्य है या अभव्य ?' इस प्रकारकी विशेष परीक्षा करना सो 'ईहाज्ञान' है। ईहाज्ञान संदेहरूप नहीं होता, क्योंकि ईहात्मक विचार बुद्धिसे संदेहका विनाश हो जाता है। संदेहसे ऊपर और अवायसे नीचे तथा मध्यमें प्रवृत्त होनेवाली विचारबुद्धिका नाम ईहा है।

* * *

ईहाज्ञानसे जाने गये पदार्थ विषयक संदेहका दूर हो जाना सो 'अवाय' (निर्णय) है। पहले ईहा ज्ञानसे 'यह भव्य है या अभव्य ?' इस प्रकार संदेहरूप बुद्धिके द्वारा विषय किया गया जीव 'अभव्य नहीं भव्य ही है' क्योंकि उसमें भव्यत्वके अविनाभावी [illegible] ज्ञान-चारित्र गुण प्रगट हुये हैं, इसलिए उत्पन्न हुए 'चय' (निश्चय) ज्ञानका नाम 'अवाय' है।

यह अवश्य है कि जो कोई [illegible]
[illegible]

मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्क शास्त्रमें [illegible]
जैसे विशेष कथनमें उस मतिज्ञानको [illegible]
भावश्रुतज्ञानको (यद्यपि वह केवलज्ञानकी [illegible]
कहा है ।

यदि मति और श्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष [illegible]
(ज्ञान) होता है वह भी परोक्ष ही होता, किन्तु [illegible]
[देखो वृहत् द्रव्य संग्रह गाथा ५ के नीचे हिन्दी टीका [illegible]]
उत्सर्ग=सामान्य-General Ordinance-[illegible] Exception-
विशेष नियम ।

नोट—ऐसा उत्सर्ग कथन ध्यानके सम्बन्धमें [illegible]
अपवाद कथन नहीं किया है । [देखो वृहत् द्रव्य संग्रह गाथा [illegible]]
इस प्रकार जहां उत्सर्ग कथन हो वहां अपवाद कथन गर्भित है,-ऐसा समझना चाहिये ।

प्रत्यक्षप्रमाणके भेद

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थः—[**अन्यत्**] शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान [**प्रत्यक्षम्**] प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

टीका

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है । [प्रत्यक्ष=प्रति+अक्ष] 'अक्ष' का अर्थ आत्मा है । आत्माके प्रति जिसका नियम हो अर्थात् जो परनिमित्त-इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदिसे रहित आत्माके आश्रयसे उत्पन्न हो, जिसमें दूसरा कोई निमित्त न हो, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है । १२.

मतिज्ञानके दूसरे नाम

मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम् ॥ १३ ॥

अर्थः—[**मतिः**] मति, [**स्मृतिः**] स्मृति, [**संज्ञा**] संज्ञा [**चिंता**] चिन्ता, [**अभिनिबोध**] अभिनिबोध, [**इति**] इत्यादि, [**अनर्थांतरम्**] अन्य पदार्थ नहीं हैं, अर्थात् वे मतिज्ञानके नामांतर हैं ।

टीका

मतिः—मन अथवा इन्द्रियोंसे, वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादिरूप साक्षात् जानना सो मति है।

स्मृतिः—पहले जाने हुये या अनुभव किये हुये पदार्थका वर्तमानमें स्मरण आना सो स्मृति है।

संज्ञाः—का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमानमें किसी पदार्थको देखने पर 'यह वही पदार्थ है जो पहले देखा था' इसप्रकार स्मरण और प्रत्यक्षके जोड़रूप ज्ञानको संज्ञा कहते हैं।

चिन्ताः—चितवनज्ञान अर्थात् किसी चिह्नको देखकर 'यहाँ उस चिह्न वाला अवश्य होना चाहिए' इसप्रकारका विचार चिन्ता है। इस ज्ञानको ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

अभिनिबोधः—स्वार्थानुमान, अनुमान, उसके दूसरे नाम हैं। सन्मुख चिह्नादि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थका निर्णय करना सो 'अभिनिबोध' है।

यद्यपि इन सबमें अर्थभेद है तथापि प्रसिद्ध रूढ़िके बलसे वे मतिके नामांतर कहलाते हैं। उन सबके प्रगट होनेमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है, यह लक्ष्यमें रखकर उसे मतिज्ञानके नामान्तर कहते हैं।

यह सूत्र सिद्ध करता है कि—जिसने आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं किया वह आत्माका स्मरण नहीं कर सकता; क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत पदार्थकी होती है; इसलिये अज्ञानीको प्रभुस्मरण (आत्मस्मरण) नहीं होता; किन्तु [illegible] स्मरण होता है, क्योंकि उसे उसका अनुभव है। इसप्रकार [illegible] जो जाये कर तथापि उसका ज्ञान मिथ्या होनेसे [illegible] पदार्थका स्मरण होता है।

स्वसंवेदन, बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा, इत्यादि भी मतिज्ञानके भेद हैं।

स्वसंवेदनः—सुखादि अन्तरंग विषयोंका ज्ञान स्वसंवेदन है।

बुद्धिः—बोधमात्रत्व बुद्धि है। [illegible]
([illegible]) पूर्वक ज्ञानमें भेद है।

[illegible]

जो अनुमान ज्ञान हो सो श्रुतानुमान है। चिह्नादिसे उसी पदार्थका अनुमान होना सो मतिज्ञान है और उसी (चिह्नादि) से दूसरे पदार्थका अनुमान होना सो श्रुतज्ञान है ॥ १३ ॥

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके समय निमित्त—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थः—[**इन्द्रियानिन्द्रिय**] इन्द्रियाँ और मन [**तत्**] उस मतिज्ञानके [**निमित्तम्**] निमित्त हैं।

टीका

इन्द्रियः— आत्मा, (इन्द्र=आत्मा) परम ऐश्वर्यरूप प्रवर्तमान है, इसप्रकार अनुमान करानेवाला शरीरका चिह्न।

नो इन्द्रियः— मन; जो सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध मनोवर्गणाके नामसे पहिचाने जाते हैं उनसे बने हुये शरीरका आंतरिक अङ्ग, जो कि अष्टदल कमलके आकार हृदयस्थानमें है।

मतिज्ञानके होनेमें इन्द्रिय—मन निमित्त होता है, ऐसा जो इस सूत्रमें कहा है, सो वह परलक्ष्यी होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षासे कहा है—ऐसा समझना चाहिये। भीतर स्वलक्षमें मन-इन्द्रिय निमित्त नहीं है। जब जीव उस (मन और इन्द्रियके अवलम्बन)से अंशतः पृथक् होता है तब स्वाश्रित तत्त्वका ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

इन्द्रियोंका धर्म तो यह है कि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्णको जाननेमें निमित्त हों, आत्मामें वह नहीं है, इसलिये स्वलक्षमें इन्द्रियां निमित्त नहीं हैं। मनका धर्म यह है कि वह अनेक विकल्पोंमें निमित्त हो। वह विकल्प भी यहां (स्वलक्षमें) नहीं है। जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके द्वारा प्रवृत्त होता था वही ज्ञान निजानुभवमें वर्त रहा है; इसप्रकार [illegible] मन-इन्द्रियां निमित्त नहीं हैं। वह ज्ञान अतीन्द्रिय है। मनका विषय मूर्तिक-[illegible] इसलिये मन सम्बन्धी परिणाम स्वरूपके विषयमें एकाग्र होकर अन्य [illegible] है, इसलिये उसे (उपचारसे) मनके द्वारा हुआ कहा जाता है। [illegible] है।

([illegible] अन्तर्गत रहस्यपूर्ण चिट्ठी पृष्ठ ४-७)

[illegible] है कि मतिज्ञानमें इन्द्रिय—मन निमित्त है। यह नहीं कहा है [illegible] ([illegible]) और आलोक (प्रकाश) निमित्त हैं, क्योंकि अर्थ और

आलोक मतिज्ञानमें निमित्त नहीं हैं। उन्हें निमित्त मानना भूल है। यह विषय विशेष समझने योग्य है, इसलिये इसे प्रमेयरत्नमाला हिन्दी (पृष्ठ ५० से ५५) यहां संक्षेप में दे रहे हैं—

प्रश्नः—सांव्यवहारिक मतिज्ञानका निमित्तकारण इन्द्रियादिको कहा है, उसीप्रकार (ज्ञेय) पदार्थ और प्रकाशको भी निमित्त कारण क्यों नहीं कहा ?

प्रश्नकारका तर्क यह है कि अर्थ (वस्तु) से भी ज्ञान उत्पन्न होता है-और प्रकाशसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि उसे निमित्त न माना जाय तो सभी निमित्त कारण नहीं आ सकते, इसलिये सूत्र अपूर्ण रह जाता है।

समाधानः—आचार्यदेव कहते हैं कि—

"नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्"

(द्वितीय समुद्देश अधिकार)

अर्थः—अर्थ (वस्तु) और आलोक दोनों सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण नहीं हैं, किन्तु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं। जैसे अंधकार ज्ञेय है वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं।

इसी न्यायको बतलानेके लिये तत्पश्चात् सातवां सूत्र दिया है जिसमें कहा गया है कि-ऐसा कोई नियम नहीं है कि जब अर्थ और आलोक हो तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हों तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसके लिये निम्नलिखित दृष्टांत दिये गये हैं—

(१) एक मनुष्यके सिर पर मच्छरोंका समूह उड़ रहा था, किन्तु [illegible] गुच्छा समझा; इसप्रकार यहां अर्थ (वस्तु) ज्ञानका कारण नहीं हुआ।

(२) अंधकारमें बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी [illegible] ज्ञानके होनेमें प्रकाश कारण नहीं हुआ।

उपरोक्त दृष्टान्त (१) मच्छरोंका समूह था किन्तु [illegible] हुआ। यदि अर्थ ज्ञानका कारण होता तो [illegible] समूहका ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? और दृष्टान्त (२) में [illegible] जाता है; यदि प्रकाश ज्ञानका कारण होता तो [illegible]

प्रश्नः—[illegible]

उत्तरः—[illegible]

इसलिये यह निश्चित समझना चाहिये कि बाह्य वस्तु ज्ञानके होनेमें निमित्त कारण नहीं है। आगे नववें सूत्रमें इस न्यायको सिद्ध किया है।

जैसे दीपक घट इत्यादि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता तथापि वह अर्थका प्रकाशक है।
[प्रमेयरत्नमाला सूत्र ८]

जिस ज्ञानकी क्षयोपशम लक्षण योग्यता है वही विषयके प्रति नियम रूप ज्ञान होनेका कारण है, ऐसा समझना चाहिये। [प्रमेयरत्नमाला सूत्र ९]

जब आत्माके मतिज्ञान होता है तब इन्द्रियाँ और मन दोनों निमित्त मात्र होते हैं, वह मात्र इतना बतलाता है कि 'आत्मा' उपादान है। निमित्त अपनेमें (निमित्तमें) शत प्रतिशत कार्य करता है किन्तु वह उपादानमें अंशमात्र कार्य नहीं करता। निमित्त परद्रव्य है; आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है; इसलिये आत्मामें (उपादानमें) उसका (निमित्तका) अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमें घुस नहीं सकता; इसलिए निमित्त उपादानका कुछ नहीं कर सकता। उपादान अपनेमें अपना कार्य स्वतः शत प्रतिशत करता है। मतिज्ञान परोक्षज्ञान है यह ग्यारहवें सूत्रमें कहा है। वह परोक्षज्ञान है इसलिये उस ज्ञानके समय निमित्तकी स्वतः अपने कारणसे उपस्थिति होती है। वह उपस्थिति निमित्त कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिये यह सूत्र कहा है; किन्तु–'निमित्त आत्मामें कुछ भी कर सकता है' यह बतानेके लिये यह सूत्र नहीं कहा है। यदि निमित्त आत्मामें कुछ करता होता तो वह (निमित्त) स्वयं ही उपादान हो जाता।

और निमित्त भी उपादानके कार्य के समय मात्र आरोपकारण है। यदि जीव चक्षुके द्वारा ज्ञान करे तो चक्षु पर निमित्तका आरोप होता है, और यदि जीव अन्य इन्द्रिय या मनके द्वारा ज्ञान करे तो उस पर निमित्तका आरोप होता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें (पर द्रव्यमें) अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें कदापि प्रवेश नहीं है और न अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यकी पर्यायका उत्पादक ही है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने अन्तरंगमें अत्यन्त (सम्पूर्णतया) प्रकाशित है, परमें लेश मात्र भी नहीं है। इसलिए निमित्तभूत वस्तु उपादानभूतवस्तुका कुछ भी नहीं कर सकती। उपादानमें निमित्तकी द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे नास्ति है, और निमित्तमें उपादानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्ति है; इसलिए एक दूसरेका क्या कर सकते हैं? यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ करने लगे तो वस्तु अपने वस्तुत्वको ही खो बैठे; किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता।

[निमित्त = संयोगरूपकारण; उपादान = वस्तुकी सहज शक्ति] इस शास्त्रके दशवें सूत्रकी टीकामें निमित्त-उपादान सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया है, वहाँसे विशेष समझ लेना चाहिये।

उपादान-निमित्त कारण

प्रत्येक कार्यमें दो कारण होते हैं (१) उपादान (२) निमित्त। इनमेंसे उपादान तो निश्चय (वास्तविक) कारण है और निमित्त व्यवहार आरोप-कारण है, अर्थात् वह (जब उपादान कार्य कर रहा हो तब वह उसके) अनुकूल उपस्थितरूप (विद्यमान) होता है। कार्यके समय निमित्त होता है किन्तु उपादानमें वह कोई कार्य नहीं कर सकता, इसलिये उसे व्यवहार कारण कहा जाता है। जब कार्य होता है तब निमित्तकी उपस्थितिके दो प्रकार होते हैं (१) वास्तविक उपस्थिति (२) काल्पनिक उपस्थिति। जब छद्मस्थ जीव विकार करता है तब द्रव्यकर्मका उदय उपस्थितरूप होता ही है, वहाँ द्रव्यकर्मका उदय उस विकारका वास्तविक उपस्थितिरूप निमित्त कारण है। [यदि जीव विकार न करे तो वही द्रव्यकर्मकी निर्जरा हुई कहलाती है। तथा जीव जब विकार करता है तब नो कर्मकी उपस्थिति वास्तवमें होती है अथवा कल्पनारूप होती है।

निमित्त होता ही नहीं, यह कहकर यदि कोई निमित्तके अस्तित्वका इन्कार करे तो, उपादान अपूर्ण हो तब निमित्त उपस्थित होता है, यह बतलाया जाता है, किन्तु वह तो निमित्तका ज्ञान करानेके लिए है। इसलिये जो निमित्तके अस्तित्वको [illegible] स्वीकार न करे उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। यहां सम्यग्ज्ञानका विषय होनेसे [illegible] निमित्त कैसा होता है इसका ज्ञान कराया है। जो यह मानता है कि निमित्त [illegible] है उसकी यह मान्यता मिथ्या है, और इसलिये वह [illegible] नहीं है ॥ १४ ॥

मतिज्ञानके क्रमके भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थः—[अवग्रह ईहा अवाय धारणाः] अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा [illegible] भेद हैं।

टीका

अवग्रहः— [illegible]
[illegible] है। विषय और विषयी [illegible]

(९) **अनुक्तः**—(अकथित) जिस वस्तुका वर्णन नहीं किया उसे जानना। जिसका वर्णन नहीं सुना है फिर भी उस पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(१०) **उक्तः**—कथित पदार्थका ज्ञान होना। वर्णन सुननेके बाद पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(११) **ध्रुवः**—बहुत समय तक ज्ञान जैसाका तैसा बना रहना, अर्थात् दृढ़ता-वाला ज्ञान।

अध्रुवः—प्रतिक्षण हीनाधिक होनेवाला ज्ञान अर्थात् अस्थिरज्ञान।

यह सब भेद सम्यक् मतिज्ञानके हैं। जिसे सम्यक्ज्ञान हो जाता है वह जानता है कि—आत्मा वास्तवमें अपने ज्ञानकी पर्यायोंको जानता है, और पर तो उस ज्ञानका निमित्त मात्र है। 'परको जाना' ऐसा कहना सो व्यवहार है। यदि परमार्थ दृष्टिसे कहा जाय कि 'आत्मा परको जानता है' सो मिथ्या है, क्योंकि ऐसा होनेपर आत्मा और पर (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों एक हो जायेंगे, क्योंकि **'जिसका जो होता है वह वही होता है'** इसलिये वास्तवमें यदि यह कहा जाय कि 'पुद्गलका ज्ञान' है, तो ज्ञान पुद्गलरूप—ज्ञेयरूप हो जायगा, इसलिये यह समझना चाहिये कि निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञानकी पर्यायको आत्मा जानता है।

(देखो श्री समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका)

प्रश्नः—अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञानका विषय कैसे सम्भव है ?

उत्तरः—श्रोत्रज्ञानमें 'अनुक्त'का अर्थ 'ईषत् (थोड़ा) अनुक्त' करना चाहिये; और 'उक्त'का अर्थ 'विस्तारसे लक्षणादिके द्वारा वर्णन किया है' ऐसा करना चाहिये, जिससे नाममात्रके सुनते ही जीवको विशद (विस्ताररूप) ज्ञान हो जाय तो उस जीवको अनुक्त ज्ञान ही हुआ है ऐसा कहना चाहिये। इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुक्तका ज्ञान होता है ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्नः—नेत्रज्ञानमें 'उक्त' विषय कैसे सम्भव है ?

उत्तरः—किसी वस्तुको विस्तारपूर्वक सुन लिया हो और फिर वह देखनेमें आये तो उस समयका नेत्रज्ञान 'उक्त-ज्ञान' कहलाता है। इसीप्रकार श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियोंके द्वारा भी 'उक्त'का ज्ञान होता है।

प्रश्नः—'अनुक्त'का ज्ञान पांच इन्द्रियोंके द्वारा कैसे होता है ?

उत्तरः—श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त चार इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला ज्ञान सदा अनुक्त होता है। और श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा अनुक्तका ज्ञान कैसे होता है सो इसका स्पष्टीकरण पहिले उत्तरमें किया गया है।

प्रश्नः—अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियोंका संयोग होता हो यह हमें दिखाई नहीं देता, इसलिये हम उस संयोगको स्वीकार नहीं कर सकते।

उत्तरः—यह भी ठीक नहीं है। जैसे यदि कोई जन्मसे ही जमीनके भीतर रक्खा गया पुरुष किसी प्रकार बाहर निकले तो उसे घट पटादि समस्त पदार्थोंका आभास होता है, किन्तु उसे जो 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विशेषज्ञान होता है वह उसे परके उपदेशसे ही होता है; वह स्वयं वैसा ज्ञान नहीं कर सकता; इसीप्रकार सूक्ष्म अवयवोंके साथ जो इन्द्रियोंका भिड़ना होता है और उससे अवग्रहादि ज्ञान होता है वह विशेष ज्ञान भी वीतरागके उपदेशसे ही जाना जाता है। अपने भीतर ऐसी शक्ति नहीं है कि उसे स्वयं जान सके; इसलिये केवलज्ञानीके उपदेशसे जब अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादि सिद्ध है तब उनका अभाव कभी नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा होनेवाले इन बारह प्रकारके मतिज्ञानका स्पष्टीकरण—

१—श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा

बहुः—एक-तत (तांतका शब्द) वितत ([illegible]) और सुषिर (बांसुरी आदिका शब्द) [illegible] है। उसमें तत इत्यादि भिन्न भिन्न शब्दोंका ग्रहण [illegible] सामान्यको वह ग्रहण करता है, ऐसा [illegible] अवग्रह हुआ।

प्रश्नः—[illegible]

[illegible]

उत्तरः—यह ठीक नहीं है; [illegible] है इसलिये उसे भी [illegible] ज्ञान होता है।

[illegible]

बहुविध-एकविधः—[illegible]

विशुद्धिके बलसे ऐसा ज्ञान हो जाय कि 'वह यह स्वर बाजेमें बजायगा', उसी समय 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मन्दताके कारण बाजेके द्वारा वह स्वर गाया जाय उस समय जानना सो 'उक्त' पदार्थका अवग्रह है।

ध्रुव-अध्रुवः—विशुद्धिके बलसे जीवने जिसप्रकार प्रथम समयमें शब्दको ग्रहण किया उसीप्रकार निश्चयरूपसे कुछ समय ग्रहण करना चालू रहे—उसमें किंचित्‌मात्र भी न्यूनाधिक न हो, सो 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह है।

बारम्बार होनेवाले संक्लेश तथा विशुद्ध परिणामस्वरूप कारणोंसे जीवके श्रोत्र इन्द्रियादिका कुछ आवरण और कुछ अनावरण (क्षयोपशम) भी रहता है। इसप्रकार श्रोत्र इन्द्रियादिके आवरणकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष दशा रहती है; उस समय न्यूनाधिकता जाननेके कारण कुछ चल-विचलता रहती है। इससे उस 'अध्रुव' पदार्थका अवग्रह कहलाता है तथा कभी तत इत्यादि बहुतसे शब्दोंका ग्रहण करना; कभी थोड़का, कभी बहुतका, कभी बहुत प्रकारके शब्दोंका ग्रहण करना; कभी एक प्रकारका, कभी जल्दी, कभी देरसे, कभी अनिःसृत शब्दका ग्रहण करना, कभी निःसृतका, कभी अनुक्त शब्दका और कभी उक्तका ग्रहण करना। इसप्रकार जो चल-विचलतासे शब्दका ग्रहण करना सो सब 'अध्रुवावग्रह' का विषय है।

शंका-समाधान

शंकाः—'बहु' शब्दों के अवग्रह में तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है और [illegible] शब्दोंके अवग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है, तो [illegible]

समाधानः—जैसे गंभीरतायुक्त कोई विद्वान [illegible] नहीं करता और एक सामान्य (संक्षेप) अर्थका [illegible] शास्त्रोंमें पाये जाने वाले एक दूसरेमें अन्तर [illegible] करते हैं; उसीप्रकार बहु और बहुविध दोनों [illegible] शब्दोंका ग्रहण है; तथापि जिस अवग्रहमें तत आदि [illegible] [illegible] और [illegible] प्रकारके भेदोंका ग्रहण है [illegible] [illegible] शब्दोंका ग्रहण [illegible] बहुविध [illegible] [illegible] है; और जिस अवग्रहमें [illegible] [illegible] अवग्रह कहलाता है।

'अव्यक्त' का अर्थ

जैसे मिट्टीके कोरे घड़ेको पानीके छींटे डालकर भिगोना प्रारम्भ किया जाय तो थोड़े छींटे पड़ने पर भी वे ऐसे सूख जाते हैं कि देखनेवाला उस स्थानको भीगा हुआ नहीं कह सकता, तथापि युक्तिसे तो वह 'भीगा हुआ ही है,' यह बात मानना ही होगी। इसी-प्रकार कान, नाक, जीभ और त्वचा यह चार इन्द्रियां अपने विषयोंके साथ भिड़ती हैं तभी ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये पहिले ही, कुछ समय तक विषयका मन्द सम्बन्ध रहनेसे ज्ञान (होनेका प्रारम्भ हो जाने पर भी) प्रगट मालूम नहीं होता, तथापि विषयका सम्बन्ध प्रारम्भ हो गया है इसलिये ज्ञानका होना भी प्रारम्भ हो गया है—यह बात युक्तिसे अवश्य मानना पड़ती है। **उसे (उस प्रारम्भ हुए ज्ञानको) अव्यक्तज्ञान अथवा व्यंजनावग्रह कहते हैं।**

जब व्यंजनावग्रहमें विषयका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं जाना जाता तब फिर विशेषताकी शंका तथा समाधानरूप ईहादि ज्ञान तो कहांसे हो सकता है? इसलिये अव्यक्तका अवग्रहमात्र ही होता है। ईहादि नहीं होते।

'व्यक्त' का अर्थ

मन तथा चक्षुके द्वारा होनेवाला ज्ञान विषयके साथ सम्बद्ध (स्पर्शित) होकर नहीं हो सकता किन्तु दूर रहनेसे ही होता है, इसलिये मन और चक्षुके द्वारा जो ज्ञान होता है वह 'व्यक्त' कहलाता है। चक्षु तथा मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान अव्यक्त कदापि नहीं होता, इसलिये उसके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है।

अव्यक्त और व्यक्त ज्ञान

उपरोक्त अव्यक्त ज्ञानका नाम व्यंजनावग्रह है। जबसे विषयकी व्यक्तता भासित होने लगती है तभीसे उस ज्ञानको व्यक्तज्ञान कहते हैं, उसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थावग्रह (अर्थ सहित अवग्रह) सभी इन्द्रियों तथा मनके द्वारा होता है।

ईहा

अर्थावग्रहके बाद ईहा होता है। अर्थावग्रह ज्ञानमें किसी पदार्थकी जितनी विशेषता भासित हो चुकी है उससे अधिक जाननेकी इच्छा हो तो वह ज्ञान सत्यकी ओर अधिक झुकता है, इसे ईहाज्ञान कहा जाता है; वह (ईहा) सुदृढ़ नहीं होता। ईहामें प्राप्त हुए सत्य विषयका यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं होता तथापि ज्ञानका अधिकांश वहां होता है। वह (ज्ञानके अधिकांश) विषयके सत्यार्थग्राही होते हैं, इसलिये ईहाको सत्य ज्ञानोंमें गिना गया है।

अवाय

अवायका अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है। ईहाके बादके काल तक ईहाके विषय पर लक्ष रहे तो ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है; और उसे अवाय कहते हैं। ज्ञानके अवग्रह, ईहा, और अवाय इन तीनों भेदोंमेंसे अवाय उत्कृष्ट अथवा सर्वाधिक विशेषज्ञान है।

धारणा

धारणा अवायके बाद होती है। किन्तु उसमें कुछ अधिक दृढ़ता उत्पन्न होनेके अतिरिक्त अन्य विशेषता नहीं है। धारणाकी सुदृढ़ताके कारण एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जानेसे पूर्वके अनुभवका स्मरण हो सकता है।

एकके बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं?

अवग्रह होनेके बाद ईहा हो या न हो; और यदि अवग्रहके बाद ईहा हो तो एक ईहा ही होकर छूट जाता है और कभी अवाय भी होता है। अवाय होनेके बाद धारणा होती है और नहीं भी होती।

ईहाज्ञान सत्य है या मिथ्या?

जिस ज्ञानमें दो विषय ऐसे आ जायें जिनमें एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या, तो (ऐसे समय) जिस अंश पर ज्ञान करनेका अधिक ध्यान हो उसके अनुसार [illegible] मिथ्या मान लेना चाहिये। जैसे-एक चन्द्रमाके देखने पर यदि दो चन्द्रमा [illegible] और वहाँ यदि देखनेवालेका लक्ष केवल चन्द्रमाको समझ [illegible] मानना चाहिये, और यदि देखनेवालेका लक्ष एक या दो [illegible] हो तो उस ज्ञानको असत्य (मिथ्या) मानना चाहिये।

इस नियमके अनुसार ईहामें ज्ञानकी अधिकांश [illegible] इसलिये ईहाको सत्यज्ञानमें माना गया है।

(तत्त्वार्थसार सनातन जैन ग्रंथमाला [illegible] पृष्ठ [illegible])

'धारणा' और 'संस्कार' संबंधी स्पष्टीकरण

शंका—धारणा किसी [illegible]

शंकाकारका तर्कः—यदि उपयोगरूप ज्ञानका नाम धारणा हो तो वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य-कारणरूप पदार्थोंमें परस्पर कालका अंतर नहीं रह सकता। धारणा कब होती है और स्मरण कब, इसमें कालका बहुत बड़ा अन्तर पड़ता है। यदि उसे (धारणाको) संस्काररूप मानकर स्मरणके समय तक विद्यमान माननेकी कल्पना करें तो वह प्रत्यक्षका भेद नहीं होता; क्योंकि संस्काररूप ज्ञान भी स्मरणकी अपेक्षासे मलिन है; स्मरण उपयोगरूप होनेसे अपने समयमें दूसरा उपयोग नहीं होने देता और स्वयं कोई विशेषज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु धारणाके संस्काररूप होनेसे उसके रहने पर भी अन्यान्य अनेक ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, और स्वयं वह धारणा तो अर्थका ज्ञान ही नहीं करा सकती।

[यह शंकाकारका तर्क है, उसका समाधान करते हैं]

समाधानः—'धारणा' उपयोगरूप ज्ञानका भी नाम है और संस्कारका भी नाम है। धारणाको प्रत्यक्ष ज्ञानमें माना है और उसकी उत्पत्ति भी अवायके बाद ही होती है; उसका स्वरूप भी अवायकी अपेक्षा अधिक दृढ़रूप है; इसलिये उसे उपयोगरूप ज्ञानमें गर्भित करना चाहिए।

वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करती है और कार्यके पूर्वक्षणमें कारण रहना ही चाहिये, इसलिये उसे संस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो स्मरणके समय तक रहता है उसे किसी किसी जगह धारणासे पृथक् गिनाया है और किसी किसी जगह धारणाके नामसे कहा है। धारणा तथा उस संस्कारमें कारण-कार्य सम्बन्ध है। इसलिये जहाँ भेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न गिने जाते हैं और जहाँ अभेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न न गिनकर केवल धारणाको ही स्मरणका कारण कहा है।

चार भेदोंकी विशेषता

इसप्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह चार मतिज्ञानके भेद हैं; उसका स्वरूप उत्तरोत्तर उत्तम-अधिक अधिक शुद्ध होता है और उसे पूर्व पूर्व ज्ञानका कार्य समझना चाहिये। एक विषयकी उत्तरोत्तर विशेषता उसके द्वारा जानी जाती है, इसलिये इन चारों ज्ञानोंको एक ही ज्ञानके विशेष प्रकार भी कह सकते हैं। मति स्मृति-आदिकी भांति उसमें कालका असम्बन्ध नहीं है तथा बुद्धि मेधादिकी भांति विषयका असम्बन्ध भी नहीं है ॥१८॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थः—व्यंजनावग्रह [**चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्**] नेत्र और मनसे [**न**] नहीं होता।

टीका

मतिज्ञानके २८८ भेद सोलहवें सूत्रमें कहे गये हैं, और व्यंजनावग्रह चार इन्द्रियोंके द्वारा होता है, इसलिये उसके बहु, बहुविध आदि बारह भेद होने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं। इसप्रकार मतिज्ञानके ३३६ प्रभेद होते हैं॥ १९ ॥

श्रुतज्ञानका वर्णन, उत्पत्तिका क्रम तथा उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थः—[**श्रुतम्**] श्रुतज्ञान [**मतिपूर्वं**] मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञानके बाद होता है, वह श्रुतज्ञान [**द्व्यनेकद्वादशभेदम्**] दो, अनेक और बारह भेदवाला है।

टीका

(१) सम्यग्ज्ञानका विषय चल रहा है, [देखो सूत्र ९] इसलिये [illegible] श्रुतज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाला सूत्र है,—ऐसा समझना चाहिये। [illegible] सम्बन्धमें ३१ वां सूत्र कहा है।

(२) **श्रुतज्ञानः**—मतिज्ञानसे [illegible] करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे—

१—[illegible]

[illegible]

(३) मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए विषयका अवलम्बन लेकर जो **उत्तर तर्कणा** (दूसरे विषयके सम्बन्धमें विचार) जीव करता है सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानके दो भेद हैं- (१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। "आत्मा" शब्दको सुनकर आत्माके गुणोंको हृदयमें प्रगट करना सो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षर और पदार्थमें वाचक-वाच्य सम्बन्ध है। 'वाचक' शब्द है उसका ज्ञान मतिज्ञान है; और उसके निमित्तसे 'वाच्य' का ज्ञान होना सो श्रुतज्ञान है। परमार्थसे ज्ञान कोई अक्षर नहीं है; अक्षर तो जड़ हैं; वह पुद्गलस्कन्धकी पर्याय है; वह निमित्त मात्र है। 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' कहने पर कार्यमें कारणका (निमित्तका) मात्र उपचार किया गया समझना चाहिए।

(४) श्रुतज्ञान ज्ञानगुणकी पर्याय है; उसके होनेमें मतिज्ञान निमित्तमात्र है। श्रुतज्ञानसे पूर्व ज्ञानगुणकी मतिज्ञानरूप पर्याय होती है, और उस उपयोगरूप पर्यायका व्यय होने पर श्रुतज्ञान प्रगट होता है, इसलिये मतिज्ञानका व्यय श्रुतज्ञानका निमित्त है; वह 'अभावरूप निमित्त' है; अर्थात् मतिज्ञानका जो व्यय होता है वह श्रुतज्ञानको उत्पन्न नहीं करता; किन्तु श्रुतज्ञान तो अपने उपादान कारणसे उत्पन्न होता है। (मतिज्ञानसे श्रुतज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।)

(५) **प्रश्नः**—जगतमें कारणके समान ही कार्य होता है; इसलिये मतिज्ञानके समान ही श्रुतज्ञान होना चाहिये ?

उत्तरः—उपादान कारणके समान कार्य होता है; निमित्त कारणके समान नहीं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें दण्ड, चक्र, कुम्हार, आकाश इत्यादि निमित्त कारण होते हैं; किन्तु उत्पन्न हुआ घट उन दण्ड चक्र कुम्हार आकाश आदिके समान नहीं होता; किन्तु वह भिन्न स्वरूप ही (मिट्टीके स्वरूप ही) होता है। इसीप्रकार श्रुतज्ञानके उत्पन्न होनेमें मति नाम (केवल नाम) मात्र बाह्य कारण है; और उसका स्वरूप श्रुतज्ञानसे भिन्न है।

(६) एकबार श्रुतज्ञानके होनेपर फिर जब विचार प्रलम्बित होता है। तब दूसरा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके बीचमें आये बिना भी उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नः—ऐसे श्रुतज्ञानमें 'मतिपूर्व' इस सूत्रमें दी गई व्याख्या कैसे लागू होती है ?

उत्तरः—उसमें पहिला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक हुआ था, इसलिये दूसरा श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक है ऐसा उपचार किया जा सकता है। सूत्रमें 'पूर्व' पहिले 'साक्षात्' शब्दका प्रयोग नहीं किया है, इसलिये यह समझना चाहिये कि श्रुतज्ञान साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परा-मतिपूर्वक—ऐसे दो प्रकारसे होता है।   (श्री धवल पु. १३ पृष्ठ २८३-२८४)

(७) भावश्रुत और द्रव्यश्रुत—

श्रुतज्ञानमें तारतम्यकी अपेक्षासे भेद होता है; और उसके निमित्तमें भी भेद होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इन दोनोंमें दो, अनेक और बारह भेद होते हैं। भावश्रुतको भावागम भी कह सकते हैं; और उसमें द्रव्यागम निमित्त होता है। द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं; (१) अङ्ग प्रविष्ट और (२) अङ्ग बाह्य। अङ्ग प्रविष्टके बारह भेद हैं।

(८) अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—पर्यायज्ञान और पर्यायसमास। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके उत्पन्न होते समय जो पहिले समयमें सर्व जघन्य श्रुतज्ञान होता है सो पर्याय ज्ञान है। दूसरा भेद पर्यायसमास है। सर्वजघन्यज्ञान से अधिक ज्ञानको पर्यायसमास कहते हैं। [उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं] निगोदिया जीवके सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता; किन्तु मिथ्याश्रुत होता है; इसलिये यह दो भेद सामान्य श्रुतज्ञान की अपेक्षासे कहे हैं ऐसा समझना चाहिये।

(९) यदि सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद न करके;—सामान्य मतिश्रुतज्ञानका विचार करें तो प्रत्येक छद्मस्थ जीवके मति और श्रुतज्ञान होता है। स्पर्शके द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है; और उसके सम्बन्धसे ऐसा ज्ञान होना कि 'यह [illegible] नहीं है या है' सो श्रुतज्ञान है, वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रियादि असैनी जीवोंके अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। सैनीपंचेन्द्रिय जीवोंके दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।

(१०) प्रमाणके दो प्रकार—

प्रमाण दो प्रकार का है—(१) स्वार्थप्रमाण, (२) परार्थप्रमाण। [illegible] स्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। [illegible] प्रमाण स्वार्थ-परार्थ दोनों रूप है; इसलिये [illegible] है और वचन उसका निमित्त है। [illegible] अंश 'नय' है।

[[illegible] पृष्ठ [illegible] सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ [illegible]]

(११) 'श्रुत' का अर्थ—

[illegible]

सूत्र ११ से २० तकका सिद्धांत

जीवको सम्यग्दर्शन होते ही सम्यक्मति और सम्यक्श्रुतज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य, ऐसा समझना चाहिये। यह जो सम्यक्मति और श्रुतज्ञानके भेद दिये गये हैं वे ज्ञान विशेष निर्मलता होनेके लिये दिये गये हैं; उन भेदोंमें अटककर रागमें लगे रहनेके लिये नहीं दिये गये हैं; इसलिये उन भेदोंका स्वरूप जानकर जीवको अपने त्रैकालिक अखण्ड अभेद चैतन्यस्वभावकी ओर उन्मुख होकर निर्विकल्प होनेकी आवश्यकता है ॥ २० ॥

अवधिज्ञानका वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

अर्थः—[**भवप्रत्ययः**] भवप्रत्यय नामक [**अवधिः**] अवधिज्ञान [**देवनारकाणाम्**] देव और नारकियोंके होता है।

टीका

(१) अवधिज्ञानके दो भेद हैं (१) भवप्रत्यय, (२) गुणप्रत्यय। प्रत्यय, कारण और निमित्त तीनों एकार्थ वाचक शब्द हैं। यहाँ 'भवप्रत्यय' शब्द बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे कहा है, अंतरंग निमित्त तो प्रत्येक प्रकारके अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है।

(२) देव और नारक पर्यायके धारण करनेपर जीवको जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है। जैसे पक्षियोंमें जन्मका होना ही आकाशमें गमनका निमित्त होता है, न कि शिक्षा, उपदेश, जप-तप इत्यादि। इसीप्रकार नारकी और देवकी पर्यायमें उत्पत्ति मात्रसे अवधिज्ञान प्राप्त होता है। [यहां सम्यग्ज्ञानका विषय है, फिर भी सम्यक् या मिथ्याका भेद किये बिना सामान्य अवधिज्ञानके लिये 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है।]

(३) भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थंकरोंके (गृहस्थदशामें) होता है, वह नियमसे देशावधि होता है। वह समस्त प्रदेश से उत्पन्न होता है।

(४) 'गुणप्रत्यय'—किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीवके पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहलाता है ॥२१॥

(८) कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है; अर्थात् जीव अपने पुरुषार्थसे अपने ज्ञानकी विशुद्ध अवधिज्ञान पर्यायको प्रगट करता है उसमें 'स्वयं ही कारण है। अवधिज्ञानके समय अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम स्वयं होता है इतना सम्बन्ध बतानेको निमित्त बताया है। कर्मकी उस समयकी स्थिति कर्मके अपने कारणसे क्षयोपशमरूप होती है, इतना निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। वह यहाँ बताया है।

क्षयोपशमका अर्थः—(१) सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय, (२) देशघाति-स्पर्द्धकोंमें गुणका सर्वथा घात करनेकी शक्तिका उपशम सो क्षयोपशम कहलाता है। तथा—

(९) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें वेदक सम्यक्त्वप्रकृतिके स्पर्द्धकोंको 'क्षय' और मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृतियोंके उदयाभावको उपशम कहते हैं। प्रकृतियोंके क्षय तथा उपशमको क्षयोपशम कहते हैं। (श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २००-२११-२२१)

(१०) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रतके निमित्तसे होता है तथापि वह सभी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती या महाव्रती जीवोंके नहीं होता, क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप परिणामोंमें अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारणभूत परिणाम बहुत थोड़े होते हैं। [श्री जयधवला [illegible]] गुणप्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही हो सकता है, किन्तु वह सभी [illegible] नहीं होता।

सूत्र २१-२२ का सिद्धान्त

यह मानना ठीक नहीं है कि [illegible] अवधिज्ञानका उपयोग [illegible] [illegible] अवधिज्ञान नहीं होता, किन्तु [illegible] अपनेको 'सम्यग्दर्शन हुआ है' [illegible] जिन जीवोंके अवधिज्ञान नहीं होता [illegible] किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन [illegible] होते हैं। इसलिये [illegible]

मनःपर्ययज्ञानके भेद

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थः—[मनःपर्ययः] मनःपर्ययज्ञान [ऋजुमतिविपुलमतिः] ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकारका है।

टीका

(१) मनःपर्ययज्ञानकी व्याख्या नववें सूत्रकी टीकामें की गई है। दूसरेके मनोगत मूर्तिक द्रव्योंको मनके साथ जो प्रत्यक्ष जानता है सो मनःपर्ययज्ञान है।

(२) **द्रव्यापेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका विषयः**—जघन्यरूपसे एक समयमें होनेवाले औदारिक शरीरके निर्जरारूप द्रव्य तक जान सकता है; उत्कृष्टरूपसे आठ कर्मोंके एक समयमें बंधे हुए समयप्रबद्धरूप* द्रव्यके अनन्त भागोंमेंसे एक भाग तक जान सकता है।

क्षेत्रापेक्षासे इस ज्ञानका विषयः—जघन्यरूपसे दो, तीन कोस तकके क्षेत्रको जानता है; और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर जान सकता है। [यहाँ विष्कंभरूप मनुष्यक्षेत्र समझना चाहिए]

कालापेक्षासे इस ज्ञानका विषयः—जघन्यरूपसे दो तीन भवोंका ग्रहण करता है; उत्कृष्टरूपसे असंख्यात भवोंका ग्रहण करता है।

भावापेक्षासे इस ज्ञानका विषयः—द्रव्यप्रमाणमें कहे गये द्रव्यों की शक्तिको (भावको) जानता है। [श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९४]

इस ज्ञानके होनेमें मन अपेक्षामात्र (निमित्तमात्र) कारण है; वह उत्पत्तिका कारण नहीं। इस ज्ञानकी उत्पत्ति आत्माकी शुद्धिसे होती है। इस ज्ञानके द्वारा स्व तथा पर दोनोंके मनमें स्थित रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं। [श्री सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८–४५१–४५२]

दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको भी मन कहते हैं; उनकी पर्यायों (विशेषों) को मनःपर्यय कहते हैं, उसे जो ज्ञान जानता है सो मनःपर्ययज्ञान है। मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति–ऐसे दो भेद हैं।

---

* समयप्रबद्ध–एक समयमें जितने कर्म परमाणु और नो कर्म परमाणु बंधते हैं उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

ऋजुमतिः—मनमें चिंतित पदार्थको जानता है, अचिंतित पदार्थको नहीं; और वह भी सरलरूपसे चिंतित पदार्थ को जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

विपुलमतिः— चिंतित और अचिंतित पदार्थको तथा वक्रचिंतित और अवक्रचिंतित पदार्थको भी जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट संयमधारीके होता है [श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २८-२९] 'विपुल' का अर्थ विस्तीर्ण-विशाल-गंभीर होता है। [उसमें कुटिल, असरल, विषम, सरल इत्यादि गर्भित हैं] विपुलमतिज्ञानमें ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा) सर्वप्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ इत्यादिका भी ज्ञान होता है।

(श्री धवला पुस्तक १३, पृष्ठ ३२८ से ३४४ एवं सूत्र ६० से ७८)

विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी व्यक्त अथवा अव्यक्त मनसे चिंतित या अचिंतित अथवा आगे जाकर चिन्तवन किये जानेवाले सर्वप्रकारके पदार्थोंको जानता है।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८-४५१-४५२)

कालापेक्षासे ऋजुमतिका विषयः— जघन्यरूपसे भूत-भविष्यत्के अपने और दूसरेके दो तीन भव जानता है, और उत्कृष्टरूपसे इसीप्रकार सात आठ भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासेः—यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीनसे [illegible] तथा उत्कृष्टरूपसे तीनसे ऊपर और नीचे नीचे योजनके [illegible] नहीं जानता।

कालापेक्षासे विपुलमतिका विषयः— [illegible] जानता है और उत्कृष्टरूपसे असंख्य [illegible]

क्षेत्रापेक्षासेः— [illegible] जानता है; और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यलोक [illegible]

[illegible]

विपुलमति का अर्थ [illegible]

Complex direct knowledge [illegible] what a man is thinking of now, [illegible] it in the past and will think of it in the future.

[illegible]

अर्थः— मनमें स्थित पेचीदा वस्तुओंका पेचीदगी सहित प्रत्यक्षज्ञान, जैसे एक मनुष्य वर्तमानमें क्या विचार कर रहा है, उसके साथ भूतकालमें उसने क्या विचार किया है और भविष्यमें क्या विचार करेगा, इस ज्ञानका मनोगत विकल्प मनःपर्ययज्ञानका विषय है। (बाह्य वस्तुकी अपेक्षा मनोगतभाव एक अति सूक्ष्म और विजातीय वस्तु है) ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिमें अन्तर

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थः—[**विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां**] परिणामोंकी विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होनेसे पूर्व न छूटना [**तद्विशेषः**] इन दो बातोंसे ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानमें विशेषता (अन्तर) है।

टीका

ऋजुमति और विपुलमति यह दो मनःपर्ययज्ञानके भेद सूत्र २३ की टीकामें दिये गये हैं। इस सूत्रमें स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नहीं छूट सकता, किन्तु वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है। यह भेद चारित्रकी तीव्रताके भेदके कारण होते हैं। संयम परिणामका घटना—उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमति वालेके होता है ॥ २४ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

अर्थः—[अवधिमनःपर्यययोः] अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें [**विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः**] विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा विशेषता होती है।

टीका

मनःपर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव-मुनियोंके ही होता है; और अवधिज्ञान चारों गतियोंके सैनी जीवोंके होता है; यह स्वामीकी अपेक्षासे भेद है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञानका क्षेत्र असंख्यात लोक-प्रमाण तक है; और मनःपर्ययज्ञानका ढाई द्वीप मनुष्यक्षेत्र है। यह क्षेत्रापेक्षासे भेद है।

स्वामी तथा विषयके भेदसे विशुद्धिमें अन्तर जाना जा सकता है, अवधिज्ञानका विषय परमाणु पर्यंत रूपी पदार्थ है, और मनःपर्ययका विषय मनोगत विकल्प है।

विषयका भेद सूत्र २७-२८ की टीकामें दिया गया है; तथा सूत्र २८ की टीकामें अवधिज्ञानका और २३ की टीकामें मनःपर्ययज्ञानका विषय दिया गया है, उन परसे यह भेद समझ लेना चाहिए ॥ २५ ॥

मति-श्रुतज्ञानका विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

अर्थः—[**मतिश्रुतयोः**] मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका [**निबंधः**] विषय-सम्बन्ध [**असर्वपर्यायेषु**] कुछ (न कि सर्व) पर्यायोंसे युक्त [**द्रव्येषु**] जीव पुद्गलादि सर्व द्रव्योंमें है।

टीका

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्योंको जानते हैं, किन्तु उनकी सभी पर्यायोंको नहीं जानते, उनका विषय-सम्बन्ध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोंके साथ होता है।

इस सूत्रमें 'द्रव्येषु' शब्द दिया है जिससे जीव, पुद्गल [illegible] और काल सभी द्रव्य समझना चाहिए। उनकी कुछ पर्यायोंको [illegible] को नहीं।

प्रश्नः—जीव, धर्मास्तिकाय, इत्यादि अमूर्त [illegible] जिससे यह कहा जा सके कि मतिज्ञान सब [illegible]

उत्तरः—अनिन्द्रिय (मन) के [illegible] [illegible] मतिज्ञान [illegible] द्रव्यों को जानता है; और [illegible]

[illegible]

[illegible]

अवधिज्ञानका विषय

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थः—[**अवधेः**] अवधिज्ञानका विषय-सम्बन्ध [**रूपिषु**] रूपी द्रव्योंमें है अर्थात् अवधिज्ञानरूपी पदार्थोंको जानता है ।

टीका

जिसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होता है वह पुद्गल द्रव्य है; पुद्गलद्रव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले संसारी जीवको भी इस ज्ञानके हेतुके लिये रूपी कहा जाता है, [देखो सूत्र २८ की टीका]

जीवके पांच भावोंमेंसे औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक,—यह तीन भाव (परिणाम) ही अवधिज्ञानके विषय हैं; और जीवके शेष-क्षायिक तथा पारिणामिकभाव और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य तथा कालद्रव्य अरूपी पदार्थ हैं, वे अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं होते ।

यह ज्ञान सब रूपी पदार्थों और उनकी कुछ पर्यायोंको जानता है ॥ २७ ॥

मनःपर्ययज्ञानका विषय

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थः—[**तत् अनन्तभागे**] सर्वावधिज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके अनन्तवें भागमें [**मनःपर्ययस्य**] मनःपर्ययज्ञानका विषय-सम्बन्ध है ।

टीका

[illegible] विषयभूत जो पुद्गलस्कंध हैं उनका अनन्तवां भाग करने पर जो [illegible] होता है सो सर्वावधिका विषय है, उसका अनन्तवां भाग ऋजुमति-[illegible] है और उसका अनन्तवां भाग विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानका विषय है ।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४७२)

सूत्र २७-२८ का सिद्धान्त

[illegible] और [illegible] नहीं है, ऐसा यहां कहा गया है । अध्याय

केवलज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायोंको [illegible] एक ही कालमें जानता है; वह ज्ञान सहज (बिना इच्छाके) जानता है। केवलज्ञानमें ऐसी शक्ति है कि अनन्तानन्त लोक-अलोक हों तो भी उन्हें जाननेमें केवलज्ञान समर्थ है।

(विशेष स्पष्टताके लिये देखो अध्याय १ परिशिष्ट ५ [illegible])

शंकाः—केवली भगवानके एक ही ज्ञान होता है या पाँचों ?

समाधानः—पाँचों ज्ञानोंका एक ही साथ रहना नहीं माना जा सकता, क्योंकि मतिज्ञानादि आवरणीय ज्ञान हैं, केवलज्ञानी भगवान क्षीण आवरणीय हैं इसलिये भगवानके आवरणीय ज्ञानका होना सम्भव नहीं है; क्योंकि आवरणके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानोंका (आवरणोंका अभाव होनेके बाद) रहना हो सकता, ऐसा मानना न्याय-विरुद्ध है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २९-३०

मति आदि ज्ञानोंका आवरण केवलज्ञानावरणके नाश होनेके साथ ही सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है। [देखो सूत्र ३० की टीका]

एक ही साथ सर्वथा जाननेकी एक-एक जीवमें सामर्थ्य है।

२९वें सूत्रका सिद्धान्तः—

'मैं परको जानूं तो बड़ा कहलाऊं' ऐसा नहीं, किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्त ज्ञान-ऐश्वर्यरूप है इसलिये मैं पूर्णज्ञानघन स्वाधीन आत्मा हूं,—इसप्रकार पूर्ण साध्यको प्रत्येक जीवको निश्चित् करना चाहिये। इसप्रकार निश्चित् करके स्वसे एकत्व और परसे विभक्त (भिन्न) अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिये। अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जीव क्रमशः आगे बढ़ता है और थोड़े समयमें उसकी पूर्ण ज्ञान-दशा प्रगट हो जाती है ॥ २९ ॥

एक जीवके एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

अर्थः—[एकस्मिन्] एक जीवमें [युगपत्] एक साथ [एकादीनि] एकसे लेकर [आचतुर्भ्यः] चार ज्ञान तक [भाज्यानि] विभक्त करने योग्य हैं, अर्थात् हो सकते हैं।

टीका

(१) एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो हों तो मति और श्रुत होते हैं, तीन हों तो मति श्रुत और अवधि अथवा मति श्रुत और मनःपर्ययज्ञान होते है, चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। एक ही साथ पाँच ज्ञान किसीके नहीं होते। और एक ही ज्ञान एक समयमें उपयोगरूप होता है, केवलज्ञानके प्रगट होने पर वह सदाके लिए बना रहता है। दूसरे ज्ञानोंका उपयोग अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त होता है, उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञानके उपयोगका विषय बदल ही जाता है। केवलीके अतिरिक्त सभी संसारी जीवोंके कमसे कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

(२) क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है, एक कालमें एक ही प्रवर्तित होता है; किन्तु यहां जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे हैं सो चारका विकास एक ही समय होनेसे चार ज्ञानोंकी जाननेरूप लब्धि एक कालमें होती है,—यही कहनेका तात्पर्य है। उपयोग तो एक कालमें एक ही स्वरूप होता है ॥३०॥

सूत्र ९ से ३० तकका सिद्धान्त

आत्मा वास्तवमें परमार्थ है और वह ज्ञान है। [illegible] इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। जो यह ज्ञान नामक एक पद है [illegible] मोक्ष-उपाय है। इन सूत्रोंमें ज्ञानके जो भेद कहे हैं [illegible]

ज्ञानके हीनाधिकरूप भेद [illegible] करते हैं; इसलिये जिसमें समस्त भेदोंका [illegible] आलम्बन करना चाहिए; अर्थात् ज्ञान [illegible] आत्माके स्वभावको [illegible]

१—निजपदको प्राप्त [illegible] होता है। २—आत्माका [illegible]

[illegible]

ज्ञान सामान्यका अवलम्बन करना चाहिये। नववें सूत्रके अन्तमें एकवचन सूचक 'ज्ञानम्' शब्द कहा है, वह भेदोंका स्वरूप जानकर, भेदों परका लक्ष छोड़कर, शुद्धनयके विषयभूत अभेद, अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्माकी ओर अपना लक्ष करनेके लिये कहा है; ऐसा समझना चाहिये [देखो, पाटनी ग्रन्थमालाका श्री समयसार-गाथा २०४, पृष्ट ३१०]

मति श्रुत और अवधिज्ञानमें मिथ्यात्व

मतिश्रुतावधयो विपर्ययाश्च ॥ ३१ ॥

अर्थः—[मतिश्रुतावधयः [मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान **[विपर्ययाः]** विपर्यय भी होते हैं।

टीका

(१) उपरोक्त पांचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु मति श्रुत और अवधि यह तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। उस मिथ्याज्ञानको कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान तथा कुअवधि (विभंगावधि) ज्ञान कहते हैं। अभीतक सम्यग्ज्ञानका अधिकार चला आ रहा है, अब इस सूत्रमें 'च' शब्दसे यह सूचित किया है कि यह तीन ज्ञान सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। सूत्रमें विपर्ययः शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसमें संशय और अनध्यवसाय गर्भितरूपसे आ जाते हैं। मति और श्रुतज्ञानमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय यह तीन दोष हैं; अवधिज्ञानमें संशय नहीं होता, किन्तु अनध्यवसाय अथवा विपर्यय यह दो दोष होते हैं, इसलिये उसे कुअवधि अथवा विभंग कहते हैं। विपर्यय सम्बन्धी विशेष वर्णन ३२ वें सूत्रकी टीकामें दिया गया है।

(२) अनादि मिथ्यादृष्टिके कुमति और कुश्रुत होते हैं। तथा उसके देव और नारकीके भवमें कुअवधि भी होता है। जहाँ जहाँ मिथ्यादर्शन होता है वहाँ वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावी रूपसे होता है ॥ ३१ ॥

प्रश्नः— जैसे सम्यग्दृष्टि जीव नेत्रादि इन्द्रियोंसे रूपादिको सुमतिसे जानता है [illegible] मिथ्यादृष्टि भी कुमतिज्ञानसे उन्हें जानता है, तथा जैसे सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञानसे [illegible] कथन करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञानसे जानता है [illegible] तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानसे रूपी वस्तुओंको जानता है [illegible] मिथ्यादृष्टि कुअवधिज्ञानसे जानता है;—तब फिर मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्या- [illegible]

उत्तर—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

अर्थः—[**यदृच्छोपलब्धेः**] अपनी इच्छासे चाहे जैसा (Whims) ग्रहण करनेके कारण [**सत् असतोः**] विद्यमान और अविद्यमान पदार्थोंका [**अविशेषात्**] भेदरूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होनेसे [**उन्मत्तवत्**] पागलके ज्ञानकी भांति मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

टीका

(१) यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह '**मोक्षशास्त्र है**' इसलिये अविनाशी सुखके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एक ही मार्ग है यह पहिले सूत्रमें बताकर, दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया है; जिसकी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन होता है वे सात तत्त्व चौथे सूत्रमें बताये है, तत्त्वोंको जाननेके लिये प्रमाण और नयके ज्ञानोंकी आवश्यकता है ऐसा ६ वें सूत्रमें कहा है। पांच ज्ञान सम्यक् हैं इसलिये वे प्रमाण हैं, यह ९-१० वें सूत्रमें बताया है और उन पांच सम्यग्ज्ञानोंका स्वरूप ११ से ३० वें सूत्र तक बताया है।

(२) इतनी भूमिका बांधनेके बाद मति श्रुत और अवधि [illegible] मिथ्यारूप भी होते है; और जीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है इसलिये [illegible] जबतक उसका ज्ञान विपर्यय है, यह ३१ वें सूत्रमें [illegible] सर्व प्रथम मिथ्यादर्शनका त्याग करना चाहिये— [illegible] ज्ञान-जो कि सदा मिथ्यादर्शन पूर्वक ही होता है- [illegible] है।

(३) मुमुक्षु [illegible]

१—मिथ्यादृष्टि जीव [illegible]

[illegible]

द्रव्य स्वयं अपने गुणसे अभिन्न है, क्योंकि उससे वह द्रव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। इस प्रकार समझ लेने पर भेदाभेदविपरीतता दूर हो जाती है।

सत्ः—त्रिकाल टिकनेवाला, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय, शुद्ध, यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जीवका ज्ञायकभाव त्रैकालिक अखण्ड है; इसलिये वह सत्, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय और शुद्ध है। इस दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, वस्तुदृष्टि, शिवदृष्टि, तत्त्वदृष्टि और कल्याणकारी दृष्टि भी कहते हैं।

असत्ः—क्षणिक, अभूतार्थ, व्यवहार, भेद, पर्याय, भंग, अविद्यमान; जीवमें होने-वाला विकारभाव असत् है क्योंकि वह क्षणिक है और टालने पर टाला जा सकता है।

जीव अनादिकालसे इस असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है इसलिये उसे पर्यायबुद्धि, व्यवहारविमूढ़, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, मोही और मूढ़ भी कहा जाता है। अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भावको अपना मान रहा है, अर्थात् वह असत्को सत् मान रहा है; इसलिये इस भेदको जानकर जो असत्को गौण करके सत् स्वरूपपर भार देकर अपने ज्ञायक स्वभावकी ओर उन्मुख होता है वह मिथ्याज्ञानको दूर करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है; उसकी उन्मत्तता दूर हो जाती है।

विपर्ययः—भी दो प्रकारका है, सहज और आहार्य।

(१) सहजः—जो स्वतः अपनी भूलसे अर्थात् परोपदेशके विना विपरीतता उत्पन्न होती है।

(२) आहार्यः—दूसरेके उपदेशसे ग्रहणकी गई विपरीतता। यह श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाले कुमतिज्ञानपूर्वक ग्रहण किया गया कुश्रुतज्ञान है।

शंकाः—दया धर्मके जाननेवाले जीवोंके भले ही आत्माकी पहिचान न हो तथापि उन्हें दया धर्मकी श्रद्धा तो होती ही है, तब फिर उनके ज्ञानको अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कैसे माना जा सकता है?

समाधानः—दया धर्मके ज्ञाताओंमें भी आप्त, आगम और पदार्थ (नव तत्त्वों) की यथार्थ श्रद्धासे रहित जो जीव है उनके दयाधर्म आदिमें यथार्थ श्रद्धा होनेका विरोध है; इसलिये उनका ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञानका जो कार्य होना चाहिये वह न हो तो वहां ज्ञानको अज्ञान माननेका व्यवहार लोकमें भी प्रसिद्ध है, क्योंकि पुत्रका कार्य न करने वाले पुत्रको भी लोकमें कुपुत्र कहनेका व्यवहार देखा जाता है।

कल्पनाओं और उन्मत्तताको दूर करनेके लिये यह सूत्र कहा है [illegible]
कहा है क्योंकि मिथ्यात्वसे अनन्त पापोंका [illegible]
है] ॥ ३२ ॥

प्रमाणका स्वरूप कहा गया, अब श्रुतज्ञानके अंशरूप नयका स्वरूप कहते हैं—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

अर्थः—[**नैगम**] नैगम [**संग्रह**] संग्रह [**व्यवहार**] व्यवहार [**ऋजुसूत्र**] ऋजुसूत्र [**शब्द**] शब्द [**समभिरूढ**] समभिरूढ़ [**एवंभूता**] एवंभूत—यह सात [**नयाः**] नय [Viewpoints] हैं।

टीका

वस्तुके अनेक धर्मोंमें से किसी एककी मुख्यता करके अन्य धर्मोंका विरोध किये बिना उन्हें गौण करके साध्यको जानना सो नय है।

प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म रहे हुये हैं इसलिये वह अनेकान्तस्वरूप है। ['अन्त' का अर्थ 'धर्म' होता है] अनेकान्तस्वरूप समझानेकी पद्धतिको 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वाद द्योतक है, अनेकान्त द्योत्य है। स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' होता है, अर्थात् किसी यथार्थ प्रकारकी विवक्षाका कथन स्याद्वाद है। अनेकान्तका प्रकाश करनेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

हेतु और विषयकी सामर्थ्यकी अपेक्षासे प्रमाणसे निरूपण किये गये अर्थके एक देशको कहना सो नय है। उसे 'सम्यक् एकान्त' भी कहते हैं। श्रुतप्रमाण दो प्रकारका है—स्वार्थ और परार्थ। उस श्रुतप्रमाणका अंश नय है। शास्त्रका भाव समझनेके लिए नयोंका स्वरूप समझना आवश्यक है, सात नयोंका स्वरूप निम्नप्रकार है :—

१—नैगमनयः— जो भूतकालकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे अथवा भविष्यकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे तथा वर्तमान पर्यायमें कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है उसका निष्पन्नरूप संकल्प करे, उस ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं। [Figurative]

२—संग्रहनयः—जो समस्त वस्तुओंको तथा समस्त पर्यायोंको संग्रहरूप करके

जानता है तथा कहता है सो संग्रहनय है। जैसे सत् द्रव्य, इत्यादि [General. Common]

३–व्यवहारनय—अनेक प्रकारके भेद करके व्यवहार करे या भेदे सो व्यवहारनय है। जो संग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थको विधिपूर्वक भेद करे सो व्यवहार है। जैसे सत्के दो प्रकार हैं–द्रव्य और गुण। द्रव्यके छह भेद हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुणके दो भेद हैं—सामान्य और विशेष इसप्रकार जहांतक भेद हो सकते हैं वहांतक यह नय प्रवृत्त होता है। [Distributive]

४–ऋजुसूत्रनयः—[ऋजु अर्थात् वर्तमान, उपस्थित, सरल] जो ज्ञानका अंश वर्तमान पर्यायमात्रको ग्रहण करे सो ऋजुसूत्रनय है। [Present condition]

५–शब्दनय—जो नय लिंग, संख्या, कारक आदिके व्यभिचारको दूर करता है सो शब्द नय है। यह नय लिंगादिके भेदसे पदार्थको भेदरूप ग्रहण करता है, जैसे दार (पु०), भार्या (स्त्री०), कलत्र (न०), यह दार, भार्या [illegible] शब्द भिन्न लिंगवाले होनेसे यद्यपि एक ही पदार्थके [illegible] पदार्थको लिंगके भेदसे तीन भेदरूप [illegible] है। [D[illegible]]

६–समभिरूढनयः—(१) जो भिन्न भिन्न [illegible] रूढिसे ग्रहण करे। जैसे गाय [[illegible]] [illegible] ग्रहण करे। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, [illegible] नय [illegible] भिन्न भिन्न अर्थ [illegible] है। [[illegible]]

७–एवंभूतनयः—[illegible] लिंगके पदार्थको [illegible]

प्रश्नः—पंचास्तिकायकी १०७ वीं गाथा की संस्कृत टीका में उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है?

उत्तरः—नहीं, उसमें इसप्रकार शब्द हैं-"मिथ्यात्वोदयजनित-विपरीताभिनिवेश-रहित श्रद्धानम्", वहाँ 'श्रद्धान' कहकर श्रद्धानकी पहिचान कराई है, किन्तु उसे व्यवहार-सम्यक्त्व नहीं कहा है, व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या गाथा १०७ में कथित 'भावाणं' शब्दके अर्थमें कही है।

प्रश्नः—'अध्यात्मकमलमार्तंड' की सातवीं गाथामें उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, [illegible] है?

इसलिये जब उसका अभाव होता है तब पूर्वकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश गाथा १४० पृष्ठ १४३, प्रथमावृत्ति संस्कृत टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नहीं, किन्तु उसका अभाव कारण है।

(११)

व्यवहाराभास सम्यग्दर्शनको कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं

द्रव्यलिंगी मुनिको आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभावकी एकता भी कार्यकारी नहीं है। [देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक देहलीवाला पृष्ठ ३४६]

यहां जो 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' शब्दका प्रयोग हुआ है सो वह भावनिक्षेपसे नहीं किन्तु नामनिक्षेपसे है।

'जिसे स्व–परका यथार्थ श्रद्धान नहीं है किन्तु जो जैनमत कथित देव, गुरु और धर्म–इन तीनोंको मानता है तथा अन्यमतमें कथित देवादिको तथा तत्त्वादिको नहीं मानता [illegible] ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्वसे वह निश्चय सम्यक्त्वी नाम नहीं [illegible] टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी) उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर [illegible] व्यवहार सम्यक्त्व हुआ है ऐसा कहा जाता है, किन्तु उसके [illegible] वास्तवमें उसे व्यवहाराभास सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यादृष्टि जीवको देव–गुरु–धर्मादिका श्रद्धान [illegible] उसे विपरीताभिनिवेशका अभाव नहीं हुआ है, [illegible] इसलिये उसे जो देव-गुरु-धर्म, नव तत्त्वादिका [illegible] लिये कारण नहीं हुआ, और कारण हुए बिना [illegible] नहीं होता, इसलिये उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन [illegible] मात्र नामनिक्षेपसे कहा जाता है। मोक्षमार्ग [illegible]

(१२)

[illegible]

शंका—[illegible]

— १

उत्तर—[illegible]

एक द्रव्य, उसका कोई गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यमें, उसके गुणमें या उसकी पर्यायमें प्रवेश नहीं कर सकते; इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता, ऐसी वस्तुस्थिति-की मर्यादा है। और फिर प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघुत्त्व गुण है क्योंकि वह सामान्यगुण है। उस गुणके कारण कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। इसलिये आत्मा परद्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, शरीरको हिला-डुला नहीं सकता, द्रव्यकर्म या कोई भी परद्रव्य जीवको कभी हानि नहीं पहुँचा सकता,—यह पहिले निश्चय करना चाहिये।

इसप्रकार निश्चय करनेसे जगतके परपदार्थोंके कर्तृत्वका जो अभिमान आत्माके अनादिकालसे चला आ रहा है वह दोष मान्यतामेंसे और ज्ञानमेंसे दूर हो जाता है।

शास्त्रोंमें कहा गया है कि द्रव्यकर्म जीवके गुणोंका घात करते हैं, इसलिये कई लोग मानते हैं कि उन कर्मोंका उदय जीवके गुणोंका वास्तवमें घात करता है, और वे लोग ऐसा ही अर्थ करते हैं, किन्तु उनका यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि वह कथन व्यवहारनयका है जोकि केवल निमित्तका ज्ञान करानेवाला है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि-जब जीव अपने पुरुषार्थके दोषसे अपनी पर्यायमें विकार करता है अर्थात् अपनी पर्यायका घात करता है तब उस घातमें अनुकूल निमित्तरूप जो द्रव्यकर्म आत्मप्रदेशोंसे गिरनेके लिये तैयार हुआ है उसे 'उदय' कहनेका उपचार है अर्थात् उस कर्मपर विपाक उदयरूप निमित्तका आरोप होता है। और यदि जीव स्वयं अपने सत्यपुरुषार्थसे विकार नहीं करता-अपनी पर्यायका घात नहीं करता तो द्रव्यकर्मोंके उसी समूह को 'निर्जरा' नाम दिया जाता है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करने मात्रके लिये उस व्यवहार कथनका अर्थ होता है। यदि अन्य प्रकारसे (शब्दानुसार ही) अर्थ किया जाय तो इस सम्बन्धके बदले कर्ता-कर्मका सम्बन्ध माननेके बराबर होता है, अर्थात् उपादान-निमित्त, निश्चय, व्यवहार एकरूप हो जाता है; अथवा एक ओर जीवद्रव्य और दूसरी ओर अनन्त पुद्गल-द्रव्य है, सो अनन्त द्रव्योंने मिलकर जीवमें विकार किया है ऐसा उसका अर्थ हो जाता है, जो कि ऐसा नहीं हो सकता। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये कर्मके उदयने जीवपर असर करके हानि पहुँचाई,—उसे परिणमित किया, इत्यादि प्रकारसे उपचारसे कहा जाता है किन्तु उसका यदि उस शब्दके अनुसार ही अर्थ किया जाय तो वह मिथ्या है।

[देखो, समयसार गाथा १२२ से १२५, १३०, तथा ३३७ से ३४४, ४१२ अमृतचन्द्राचार्यकी टीका तथा समयसार कलश नं० २११-१२-१३-२१६]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पहिले स्वद्रव्य-परद्रव्यकी भिन्नता निश्चित करना चाहिए और फिर क्या करना चाहिए सो कहते हैं।

– २ –

स्वद्रव्य और परद्रव्यकी भिन्नता निश्चित करके, परद्रव्यों परसे लक्ष छोड़कर स्व-द्रव्यके विचारमें आना चाहिये, वहाँ आत्मामें दो पहलू हैं उन्हें जानना चाहिये। एक पहलू-आत्माका प्रतिसमय त्रिकाल अखण्ड परिपूर्ण चैतन्यस्वभावरूपपना द्रव्य-गुण-पर्यायसे (वर्तमान पर्यायको गौण करने पर) है, आत्माका यह पहलू निश्चयनयका विषय है। इस पहलूको निश्चय करनेवाले ज्ञानका पहलू 'निश्चयनय' है।

दूसरा पहलू—वर्तमान पर्यायमें दोष है–विकार है, अल्पज्ञता है, यह निश्चय करना चाहिये। यह पहलू व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार दो नयोंके द्वारा आत्माके दोनों पहलुओंका निश्चय करनेके बाद पर्यायका आश्रय छोड़कर अपने त्रिकाल चैतन्यस्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिये।

इसप्रकार त्रैकालिक द्रव्यकी ओर उन्मुख होनेपर—वह त्रैकालिक नित्य पहलू होनेसे उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यद्यपि निश्चयनय और सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न भिन्न गुणोंकी पर्यायें हैं तथापि इन दोनों-का विषय एक है अर्थात् उन दोनोंका विषय एक, अखण्ड, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा है, उसे दूसरे शब्दोंमें 'त्रैकालिक ज्ञायक स्वरूप' कहा जाता है। [illegible] देव, गुरु, शास्त्र अथवा निमित्त, पर्याय, गुणभेद, या [illegible] क्योंकि उसका विषय उपरोक्त कथनानुसार त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप [illegible]

(१२)

निर्विकल्प अनुभवका प्रारम्भ

निर्विकल्प अनुभवका प्रारम्भ चौथे गुणस्थानसे [illegible] यह बहुतकालके अन्तरसे होता है, और [illegible] ऊपरके गुणस्थानोंमें निर्विकल्पतामें भेद [illegible] विशेष है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्र० [illegible] पृष्ठ ७ तथा धवल पु० १ [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

उत्तरः—स्वानुभवदशामें जो आत्माको जाना जाता है सो श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। वह मतिज्ञान-श्रुतज्ञान परोक्ष है इसलिये वहां आत्माका जानना प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ जो आत्माको भलीभांति स्पष्ट जानता है उसमें पारमार्थिक प्रत्यक्षत्व नहीं है। तथा जैसे पुद्गल पदार्थ नेत्रादिके द्वारा जाना जाता है उसीप्रकार एकदेश (अंशतः) निर्मलतापूर्वक भी आत्माके असंख्यात प्रदेशादि नहीं जाने जाते, इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं है।

अनुभवमें आत्मा तो परोक्ष ही है, कहीं आत्माके प्रदेशोंका आकार भासित नहीं होता, परन्तु स्वरूपमें परिणाम मग्न होनेपर जो स्वानुभव हुआ वह (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है। इस स्वानुभवका स्वाद कहीं आगम-अनुमानादि परोक्षप्रमाणके द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु स्वयं ही इस अनुभवके रसास्वादको प्रत्यक्ष वेदन करता है, जानता है। जैसे कोई अन्य पुरुष मिश्रीका स्वाद लेता है, वहाँ मिश्रीका आकारादि परोक्ष है, किन्तु जिह्वाके द्वारा स्वाद लिया है इसलिये वह स्वाद प्रत्यक्ष है,—ऐसा अनुभवके सम्बन्धमें जानना चाहिए। [टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी।] यह दशा चौथे गुणस्थानमें होती है।

इस प्रकार आत्मा का अनुभव जाना जा सकता है, और जिस जीवको उसका अनुभव होता है उसे सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिए मति-श्रुतज्ञानसे सम्यग्दर्शन भलीभांति जाना जा सकता है। [श्री प्रवचनसार गाथा ३३-३४ टीका]

प्रश्नः—इस सम्बन्धमें पंचाध्यायीकारने क्या कहा है?

उत्तरः—पंचाध्यायीके पहले अध्यायमें मति-श्रुतज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि—

अपि किंचाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥

अर्थः—और विशेष यह है कि—स्वानुभूतिके समय जितना भी पहिले उस मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका द्वैत रहता है उतना वह सब साक्षात् प्रत्यक्षकी भाँति प्रत्यक्ष है, दूसरा नहीं-परोक्ष नहीं।

भावार्थः—तथा उस मति और श्रुतज्ञानमें भी इतनी विशेषता है कि—जिस समय उन दो ज्ञानोंमेंसे किसी एक ज्ञानके द्वारा स्वानुभूति होती है उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्माको प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए यह दोनों ज्ञान भी स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हैं—परोक्ष नहीं।

प्रश्नः--क्या इस सम्बन्धमें कोई और शास्त्राधार है ?

उत्तरः—हाँ, पं० टोडरमलजीकृत रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें निम्नप्रकार कहा है:—

"जो प्रत्यक्षके समान होता है उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोकमें भी कहते हैं कि 'हमने स्वप्नमें या ध्यानमें अमुक मनुष्यको प्रत्यक्ष देखा,' यद्यपि उसने प्रत्यक्ष नहीं देखा है तथापि प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ देखा है इसलिये उसे प्रत्यक्ष कह देते हैं; इसीप्रकार अनुभवमें आत्मा प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है"।

प्रश्नः--श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार परमागममें इस सम्बन्धमें क्या कहा है ?

उत्तरः--(१) श्री समयसारकी ४९ वीं गाथाकी टीकामें इसप्रकार कहा है- "इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तताका अभाव होनेपर भी स्वसंवेदनके बलसे सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचर मात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिंगग्रहण कहा जाता है।"

"अपने अनुभवमें आनेवाले चेतना गुणके द्वारा सदा [illegible] है [illegible] (जीव) चेतना गुणवाला है।"

(२) श्री समयसारकी १४३ वीं गाथाकी टीकामें [illegible]

टीकाः—जैसे केवली भगवान [illegible]
व्यवहार-निश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते [illegible]
निर्मल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा [illegible]
[illegible] द्वारा (श्रुतज्ञानकी भूमिकामें [illegible]
ग्रहण नहीं करते, उसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी [illegible]
एवं श्रुतज्ञानात्मक विकल्पोंके [illegible]
होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत [illegible]
[illegible]
[illegible]

भावार्थः—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) हैं उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते हैं तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही होते हैं। एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाय तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त चारित्रमोहका राग रहता है; प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके साथ मिश्रित राग होता है, और जब नयपक्षको छोड़कर केवल वस्तुस्वरूपको जानता है तब श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भांति वीतरागके समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) श्री समयसारकी ५ वीं गाथामें आचार्यदेव कहते हैं कि—"उस एकत्वविभक्त आत्माको मैं आत्माके निज-वैभवके द्वारा दिखाता हूं, यदि मैं उसे दिखाऊं तो प्रमाण करना। उसकी **टीका** करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—"जो जिसप्रकारसे मेरा ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखलाता हूं। यदि दिखाऊँ तो स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण कर लेना"। आगे जाकर **भावार्थमें** बताया है कि—'आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परापर गुरुका उपदेश और स्वसंवेदन—इन चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्वविभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। उसे सुनने-वाले हे श्रोताओ! अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो"। इससे सिद्ध होता है कि—अपनेको जो सम्यक्त्व होता है उसकी स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे श्रुतप्रमाण (सच्चे ज्ञान) के द्वारा अपनेको खबर हो जाती है।

(४) कलश ९ में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि—

मालिनी

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाति भाति न द्वैतमेव ॥९॥

अर्थः—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदोंको गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजपुंज आत्मा है, उसका अनुभव होनेपर नयोंकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नहीं होती। प्रमाण अस्तको प्राप्त होता है और निक्षेपोंका समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थः—××××××शुद्ध अनुभव होनेपर द्वैत ही भासित नहीं होता, केवल एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानमें भी आत्माको स्वयं अपने भावश्रुतके द्वारा शुद्ध अनुभव होता है। समयसारमें लगभग प्रत्येक गाथामें यह अनुभव होता है, ऐसा बतलाकर अनुभव करनेका उपदेश दिया है।

सम्यक्त्व सूक्ष्म पर्याय है यह ठीक है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुतज्ञान हुआ है, और इससे श्रुतज्ञानमें वह निश्चय करता है कि-उसका (सम्यग्ज्ञानका) अविनाभावी सम्यग्दर्शन मुझे हुआ है। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान सम्यग्दर्शनको प्रत्यक्ष जान सकता है,-इतना ही मात्र अन्तर है।

पंचाध्यायी अ. २ की गाथा १९६-१९७-१९८ की हिन्दी टीका (पं० मक्खनलालजी कृत) में कहा है कि 'ज्ञान शब्दसे आत्मा समझना चाहिये, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है; वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जाना जाता है उसका नाम ज्ञानचेतना है अर्थात् जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होता है-केवल शुद्धात्माका अनुभव करता है उस समय उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। ज्ञानचेतना निश्चयसे [illegible] है, मिथ्यादृष्टिको कभी नहीं हो सकती। [illegible]

सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञान [illegible] कहलाता है; और संपूर्ण ज्ञान जो केवलज्ञान है [illegible] शुद्धनय आत्माको केवलज्ञानरूपसे [illegible] है।

[श्री समयसार गाथा १४ के [illegible] सम्यक् मति और श्रुतज्ञानके [illegible] है।

८. पांच भावोंके संबंधमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं अर्थात् आत्मा शुद्ध मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें अशुद्धताके होनेपर भी उसे स्वीकार नहीं करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनन्दमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें दुःख होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी ये मान्यतायें और इन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध हो तो संसार, बन्ध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पांच भाव बतलाते हैं। यदि इन पांच भावोंमेंसे एक भी भावका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नहीं होता, और उससे ज्ञानमें दोष आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्ध तककी उसकी समस्त अवस्थाओंको अत्यल्प शब्दोंमें चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पांच भावोंमें चौदह गुणस्थान तथा सिद्धदशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमें अनादिकालसे चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नहीं लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है; यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमें स्वरूपको समझनेके लिये भेद बतलाये गये हैं तथापि भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावोंके आश्रयसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोंकी ओरका आश्रय छोड़कर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमशः शुद्धताके बढ़नेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९. इस सूत्रमें नय-प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय[1] और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणोंका साहश्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना[2]—ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्यमें हैं, आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं, उनमेंसे वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमें कथित पाँच भावोंमेंसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप-वर्तमान अवस्थामात्रके लिये हैं इसलिये वे पर्यायार्थिकनयका विषय हैं; उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनन्तगुणोंका जो साहश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं; उस भावको कारणपरमात्मा,

आत्मसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है; यह त्रिकाल सादृश्यरूप होनेसे द्रव्यार्थिक-नयका विषय है; यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनों) एक होकर सम्पूर्ण जीव द्रव्य है, इसलिये ये दोनों पहलू प्रमाणके विषय हैं।

इन दोनों पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है; और वह क्रमशः स्वभावके अवलम्बनसे आगे बढ़कर मोक्षस्वरूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उपरोक्त पांच भाव [यथाक्रमम्] क्रमशः [द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः] दो, नव, अठ्ठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रोंमें क्रमसे करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थः—[सम्यक्त्व] औपशमिक सम्यक्त्व [illegible] [चारित्रे] औपशमिक चारित्र [illegible] औपशमिकभावके भेद हैं।

८. पांच भावोंके संबंधमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें अशुद्धताके होनेपर भी उसे स्वीकार नहीं करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनन्दमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें दुःख होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी वे मान्यताएँ और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बंध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पांच भाव बतलाते हैं। यदि इन पांच भावोंमेंसे एक भी भावका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नहीं होता, और उससे ज्ञानमें दोष आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्ध तककी उसकी समस्त अवस्थाओंको अत्यल्प शब्दोंमें चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पांच भावोंमें चौदह गुणस्थान तथा सिद्धदशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमें अनादिकालसे चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नहीं लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है; यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमें स्वरूपको समझनेके लिये भेद बतलाये गये हैं तथापि भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावोंके आश्रयसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोंकी ओरका आश्रय छोड़कर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमशः शुद्धताके बढ़नेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९. इस सूत्रमें नय-प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय[1] और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणोंका सादृष्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना[2]—ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्यमें हैं, आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं, उनमेंसे वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमें कथित पाँच भावोंमेंसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप-वर्तमान अवस्थामात्रके लिये हैं इसलिये वे पर्यायार्थिकनयका विषय हैं; उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनन्तगुणोंका जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं; उस भावको कारणपरमात्मा,

कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है; वह त्रिकाल सादृश्यरूप होनेसे द्रव्यार्थिकनयका विषय है; यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनों) एक होकर सम्पूर्ण जीव द्रव्य है, इसलिये वे दोनों पहलू प्रमाणके विषय हैं।

इन दोनों पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है; और वह क्रमशः स्वभावके अवलम्बनसे आगे बढ़कर मोक्षरूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उपरोक्त पांच भाव [यथाक्रमम्] क्रमसे [द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः] दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रोंमें क्रमसे करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थः—[सम्यक्त्व] औपशमिक सम्यक्त्व और [चारित्रे] औपशमिक चारित्र, इस प्रकार औपशमिकभावके दो भेद हैं।

८. पांच भावोंके संबंधमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें अशुद्धताके होनेपर भी उसे स्वीकार नहीं करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनन्दमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें दुःख होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी वे मान्यतायें और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बन्ध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पांच भाव बतलाते हैं। यदि इन पांच भावोंमेंसे एक भी भावका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नहीं होता, और उससे ज्ञानमें दोष आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्ध तककी उसकी समस्त अवस्थाओंको अत्यल्प शब्दोंमें चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पांच भावोंमें चौदह गुणस्थान तथा सिद्धदशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमें अनादिकालसे चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नहीं लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है; यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमें स्वरूपको समझनेके लिये भेद बतलाये गये हैं तथापि भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावोंके आश्रयसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोंकी ओरका आश्रय छोड़कर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमशः शुद्धताके बढ़नेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९. इस सूत्रमें नय-प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय[1] और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणोंका सादृश्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना[2]—ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्यमें हैं, आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं, उनमेंसे वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमें कथित पांच भावोंमेंसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप-वर्तमान अवस्थामात्रके लिये हैं इसलिये वे पर्यायार्थिकनयका विषय हैं; उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनन्तगुणोंका जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं; उस भावको कारणपरमात्मा,

कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है; वह त्रिकाल सादृश्यरूप होनेसे द्रव्यार्थिक-नयका विषय है; यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनों) एक होकर सम्पूर्ण जीव द्रव्य है, इसलिये ये दोनों पहलू प्रमाणके विषय हैं।

इन दोनों पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है; और वह क्रमशः स्वभावके अवलम्बनसे आगे बढ़कर मोक्षस्वरूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उपरोक्त पाँच भाव [**यथाक्रमम्**] क्रमसे [**द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः**] दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रों द्वारा करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थः—[**सम्यक्त्व**] औपशमिक सम्यक्त्व और [**चारित्रे**] औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिकभावके भेद हैं।

८. पांच भावोंके संबंधमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें अशुद्धताके होनेपर भी उसे स्वीकार नहीं करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनन्दमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें दुःख होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी ये मान्यतायें और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बन्ध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पांच भाव बतलाते हैं। यदि इन पांच भावोंमेंसे एक भी भावका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नहीं होता, और उससे ज्ञानमें दोष आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्ध तककी उसकी समस्त अवस्थाओंको अत्यल्प शब्दोंमें चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पांच भावोंमें चौदह गुणस्थान तथा सिद्धदशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमें अनादिकालसे चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नहीं लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है; यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमें स्वरूपको समझनेके लिये भेद बतलाये गये हैं तथापि भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावोंके आश्रयसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोंकी ओरका आश्रय छोड़कर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमशः शुद्धताके बढ़नेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९. इस सूत्रमें नय-प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय[1] और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणोंका सादृष्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना[2]—ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्यमें हैं, आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं, उनमेंसे वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमें कथित पाँच भावोंमेंसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप-वर्तमान अवस्थामात्रके लिये हैं इसलिये वे पर्यायार्थिकनयका विषय हैं; उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनन्तगुणोंका जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं; उस भावको कारणपरमात्मा,

कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है; वह त्रिकाल एकरूप होनेसे द्रव्यार्थिक-नयका विषय है; यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनों) एक होकर सम्पूर्ण जीव द्रव्य है, इसलिये ये दोनों पहलू प्रमाणके विषय हैं।

इन दोनों पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकस्वभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है; और वह क्रमशः स्वभावके अवलम्बनसे आगे बढ़कर मोक्षदशारूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उपरोक्त पांच भाव [यथाक्रमम्] क्रमसे [द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः] दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रोंमें क्रमसे करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थः—[सम्यक्त्व] औपशमिक [illegible] औपशमिक चारित्र दो भेद हैं।

भावी क्षय तथा उपशमकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है और सम्यक्त्व-प्रकृतिके उदयकी अपेक्षासे उसीको वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षायोपशमिक चारित्र—सम्यग्दर्शन पूर्वक-चारित्रके समय जो राग है उसकी अपेक्षासे वह सराग चारित्र कहलाता है किन्तु उसमें जो राग है वह चारित्र नहीं है, जितना वीतरागभाव है उतना ही चारित्र है। इस चारित्रको क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

संयमासंयम—इस भावको देशव्रत, अथवा विरताविरत चारित्र भी कहते हैं।

मतिज्ञान इत्यादिका स्वरूप पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है।

दान, लाभ इत्यादि लब्धिका स्वरूप ऊपरके सूत्रमें कहा गया है। वहां क्षायिकभावसे वह लब्धि थी और यहां वह लब्धि क्षायोपशमिकभावसे है ऐसा समझना चाहिए ॥५॥

औदयिकभावके २१ भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या-श्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थः—[**गति**] तिर्यंच, नरक, मनुष्य, और देव यह चार गतियाँ [**कषाय**] क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषायें [**लिंग**] स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, यह तीन लिंग [**मिथ्यादर्शन**] मिथ्यादर्शन [**अज्ञान**] अज्ञान [**असंयत**] असंयम [**असिद्ध**] असिद्धत्व तथा [**लेश्याः**] कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल यह छह लेश्यायें इसप्रकार [**चतुः चतुः त्रि एक एक एक एक षड्भेदाः**] ४+४+३+१+१+१+१+६(२१) इसप्रकार सब मिलाकर औदयिकभावके २१ भेद हैं।

टीका

प्रश्नः—गति अघातिकर्मके उदयसे होती है, जीवके अनुजीवीगुणके घातका वह निमित्त नहीं है तथापि उसे औदयिकभावमें क्यों गिना है ?

उत्तरः—जीवके जिस प्रकारकी गतिका संयोग होता है उसीमें वह ममत्व करने लगता है, जैसे वह यह मानता है कि 'मैं मनुष्य हूं, मैं पशु हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूं'। इसप्रकार जहाँ **मोहभाव होता** है वहां वर्तमान गतिमें जीव अपनेपनकी कल्पना करता है, इसलिये तथा चारित्रमोहकी अपेक्षासे गतिको औदयिक भावमें गिन लिया गया है। [सिर्फ गतिको उदय भावमें लिया जाय तो १४ गुणस्थान तक है।]

टीका

१ सूत्रके अंतमें 'च' शब्दसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणोंका भी ग्रहण होता है।

भव्यत्वः--मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीवके 'भव्यत्व' होता है।

अभव्यत्वः--जो जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य नहीं होते उनके 'अभव्यत्व' होता है।

जीवत्वः-चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना सो जीवन है।

पारिणामिक भावका अर्थः—कर्मोदयकी अपेक्षाके बिना आत्मामें जो गुण मूलतः स्वभावमात्र ही हों उन्हें 'पारिणामिक' कहते हैं। अथवा—

" द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः "

(पंचास्तिकाय गाथा ५३ संस्कृत टीका)

अर्थः-जो वस्तुके निजस्वरूपकी प्राप्ति मात्रमें ही हेतु हो सो पारिणामिक है।

(सर्वार्थसिद्धि टीका)

२. विशेष स्पष्टीकरण

(१) पांच भावोंमें औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप (वर्तमानमें विद्यमान दशारूप) हैं और पांचवां शुद्ध पारिणामिकभाव है वह त्रिकाल एकरूप ध्रुव है इसलिये वह द्रव्यरूप है। इसप्रकार आत्मपदार्थ द्रव्य और पर्याय सहित (जिस समय जो पर्याय हो उस सहित) है।

(२) जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—इन तीन पारिणामिक भावोंमें जो शुद्ध जीवत्वभाव है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके आश्रित होनेसे नित्य निरावरण शुद्ध पारिणामिक-भाव है और वह बन्ध-मोक्ष पर्याय (-परिणति) से रहित है।

(३) जो दस प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व है उसे वर्तमानमें होनेवाले अवस्थाके आश्रित होनेसे (पर्यायार्थिक नयाश्रित होनेसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। जैसे सर्व संसारी जीव शुद्धनयसे शुद्ध हैं उसीप्रकार यदि अवस्थादृष्टिसे भी शुद्ध है ऐसा माना जाय तो दस प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्वका अभाव ही हो जाय।

(४) भव्यत्व और अभव्यत्वमेंसे भव्यत्वनामक अशुद्ध पारिणामिक भाव भव्यजीवोंके

(२) अपने अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभावकी ओरके झुकावको अध्यात्म-भाषामें 'निश्चयनयका आश्रय' कहा जाता है। निश्चयनयके आश्रयसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। निश्चयका विषय अखण्ड अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकभाव है। व्यवहारनयके आश्रयसे शुद्धता प्रगट नहीं होती किन्तु अशुद्धता प्रगट होती है। (श्री समयसार गाथा ११)

५. पाँच भावोंमेंसे कौनसे भाव बन्धरूप हैं और कौनसे नहीं ?

(१) इन पांच भावोंमेंसे एक औदयिकभाव (मोहके साथका संयुक्तभाव) बन्धरूप है। जब जीव मोहभाव करता है तब कर्मका उदय उपचारसे बन्धका कारण कहलाता है। द्रव्यमोहका उदय होने पर भी यदि जीव मोहभावरूपसे परिणमित न हो तो बन्ध न हो और तब वही जड़कर्मकी निर्जरा कहलाये।

(२) जिसमें पुण्य-पाप, दान, पूजा, व्रतादि भावोंका समावेश होता है ऐसे आस्रव और बन्ध दो औदयिकभाव हैं; संवर और निर्जरा मोहके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं, वे शुद्धताके अंश होनेसे बन्धरूप नहीं हैं; और मोक्ष क्षायिकभाव है, वह सर्वथा पूर्ण पवित्र पर्याय है इसलिये वह भी बन्धरूप नहीं है।

(३) उपयोग-आत्मा रागादिसे भिन्न माने उसे बन्ध नहीं होता (देखो अध्यात्म-तरंगिणी बन्ध अधिकार कलश ३, पृष्ठ १३६)

(४) शुद्ध त्रैकालिक पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्षसे निरपेक्ष है ॥ ७ ॥

जीवका लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थः—[**लक्षणम्**] जीवका लक्षण [**उपयोगः**] उपयोग है।

टीका

लक्षणः—बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले सेतु (साधन)को लक्षण कहते हैं।

उपयोगः— चैतन्यगुणके साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीवके परिणामको उपयोग कहते हैं। उपयोगको 'ज्ञान-दर्शन' भी कहते हैं, वह सभी जीवोंमें होता है और जीवके

चाहिए। द्रव्य और गुण एक दूसरेसे अलग नहीं हो सकते और द्रव्यका एक गुण उसके दूसरे गुणसे अलग नहीं हो सकता। यह अपेक्षा लक्षमें रखकर दर्शन स्व-पर दर्शक है और ज्ञान स्व-पर ज्ञायक है। अभेददृष्टिकी अपेक्षासे इसप्रकार अर्थ होता है।

[देखो श्री नियमसार गाथा १७१ तथा श्री समयसारमें दर्शन तथा ज्ञानका निश्चयनयसे अर्थ पृष्ठ ४२० से ४२७]

६. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग केवली भगवानको युगपत् होता है

केवली भगवान्को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है और छद्मस्थको क्रमशः होता है। केवली भगवान्को उपचारसे उपयोग कहा जाता है ॥ ९ ॥

जीवके भेद :

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थः—जीव [संसारिणः] संसारी [च] और [मुक्ताः] मुक्त ऐसे दो प्रकारके [illegible] जीवोंको संसारी और कर्म रहित जीवोंको मुक्त कहते हैं।

टीका

[illegible] संसार दशाके ये भेद हैं, वे भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। द्रव्यदृष्टिसे सब [illegible] पर्यायोंके भेद दिखानेवाला व्यवहार, परमार्थको समझानेके लिये कहा [illegible] नहीं। इससे यह समझना चाहिए कि पर्यायमें चाहे जैसे [illegible] कभी भेद नहीं होता। "सर्व जीव हैं सिद्ध सम, [illegible]

(आत्मसिद्धि शास्त्र गाथा १३५)

[illegible] है। 'मुक्ताः' शब्द बहुवचनसूचक है इससे यह समझना [illegible] है। 'मुक्ताः' शब्द यह भी सूचित करता है कि पहिले उन [illegible] उन्होंने यथार्थ समझ करके उस अशुद्ध अवस्थाका [illegible]

[illegible]— [illegible] 'संसरणम् = निकल जाना। [illegible] [illegible] सो संसार है। जीवका संसार स्त्री, पुत्र, [illegible] पदार्थ है। और उन [illegible] [illegible] इत्यादि [illegible] संसार कहते हैं।

४. सूत्रमें 'च' शब्द है, च शब्दके समुच्चय और अन्वाचय ऐसे दो अर्थ हैं; उनमेंसे यहाँ अन्वाचयका अर्थ बतानेके लिए च शब्दका प्रयोग किया है (एक को प्रधानरूपसे और दूसरेको गौणरूपसे बताना 'अन्वाचय' शब्दका अर्थ है) संसारी और मुक्त जीवोंमेंसे संसारी जीव प्रधानतासे उपयोगवान् हैं और मुक्त जीव गौणरूपसे उपयोगवान् हैं;—यह बतानेके लिये इस सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग किया है।

(उपयोगका अनुसंधान सू० ८-९ से चला आता है।)

५. जीवकी संसारी दशा होनेका कारण आत्मस्वरूप संबंधी भ्रम है, उस भ्रमको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस भूलरूप मिथ्यादर्शनके कारणसे जीव पांच प्रकारके परिवर्तन किया करते हैं—संसार-चक्र चलता रहता है।

६. जीव अपनी भूलसे अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है; वह स्वतः अपनी पात्रताका विकास करके सत्समागमसे सम्यग्दृष्टि होता है। मिथ्यादृष्टित्व अवस्थाके कारण परिभ्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है, उस परिभ्रमणको संसार कहते हैं, जीवको परके प्रति एकत्वबुद्धि होनेसे मिथ्यादृष्टित्व है। जब तक जीवका लक्ष पर पदार्थ पर है अर्थात् वह यह मानता है कि परसे मुझे हानि-लाभ होता है, राग करने लायक है, तबतक उसे परवस्तुरूप द्रव्यकर्म और नोकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। उस परिवर्तनके पांच भेद होते हैं—(१) द्रव्यपरिवर्तन, (२) क्षेत्रपरिवर्तन, (३) कालपरिवर्तन, (४) भावपरिवर्तन, और (५) भवपरिवर्तन। परिवर्तनको संसरण अथवा परिवर्तन भी कहते हैं।

७. द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

यहाँ द्रव्यका अर्थ पुद्गलद्रव्य है। जीवका विकारी अवस्थामें पुद्गलोंके साथ जो सम्बन्ध होता है उसे द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और (२) कर्मद्रव्यपरिवर्तन।

(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप—औदारिक, तैजस और कार्मण अथवा वैक्रियक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलस्कन्ध एक समयमें एक जीवने ग्रहण किये वह जीव पुनः उसीप्रकारके स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श, वर्ण रस, गंध आदिमें तथा तीव्र, मंद या मध्यमभाववाले स्कंधोंको ग्रहण करता है तब एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें जो अन्य नोकर्मका ग्रहण किया जाता है उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता।) उसमें पुद्गलोंकी संख्या और जाति (Quality) बराबर उसीप्रकारके नोकर्मोंकी होनी चाहिये।

७. कर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक समयमें आठ प्रकारके कर्मस्वभाववाले जो पुद्गल ग्रहण किये थे वैसे ही कर्मस्वभाववाले पुद्गलोंको पुनः ग्रहण करे तब एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें उन भावोंमें किंचित् मात्र अन्य प्रकारके दूसरे जो जो रजकण ग्रहण किये जाते हैं उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता) उन आठ प्रकारके कर्मपुद्गलोंकी संख्या और जाति बराबर उसी प्रकारके कर्मपुद्गलोंकी होनी चाहिए।

स्पष्टीकरण—आज एक समयमें शरीर धारण करते हुए नोकर्म और द्रव्यकर्मके पुद्गलोंका सम्बन्ध एक अज्ञानी जीवको हुआ, तत्पश्चात् नोकर्म और द्रव्यकर्मोंका सम्बन्ध उस जीवके बदलता रहता है। इसप्रकार परिवर्तन होनेपर वह जीव पुनः वैसे ही शरीर धारण करके वैसे ही नोकर्म और द्रव्यकर्मोंको प्राप्त करता है तब एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा किया कहलाता है। (नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल एकसा ही होता है।)

८. क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप

जीवकी विकारी अवस्थामें आकाशके क्षेत्रके साथ होनेवाले सम्बन्धको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके आठ मध्य प्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्मनिगोदमें अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीरवाला हुआ और क्षुद्रभव (श्वासके अठारहवें भागकी स्थिति) को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् उपरोक्त आठ प्रदेशोंसे लगे हुए एक एक अधिक प्रदेशको स्पर्श करके समस्त लोकको जब अपने जन्मक्षेत्रके रूपमें प्राप्त करता है तब एक क्षेत्र-परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। (बीचमें क्षेत्रका क्रम छोड़कर अन्यत्र जहां जहां जन्म लिया उन क्षेत्रोंको गणनामें नहीं लिया जाता।)

स्पष्टीकरण—मेरुपर्वतके नीचेसे प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक प्रदेश आगे बढ़ते हुए संपूर्ण लोकमें जन्म धारण करनेमें एक जीवको जितना समय लगे उतने समयमें एक क्षेत्रपरिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है।

९. कालपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक अवसर्पिणीके पहिले समयमें जन्म लिया, तत्पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके दूसरे समयमें जन्म लिया, पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके तीसरे समयमें जन्म लिया; इसप्रकार एक एक समय आगे बढ़ते हुए नई अवसर्पिणीके अंतिम समयमें जन्म लिया; तथा उसीप्रकार उत्सर्पिणी कालमें उसी भांति जन्म लिया; और तत्पश्चात् ऊपरकी भांति ही अवसर्पिणी

और उत्सर्पिणीके प्रत्येक समयमें क्रमशः मरण किया। इसप्रकार भ्रमण करते हुये जो काल लगता है उसे कालपरिवर्तन कहते हैं। (इस कालक्रमसे रहित बीचमें जिन जिन समयोंमें जन्म-मरण किया जाता है वे समय गणनामें नहीं आते।) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका स्वरूप अध्याय ३ सूत्र २७ में कहा है।

१०. भवपरिवर्तनका स्वरूप

नरकमें सर्वजघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। उतनी आयुवाला एक जीव पहिले नरकके पहिले पटलमें जन्मा, पश्चात् किसी अन्य समयमें उतनी ही आयु प्राप्त करके उसी पटलमें जन्मा; (बीचमें अन्य गतियोंमें भ्रमण किया सो वे भव गणनामें नहीं लिये जाते) इसप्रकार दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार वह जीव उतनी (दस हजार वर्षकी) ही आयु सहित वहीं जन्मा (बीचमें अन्य स्थानोंमें जो जन्म लिया सो गणनामें नहीं आता,) तत्पश्चात् दस हजार वर्ष और एक समयकी आयुसहित जन्मा, उसके बाद दस हजार वर्ष और दो समय—यों क्रमशः एक एक समयकी आयु बढ़ते-बढ़ते अन्तमें तेतीस सागरकी आयु सहित नरकमें जन्मा (और मरा), (इस क्रमसे रहित जो जन्म होते हैं वे गणनामें नहीं आते) नरककी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी है, उतनी आयु सहित जन्म ग्रहण करे—इसप्रकार गिनने पर जो काल होता है उतने कालमें एक नारकभवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

और फिर वहाँसे निकलकर तिर्यंचगतिमें अंतर्मुहूर्तकी आयुसहित उत्पन्न होता है अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्तकी आयु प्राप्त करके उसे पूर्ण करके उस अंतर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनी बार जघन्य आयु धारण करे, फिर क्रमशः एक एक समय अधिक आयु प्राप्त करके तीन पल्य तक सभी स्थितियों (आयु) में जन्म धारण करके उसे पूर्ण करे तब एक तिर्यंचगतिभवपरिवर्तन पूर्ण होता है। (इस क्रमसे रहित जो जन्म होता है वह गणनामें नहीं लिया जाता) तिर्यंचगतिमें जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी होती है।

मनुष्यगति भवपरिवर्तनके सम्बन्धमें भी तिर्यंचगतिकी भाँति ही समझना चाहिये।

देवगतिमें नरकगतिकी भाँति है किन्तु उसमें इतना अन्तर है कि देवगतिमें उपरोक्त क्रमानुसार ३१ सागर तक आयु धारण करके उसे पूर्ण करता है। इस प्रकार जब चारों गतियोंमें परिवर्तन पूर्ण करता है तब एक भवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

नोट—३१ सागरसे अधिक आयुके धारक नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ऐसे १४ विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं।

भवभ्रमणका कारण मिथ्यादृष्टित्व है

इस सम्बन्धमें कहा है कि—

णिरयादि जहण्णादिसु जावदु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्त संसिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ १ ॥

अर्थः—मिथ्यात्वके संसर्ग सहित नरकादिकी जघन्य आयुसे लेकर उत्कृष्ट ग्रैवेयक (नववें ग्रैवेयक) तकके भवोंकी स्थिति (आयु) को यह जीव अनेक बार प्राप्त कर चुका है।

११. भावपरिवर्तनका स्वरूप

(१) असंख्यात योगस्थान एक अनुभागबन्ध (अध्यवसाय) स्थानको करता है। [कषायके जिसप्रकार (Degree) से कर्मोंके बन्धमें फलदानशक्तिकी तीव्रता आती है उसे अनुभागबन्धस्थान कहा जाता है।]

(२) असंख्यात × असंख्यात अनुभागबन्ध अध्यवसायस्थान एक कषायभाव (अध्यवसाय) स्थानको करते हैं। [कषायका एक प्रकार (Degree) जो कर्मोंकी स्थितिको निश्चित करता है उसे कषायअध्यवसाय स्थान कहते हैं।]

(३) असंख्यात × असंख्यात कषायअध्यवसायस्थान * पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके कर्मोंकी जघन्यस्थितिबन्ध कहते हैं, यह स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ीसागरकी होती है, अर्थात् कोड़ाकोड़ीसागरसे नीचे और कोड़ीसे ऊपर उसकी स्थिति होती है।

(४) एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये यह आवश्यक है कि-जीव असंख्यात योगस्थानोंमेंसे (एक एक योगस्थानमेंसे) एक अनुभागबन्धस्थान होनेके लिये पार हो; और तत्पश्चात् एक एक अनुभागबन्धस्थानमेंसे एक कषायस्थान होनेके लिये पार होना चाहिये, और एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये एक कषायस्थानमेंसे पार होना चाहिये।

---

* जघन्यस्थितिबन्धके कारण जो कषायभावस्थान हैं उनकी संख्या असंख्यात लोकके प्रदेशोंके बराबर है; एक एक स्थानमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं, जो अनंतभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि तथा अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि, और अनन्तगुण वृद्धि इसप्रकार छह स्थानवाली हानि-वृद्धि सहित होता है।

(५) तत्पश्चात् उस जघन्यस्थितिबन्धमें एक एक समय अधिक करके (छोटेसे छोटे जघन्यबन्धसे आगे प्रत्येक अंशमें) बढ़ते जाना चाहिये। इसप्रकार आठों कर्म और (मिथ्यादृष्टिके योग्य) सभी उत्तर कर्मप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पूरी हो तब एक भावपरिवर्तन पूर्ण होता है।

(६) उपरोक्त पैरा ३ में कथित जघन्यस्थितिबन्धको तथा पैरा २ में कथित सर्वजघन्य कषायभावस्थानको और पैरा १ में कथित अनुभागबन्धस्थानको प्राप्त होनेवाला उसके योग्य सर्वजघन्य योगस्थान होता है। अनुभाग A, कषाय B, और स्थिति C, इन तीनोंका तो जघन्य ही बंध होता है किन्तु योगस्थान बदलकर जघन्य योगस्थानके बाद तीसरा योगस्थान होता है और अनुभागस्थान A, कषायस्थान B, तथा स्थितिस्थान C, जघन्य ही बँधते हैं; पश्चात् चौथा, पाँचवाँ, छठ्ठा, सातवाँ, आठवाँ इत्यादि योगस्थान होते होते क्रमशः असंख्यात प्रमाणतक बढ़के फिर भी उन्हें इसी गणनामें नहीं लेना चाहिये, अथवा किसी दो जघन्य योगस्थानके बीचमें अन्य कषायस्थान A–अन्य अनुभागस्थान B–या अन्य योगस्थान C आ जाय तो उसे भी गणनामें नहीं लेना चाहिये। *

भावपरिवर्तनका कारण मिथ्यात्व है

इस सम्बन्धमें कहा है कि—

> सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेस बंधठाणादि।
> मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भाव संसारे ॥१॥

अर्थः—समस्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्धके स्थानरूप **मिथ्यात्वके संसर्ग से** जीव निश्चयसे (वास्तवमें) भावसंसारमें भ्रमण करता है।

१२-संसारके भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान अर्थात् निश्चय संसार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव परिभ्रमण निमित्तमात्र है अर्थात् व्यवहार संसार है क्योंकि वह परवस्तु है; निश्चयका अर्थ है वास्तविक और व्यवहारका अर्थ है कथनरूप निमित्तमात्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके प्रगट होनेपर भाव संसार दूर हो जाता है और तत्पश्चात् अन्य चार अघाति कर्मरूप निमित्तोंका स्वयं अभाव हो जाता है।

१३-मोक्षका उपदेश संसारीके लिये होता है। यदि संसार न हो तो मोक्ष,

---

* योगस्थानोंमें भी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं; उनमें असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि और असंख्यातगुण वृद्धि—इसप्रकार चार स्थानरूप ही होते हैं।

टीका

१. एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तकके जीव नियमसे असैनी ही होते हैं। पंचेन्द्रियोंमें तिर्यंच सैनी और असैनी दो प्रकारके होते हैं; शेष मनुष्य, देव और नारकी जीव नियमसे सैनी ही होते हैं।

२. मनवाले सैनी जीव सत्य-असत्यका विवेक कर सकते हैं।

३. मन दो प्रकारके होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। पुद्‌गल द्रव्यके मनोवर्गणा नामक स्कन्धोंसे बना हुआ आठ पांखुड़ीवाले फूले कमलके आकाररूप मन हृदयस्थानमें है, वह द्रव्यमन है। वह सूक्ष्म पुद्‌गलस्कन्ध होनेसे इन्द्रियग्राही नहीं है। आत्माकी विशेष प्रकारकी विशुद्धि भावमन है; उससे जीव शिक्षा ग्रहण करने, क्रिया (कृत्य) को समझने उपदेश तथा आलाप (Recitation) के योग्य होता है; उसके नामसे बुलाने पर वह निकट आता है।

४. जो हितमें प्रवृत्त होनेकी अथवा अहितसे दूर रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता है वह सैनी है, और जो हित-अहितकी शिक्षा, क्रिया, उपदेश इत्यादिको ग्रहण नहीं करता वह असैनी है।

५. सैनी जीवोंके भावमनके योग्य निमित्तरूप वीर्यान्तराय तथा मन-नोइन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम स्वयं होता है।

६. द्रव्यमन-जड़ पुद्‌गल हैं, वह पुद्‌गल विपाकीकर्म-उदयके फलरूप है। जीवोंकी विचारादि क्रियामें भावमन उपादान है और द्रव्यमन निमित्तमात्र है। भावमनवाले प्राणी मोक्षके उपदेशके लिये योग्य हैं। तीर्थंकर भगवान या सम्यग्ज्ञानियोंसे उपदेश सुनकर सैनी मनुष्य सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, सैनी तिर्यंच भी तीर्थंकर भगवानका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, देव भी तीर्थंकर भगवानका तथा सम्यग्ज्ञानियोंका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं; नरकके किसी जीवके पूर्वभवके मित्रादि सम्यग्ज्ञानी देव होते हैं वे तीसरे नरक तक जाते हैं और उनके उपदेशसे तीसरे नरक तकके जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

चौथेसे सातवें नरक तकके जीव पहिलेके सत्समागमके संस्कारोंको याद करके सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। पहिले सत्समागमके संस्कार प्राप्त मनुष्य, सैनी तिर्यंच और देव भी निसर्गज सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकते हैं॥ ११॥

संसारी जीवोंके अन्य प्रकारसे भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थः—[संसारिणः] संसारी जीव [त्रस] त्रस और [स्थावराः] स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं।

टीका

१—जीवोंके यह भेद भी अवस्थादृष्टिसे किये गये हैं।

२—जीवविपाकी त्रस नामकर्मके उदयसे जीव त्रस कहलाता है और जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर कहलाता है। त्रस जीवोंके दो से लेकर पाँच इन्द्रियाँ तक होती हैं और स्थावर जीवोंके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। (यह परिभाषा ठीक नहीं है कि—जो स्थिर रहता है सो स्थावर है और जो चलता-फिरता है सो त्रस है)

३—दो इन्द्रियसे अयोग केवली गुणस्थान तकके जीव त्रस हैं, मुक्तजीव त्रस या स्थावर नहीं हैं क्योंकि यह भेद संसारी जीवोंके हैं।

४ **प्रश्नः**—यह अर्थ क्यों नहीं करते कि—जो डरे-भयभीत हो अथवा हलन-चलन करे सो त्रस है और जो स्थिर रहे सो स्थावर है?

उत्तरः—यदि हलन-चलनकी अपेक्षासे त्रसत्व और स्थिरताकी अपेक्षासे स्थावरत्व हो तो (१) गर्भमें रहनेवाले, अंडेमें रहनेवाले, मूर्छित और सोये हुए जीव हलन-चलन रहित होनेसे त्रस नहीं कहलायेंगे, और (२) वायु, अग्नि तथा जल एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते हुए दिखाई देते हैं तथा भूकंप इत्यादिके समय पृथ्वी कांपती है और वृक्ष भी हिलते हैं, वृक्षके पत्ते हिलते हैं इसलिये उनके स्थावरत्व नहीं रहेगा, और ऐसा होनेसे कोई भी जीव स्थावर नहीं माना जायगा, और कोई भी जीव स्थावर नहीं रहेगा ॥ १२ ॥

स्थावर जीवोंके भेद

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थः—[पृथिवी अप् तेजः वायुः वनस्पतयः] पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पांच प्रकारके [स्थावराः] स्थावर जीव हैं। (इन जीवोंके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है)

टीका

१—आत्मा ज्ञानस्वभाव है, किन्तु जब उसे अपनी वर्तमान योग्यताके कारण एक स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ज्ञान कर सकने योग्य विकास होता है तब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूपमें परिणमित रजकणों (पुद्गलस्कन्धों)के द्वारा बने हुये जड़ शरीरका संयोग होता है।

२—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवोंके शरीरका नाप (अवगाहना) अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है इसलिये वह दिखाई नहीं देता, हम उसके समूह (Mass) को देख सकते हैं। पानीकी प्रत्येक बूँदमें बहुतसे जलकायिक जीवोंका समूह है; सूक्ष्मदर्शक यंत्रके द्वारा पानीमें जो सूक्ष्म जीव देखे जाते हैं वे जलकायिक नहीं किन्तु त्रसजीव हैं।

३—इन पृथिवी आदिकोंके चार चार भेद कहे गये हैं—

(१) जहां अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणामसे रचित अपने कठिनता गुणसहित, जड़पनासे पृथिवीकायनामा नामकर्मके उदय न होने पर भी प्रथन-(फैलाव) आदिसे युक्त है वह पृथिवी है या पृथिवी सामान्य है।

(२) जिस कायमेंसे पृथिवीकायिक जीव मरकर निकल गया है सो पृथिवीकाय है।

(३) जिनने पृथिवीका शरीर धारण किया है वे पृथिवीकायिक जीव हैं।

(४) पृथिवीके शरीरको धारण करनेसे पूर्व विग्रहगतिमें जो जीव है उसे पृथिवीजीव कहते हैं। इसप्रकार जलकायिक इत्यादि अन्य चार स्थावर जीवोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिए।

४—स्थावरजीव उसी भवमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य नहीं होते क्योंकि संज्ञी पर्याप्तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य होते हैं।

५—पृथिवीकायिकका शरीर मसूरके दानेके आकारका लंबगोल, जलकायिकका शरीर पानीकी बूँदके आकारका गोल, अग्निकायिकका शरीर सुइयोंके समूहके आकारका और वायुकायिकका शरीर ध्वजाके आकारका लंबा-तिरछा होता है। वनस्पतिकायिक और त्रसजीवोंके शरीर अनेक भिन्न-भिन्न आकारके होते हैं।

(गोम्मटसार जीवकांड गाथा २०१) ॥ १३ ॥

त्रस जीवोंके भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थः—[द्वि इन्द्रिय आदयः] दो इन्द्रियसे लेकर अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय जीव [त्रसाः] त्रस कहलाते हैं।

टीका

१—एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं और उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण होते हैं।

२—दो इन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना यह दो इन्द्रियां ही होती हैं। उनके रसना और वचनबल बढ़नेसे कुल छह प्राण होते हैं।

३—तीन इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण यह तीन इन्द्रियां ही होती हैं। उनके घ्राण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल सात प्राण होते हैं।

४—चार इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं। उनके चक्षु इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल आठ प्राण होते हैं।

५—पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पांच इन्द्रियां होती हैं। उनके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल ९ प्राण असैनियोंके होते हैं। इन पांच इन्द्रियोंका ऊपर जो क्रम बताया है उससे उल्टी-सुल्टी इन्द्रियां किसी जीवके नहीं होती हैं। जैसे केवल स्पर्शन और चक्षु-यह दो इन्द्रियां जीवके नहीं हो सकतीं, किन्तु यदि दो होंगी तो वे स्पर्शन और रसना ही होंगी। सैनी जीवोंके मनबल होता है इसलिये उनके दस प्राण होते हैं॥ १४॥

इन्द्रियोंकी संख्या

पंचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थः—[इन्द्रियाणि] इन्द्रियां [पंच] पांच हैं।

टीका

१—इन्द्रियां पांच हैं। अधिक नहीं। 'इन्द्र' अर्थात् आत्माकी अर्थात् संसारी जीवकी पहिचान करानेवाला जो चिह्न है उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्येन्द्रिय अपने अपने विषयका ज्ञान उत्पन्न होनेमें निमित्तकारण है। कोई एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रियके आधीन नहीं है। भिन्न भिन्न एक एक इन्द्रिय परकी अपेक्षासे रहित है अर्थात् अहमिन्द्रकी भांति प्रत्येक अपने अपने आधीन है ऐसा ऐश्वर्य धारण करती है।

उत्तरः—कार्यमें कारणका उपचार करके उपयोगको (उपचारसे) भावेन्द्रिय कहा जाता है। घटाकार परिणमित ज्ञानको घट कहा जाता है, इस न्यायसे लोकमें कार्यको भी कारण माना जाता है। आत्माका लिंग इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) है, आत्मा वह स्व अर्थ है उसमें उपयोग मुख्य है और वह जीवका लक्षण है, इसलिये उपयोगको भावेन्द्रियत्व कहा जा सकता है।

४. उपयोग और लब्धि दोनोंको भावेन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि वे द्रव्यपर्याय नहीं किन्तु गुणपर्याय हैं, क्षयोपशमहेतुक लब्धि भी एक पर्याय या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है, क्योंकि वह आत्माका परिणाम है। वह उपयोग दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है।

५. धर्म, स्वभाव, भाव, गुणपर्याय और गुण शब्द एकार्थ वाचक हैं।

६. प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानकी क्षयोपशमलब्धि तो सभी सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके होती है, किन्तु जो जीव पराश्रयकी रुचि छोड़कर परकी ओरसे झुकाव हटाकर, निज (आत्मा) की ओर उपयोगको लगाते हैं उन्हें आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है। और जो जीव परकी ओर ही उपयोग लगाये रहते हैं उन्हें मिथ्याज्ञान होता है, और इससे दुःख ही होता है, कल्याण नहीं होता।

इस सूत्रका सिद्धान्त

जीवको छद्मस्थदशामें ज्ञानका विकास अर्थात् क्षयोपशमहेतुक लब्धि बहुत कुछ हो तथापि वह सब विकासका उपयोग एक साथ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग रागमिश्रित है इसलिये रागमें अटक जाता है, इसलिये ज्ञानका लब्धिरूप **विकास** बहुत कुछ हो फिर भी **व्यापार** (उपयोग) अल्प ही होता है। ज्ञानगुण तो प्रत्येक जीवके परिपूर्ण है, विकारी दशामें उसकी (ज्ञानगुणकी) पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती, इतना ही नहीं किन्तु पर्यायमें जितना विकास होता है उतना भी व्यापार एक साथ नहीं कर सकता। जबतक आत्माका लक्ष परकी ओर होता है तबतक उसकी ऐसी दशा होती है। इसलिये जीवको स्व और परका यथार्थ भेदविज्ञान करना चाहिये। भेदविज्ञान होनेपर वह अपने पुरुषार्थको अपनी ओर लगाया ही करता है, और उससे क्रमशः रागको दूर करके बारहवें गुणस्थानमें सर्वथा राग दूर हो जानेपर वीतरागता प्रगट हो जाती है। तत्पश्चात् थोड़े ही समयमें पुरुषार्थ बढ़ने पर ज्ञानगुण जितना परिपूर्ण है उतनी परिपूर्ण उसकी पर्याय प्रगट होती है। ज्ञानपर्याय पूर्ण प्रगट (विकसित) हो जाने पर ज्ञानके व्यापारको एक ओरसे दूसरी ओर

ले जानेकी आवश्यकता नहीं रहती । इसलिये प्रत्येक मुमुक्षुको यथार्थ भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये; जिसका फल केवलज्ञान है ॥ १८ ॥

पांच इन्द्रियोंके नाम और उनका क्रम

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थः—[स्पर्शन] स्पर्शन [रसन] रसना [घ्राण] नाक [चक्षुः] चक्षु और [श्रोत्र] कान—यह पाँच इन्द्रियां हैं।

टीका

(१) यह इन्द्रियां भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय यों दोनों प्रकारकी समझना चाहिये । एकेन्द्रिय जीवके पहिली (स्पर्शन) इन्द्रिय, दो इन्द्रिय जीवके पहिली दो क्रमशः होती हैं । इस अध्यायके चोदहवें सूत्रकी टीकामें इस सम्बन्धमें सविवरण कहा गया है ।

(२) इन पाँच भावेन्द्रियोंमें भावश्रोत्रेन्द्रियको अति लाभदायक माना गया है, क्योंकि उस भावेन्द्रियके बलसे जीव सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुनकर और तत्पश्चात् विचार करके, यथार्थ निर्णय करके हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग कर सकता है । जड़ इन्द्रियतो सुननेमें निमित्त मात्र है ।

३. (अ) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का आकार जोकी बीचकी नालीके समान (ब) नेत्रका आकार मसूर जैसा, (क) नाकका आकार तिलके फूल जैसा, (ड)-रसनाका आकार अर्धचन्द्रमा जैसा और (इ)—स्पर्शनेन्द्रियका आकार शरीराकार होता है,—स्पर्शनेन्द्रिय सारे शरीरमें होती है ॥ १९ ॥

इन्द्रियोंके विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२० ॥

अर्थः—[स्पर्शरसगंधवर्णशब्दाः] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, (रंग) शब्द यह पाँच क्रमशः [तत् अर्थाः] उपरोक्त पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं अर्थात् उपरोक्त पांच इन्द्रियां उन-उन विषयोंको जानती हैं ।

टीका

१. जाननेका काम भावेन्द्रियका है, पुद्गल इन्द्रिय निमित्त है। प्रत्येक इन्द्रियका विषय क्या है सो यहाँ कहा गया है । यह विषय जड़-पुद्गल हैं ।

२. प्रश्नः—यह जीवाधिकार है फिर भी पुद्गलद्रव्यकी बात क्यों ली गई है ?

उत्तरः—जीवको भावेन्द्रियसे होनेवाले उपयोगरूप ज्ञानमें ज्ञेय क्या है यह जाननेके लिये कहा है। ज्ञेय निमित्तमात्र है, ज्ञेयसे ज्ञान नहीं होता किन्तु उपयोगरूप भावेन्द्रियसे ज्ञान होता है अर्थात् ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय, यह बतानेके लिये यह सूत्र कहा है।

३. स्पर्शः—आठ प्रकारका है—शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, हलका

विचारको श्रुतज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश श्रवण करनेमें कर्णेन्द्रिय निमित्त है और उसका विचार करके यथार्थ निर्णय करनेमें मन निमित्त है। हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग मनके द्वारा होता है। (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा १६ की टीका) पहिले राग सहित मनके द्वारा आत्माका व्यवहार सच्चा ज्ञान किया जा सकता है और फिर (रागका अंशतः अभाव करने पर) मनके अवलम्बनके बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट होता इसलिये सैनी जीव ही धर्म प्राप्त करनेके योग्य हैं। (देखो अध्याय २ सूत्र २४ की टीका)

२—मनरहित (असैनी) जीवोंके भी एक प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।
(देखो अध्याय १ सूत्र ११ तथा ३० की टीका)

उन्हें आत्मज्ञान नहीं होता इसलिये उनके ज्ञानको 'कुश्रुत' कहा जाता है।

३—श्रुतज्ञान जिस विषयको जानता है उसमें मन निमित्त है, किसी इन्द्रियके आधीन मन नहीं है। अर्थात् श्रुतज्ञानमें किसी भी इन्द्रियका निमित्त नहीं है ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंके स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थः — [**वनस्पति अन्तानां**] वनस्पतिकाय जिसके अन्तमें है ऐसे जीवोंके अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके [**एकम्**] एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

टीका

इस सूत्रमें कथित जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही ज्ञान करते हैं। इस सूत्रमें इन्द्रियोंके 'स्वामी' ऐसा शीर्षक दिया है, उसमें इन्द्रियके दो प्रकार हैं—जड़ इन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जड़ इन्द्रियके साथ जीवका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिए व्यवहारसे जीवको स्वामी कहा है, वास्तवमें तो कोई द्रव्य किसी द्रव्यका स्वामी है ही नहीं। और भावेन्द्रिय उस आत्माकी उस समयकी पर्याय है अर्थात् अशुद्धनयसे उसका स्वामी आत्मा है ॥२२॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थः—[**कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनाम्**] कृमि इत्यादि, चींटी इत्यादि, भ्रमर इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादिके [**एकैक वृद्धानि**] क्रमसे एक एक इन्द्रिय बढ़ती (अधिक-

अधिक) है अर्थात् कृमि इत्यादिके दो, चींटी इत्यादिके तीन, भौंरा इत्यादिके चार और मनुष्य इत्यादिके पांच इन्द्रियां होती हैं।

टीका

प्रश्नः—यदि कोई मनुष्य जन्मसे ही अंधा और बहरा हो तो उसे तीन इन्द्रिय जीव कहना चाहिये या पंचेन्द्रिय ?

उत्तरः—वह पंचेन्द्रिय जीव ही है, क्योंकि उसके पांचों इन्द्रियां हैं किन्तु उपयोग-रूप शक्ति न होनेसे वह देख और सुन नहीं सकता।

नोटः—इसप्रकार संसारी जीवोंके इन्द्रियद्वारका वर्णन हुआ, अब उनके मनद्वारका वर्णन २४ वें सूत्रमें किया जाता है॥ २३॥

सैनी किसे कहते हैं ?

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थः—[**समनस्काः**] मनसहित जीवोंको [**संज्ञिनः**] सैनी कहते हैं।

टीका

सैनी जीव पंचेन्द्रिय ही होते हैं (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा २१ की टीका) जीवके हिताहितकी प्रवृत्ति मनके द्वारा होती है। पंचेन्द्रिय जीवोंमें सैनी और असैनी ऐसे दो भेद होते हैं, सैनी अर्थात् संज्ञी=संज्ञावाला प्राणी समझना चाहिये। 'संज्ञा' के अनेक अर्थ हैं, उनमेंसे यहाँ 'मन' अर्थ लेना चाहिए॥ २४॥

मनके द्वारा हिताहितकी प्रवृत्ति होती है किन्तु शरीरके छूट जाने पर विग्रहगतिमें [नये शरीरकी प्राप्तिके लिये गमन करते हुए जीवको] मन नहीं है फिर भी उसे कर्मका आस्रव होता है, इसका क्या कारण है ?

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थः—[**विग्रहगतौ**] विग्रहगतिमें अर्थात् नये शरीरके लिये गमनमें [**कर्मयोगः**] कार्मण काययोग होता है।

(१) **विग्रहगतिः**—एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये गमन करना विग्रहगति है। यहां विग्रहका अर्थ शरीर है।

कर्मयोग—कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं। आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दनको योग कहते हैं; इस परिस्पन्दनके समय कार्मण शरीर निमित्तरूप है इसलिये उसे कर्मयोग अथवा कार्मणकाययोग कहते हैं, और इसलिये विग्रहगतिमें भी नये कर्मोंका आस्रव होता है। [देखो सूत्र ४८ की टीका]

२—मरण होने पर नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये जीव जब गमन करता है तब मार्गमें एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। उस समयमें कार्मणयोगके कारण पुद्गलकर्मका तथा तैजसवर्गणाका ग्रहण होता है, किन्तु नोकर्म-पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता ॥२५॥

विग्रहगतिमें जीव और पुद्गलोंका गमन कैसे होता है?

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

उत्तरः-[गति] जीव पुद्गलोंका गमन [अनुश्रेणि] श्रेणीके अनुसार ही होता है

टीका

१. श्रेणिः—लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशामें क्रमशः हारबद्ध रचनावाले प्रदेशोंकी पंक्ति (Line) को श्रेणि कहते हैं।

२--विग्रहगतिमें आकाश-प्रदेशोंकी सीधी पंक्ति पर ही गमन होता है। विदिशामें गमन नहीं होता। जब पुद्गलका शुद्ध परमाणु अति शीघ्र गमन करके एक समयमें १४ राजु गमन करता है तब वह श्रेणिबद्ध सीधा ही गमन करता है।

३. उपरोक्त श्रेणिकी छह दिशायें होती हैं (१)-पूर्वसे पश्चिम, (२)-उत्तरसे दक्षिण, (३) ऊपरसे नीचे, तथा अन्य तीन उससे उलटे रूपमें अर्थात् (४)-पश्चिमसे पूर्व, (५)-दक्षिणसे उत्तर और (६)-नीचेसे ऊपर।

४. प्रश्नः—यह जीवाधिकार है, तब फिर इसमें पुद्गलका विषय क्यों लिया गया है?

उत्तरः—जीव और पुद्गलका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये तथा यह बतानेके लिये कि जीव और पुद्गल दोनों अपनी स्वतंत्र योग्यतासे गमन करते हैं;—पुद्गलका भी विषय लिया है ॥ २६ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कैसी होती है?

अविग्रहा जीवस्य

अर्थः--[जीवस्य] मुक्त जीवकी गति [अविग्रहा] वक्रता रहित सीधी होती है।

टीका

सूत्रमें 'जीवस्य' शब्द कहा गया है, किन्तु पिछले सूत्रमें संसारी जीवका विषय था इसलिये यहां 'जीवस्य' का अर्थ 'मुक्त जीव' होता है।

इस अध्यायके पच्चीसवें सूत्रमें विग्रहका अर्थ 'शरीर' किया था और यहां उसका अर्थ 'वक्रता' किया गया है; विग्रह शब्दके यह दोनों अर्थ होते हैं। पच्चीसवें सूत्रमें श्रेणिका विषय नहीं था इसलिये वहां 'वक्रता' अर्थ लागू नहीं होता, किंतु इस सूत्रमें श्रेणिका विषय होनेसे 'अविग्रहा' का अर्थ वक्रता रहित (मोड़ रहित) होता है—ऐसा समझना चाहिये। मुक्त जीव श्रेणिवद्ध गतिसे एक समयमें सीधे सात राजू ऊपर गमन करके सिद्ध क्षेत्रमें जाकर स्थिर होते हैं॥ २७॥

संसारी जीवोंकी गति और उसका समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थः—[**संसारिणः**] संसारी जीवकी गति [**चतुर्भ्यः प्राक्**] चार समयसे पहिले [**विग्रहवती च**] वक्रता—मोड़ सहित तथा रहित होती है।

टीका

१--संसारी जीवकी गति मोड़सहित और मोड़रहित होती है। यदि मोड़रहित होती है तो उसे एक समय लगता है, एक मोड़ लेना पड़े तो दो समय, दो मोड़ लेना पड़ें तो तीन समय और तीन मोड़ लेना पड़ें तो चार समय लगते हैं। जीव चौथे समयमें तो कहीं न कहीं नया शरीर नियमसे धारण कर लेता है, इसलिये विग्रहगतिका समय अधिकसे अधिक चार समय तक होता है। उन गतियोंके नाम यह हैं:—१-ऋजुगति (ईपुगति) २-पाणिमुक्तागति, ३-लांगलिकागति और ४-गोमूत्रिकागति।

२-एक परमाणुको मंदगतिसे एक आकाशप्रदेशसे उसी निकटके दूसरे आकाशप्रदेश तक जानेमें जो समय लगता है वह एक समय है। यह छोटेसे छोटा काल है।

३—लोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां जानेमें जीवको तीनसे अधिक मोड़ लेना पड़ते हों।

४--विग्रहगतिमें जीवको चैतन्यका उपयोग नहीं होता। जब जीवकी उसप्रकारकी योग्यता नहीं होती तब द्रव्येन्द्रियां भी नहीं होतीं। ऐसा निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध है।

जब जीवको भावेन्द्रियके उपयोगरूप परिणमित होनेकी योग्यता होती है तब द्रव्येन्द्रियां अपने कारणसे स्वयं उपस्थित होती हैं। वह यह सिद्ध करता है कि जब जीवकी भावना होती है तब उसके अनुसार निमित्त स्वयं उपस्थित होता है, निमित्तके लिये राह नहीं देखनी पड़ती ॥ २८॥

अविग्रहगतिका समय

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थः—[**अविग्रहा**] मोड़रहित गति [**एकसमया**] एकसमय मात्र ही होती है, अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है।

टीका

१—जिस समय जीवका एक शरीरके साथका संयोग छूटता है उसी समय, यदि जीव अविग्रह गतिके योग्य हो तो दूसरे क्षेत्रमें रहनेवाले अन्य शरीरके योग्य पुद्गलोंके साथ (शरीरके साथ) सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। मुक्त जीवोंको भी सिद्धगतिमें जानेमें एक ही समय लगता है, यह गति सीधी पंक्तिमें ही होती है।

२—एक पुद्गलको उत्कृष्ट वेगपूर्वक गति करनेमें चौदह राजू लोक अर्थात् लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक (सीधी पंक्तिमें ऊपर या नीचे) जानेमें एक समय ही लगता है ॥२९॥

विग्रहगतिमें आहारक-अनाहारककी व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थः—विग्रहगतिमें [**एकं द्वौ वा त्रीन्**] एक दो अथवा तीन समय तक [**अनाहारकः**] जीव अनाहारक रहता है।

टीका

१. आहारः—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलपरमाणुओंके ग्रहणको आहार कहा जाता है।

२—उपरोक्त आहारको जीव जब तक ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहगतिमें आहारक होता है, परन्तु एक दो या तीन

मोड़वाली गतिमें एक दो या तीन समयतक अनाहारक रहता है, चौथे समयमें नियमसे आहारक हो जाता है।

३—यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इस सूत्रमें नोकर्मकी अपेक्षासे अनाहारकत्व कहा है। कर्मग्रहण तथा तैजस परमाणुओंका ग्रहण तेरहवें गुणस्थान तक होता है। यदि इस कर्म और तैजस परमाणुके ग्रहणको आहारकत्व माना जाय तो वह अयोगी गुणस्थानमें नहीं होता।

४—विग्रहगतिसे अतिरिक्त समयमें जीव प्रतिसमय नोकर्मरूप आहार ग्रहण करता है।

५—यहां आहार-अनाहार और ग्रहण शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वह मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये है। वास्तवमें (निश्चय दृष्टिसे) आत्माके किसी भी परद्रव्यका ग्रहण या त्याग नहीं होता, भले ही वह निगोदमें हो या सिद्धमें ॥ ३० ॥

जन्मके भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थः—[**सम्मूर्च्छनगर्भउपपादाः**] सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद तीन प्रकारका [**जन्म**] जन्म होता है।

टीका

१. जन्मः—नवीन शरीरको धारण करना जन्म है।

सम्मूर्च्छनजन्मः—अपने शरीरके योग्य पुद्गलपरमाणुओंके द्वारा, माता-पिताके रज और वीर्यके विना ही शरीरकी रचना होना सो सम्मूर्च्छन जन्म है।

गर्भजन्मः—स्त्रीके उदरमें रज और वीर्यके मेलसे जो जन्म (Conception) होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपपादजन्मः—माता पिताके रज और वीर्यके विना देव और नारकियोंके निश्चित स्थान-विशेषमें उत्पन्न होनेको उपपादजन्म कहते हैं। यह उपपादजन्मवाला शरीर वैक्रियिक रजकणोंका वनता है।

२—समन्ततः+मूर्च्छनं—से संमूर्च्छन शब्द वनता है। यहां समन्ततःका अर्थ चारों ओर अथवा जहां+तहांसे होता है और मूर्च्छनका अर्थ शरीरका वन जाना है।

३. जीव अनादि-अनन्त है, इसलिये उसका जन्म-मरण नहीं होता, किन्तु जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम (मिथ्यादर्शन) बना हुआ है इसलिये उसका शरीरके साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है, और वह अज्ञानसे शरीरको अपना मानता है। और अनादिकालसे जीवकी यह विपरीत मान्यता चली आ रही है कि मैं शरीरको हलन-चलन आदि क्रियाएँ कर सकता हूं; शरीरकी क्रियासे धर्म हो सकता है, शरीरसे मुझे सुख-दुःख होते हैं, इत्यादि जबतक यह मिथ्यात्वरूप विकारभाव जीव करता रहता है तबतक जीवका नये नये शरीरोंके साथ सम्बन्ध होता रहता है। इस नये शरीरके सम्बन्ध (संयोग) को जन्म कहते हैं और पुराने शरीरके वियोगको मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जबतक चारित्रकी पूर्णता नहीं होती तबतक जीवको नया शरीर प्राप्त होता है। उसमें जीवका कषायभाव निमित्त है। ॥ ३१ ॥

योनियोंके भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

अर्थः— [**सचित्त शीत संवृताः**] सचित्त, शीत, संवृत [**सेतरा**] उससे उलटी तीन-अचित्त, उष्ण, विवृत [**च एकशः मिश्राः**] और क्रमसे एक एककी मिली हुई तीन अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, और संवृतविवृत [**तत् योनयः**] ये नव जन्मयोनियाँ हैं।

टीका

जीवोंके उत्पत्तिस्थानको योनि कहते हैं; योनि आधार है और जन्म आधेय है।

सचित्तयोनिः—जीव सहित योनिको सचित्त योनि कहते हैं।

संवृतयोनिः— जो किसीके देखनेमें न आवे ऐसे उत्पत्तिस्थानको संवृत (ढकी हुई) योनि कहते हैं।

विवृतयोनिः—जो सबके देखने में आये ऐसे उत्पत्ति स्थानको विवृत (खुली) योनि कहते हैं।

१. मनुष्य या अन्य प्राणीके पेटमें जीव (कृमि इत्यादि) उत्पन्न होते हैं उनकी सचित्तयोनि है।

२. दीवालमें, मेज, कुर्सी इत्यादिमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी अचित्तयोनि है।

३. मनुष्यकी पहनी हुई धोती इत्यादिमें जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी सचित्ताचित्तयोनि है।

४. सर्दीमें जीव उत्पन्न होते हैं उनकी शीतयोनि है। ५-गर्मीमें जो जीव उत्पन्न होते हैं उनकी उष्ण योनि है। ६-पानीके कुंडमें सूर्यकी गर्मीसे पानीके गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी शीतोष्णयोनि है। ७-बन्द पेटीमें रखे हुए फलोंमें जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी संवृतयोनि है। ८-पानीमें जो काई इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं उनकी विवृतयोनि है और ९-थोड़ा भाग खुला हुआ और थोड़ा ढका हुआ हो ऐसे स्थानमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी संवृतविवृतयोनि होती है।

५. गर्भयोनिके आकारके तीन भेद हैं—१-शंखावर्त २-कूर्मोन्नत और ३-वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं रहता, कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र तथा अन्य भी महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं, उनके अतिरिक्त कोई उत्पन्न नहीं होता। वंशपत्रयोनिमें शेष गर्भजन्मवाले सब जीव उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

गर्भजन्म किसे कहते हैं ?

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थः—[**जरायुज अंडज पोतानां**] जरायुज, अंडज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोंके [**गर्भः**] गर्भजन्म ही होता है अर्थात् उन जीवोंके ही गर्भजन्म होता है।

टीका

१. **जरायुजः**—जालीके समान मांस और खूनसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे जरायुज कहते हैं। जैसे-गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि।

अंडजः—जो जीव अंडोंमें जन्म लेते हैं उनको अंडज कहते हैं, जैसे-चिड़िया, कबूतर, मोर इत्यादि पक्षी।

पोतजः—उत्पन्न होते समय जिन जीवोंके शरीरके ऊपर किसी प्रकारका आवरण नहीं होता उन्हें पोतज कहते हैं जैसे—सिंह, बाघ हाथी, हिरण, बन्दर इत्यादि।

२—असाधारण भाषा और अध्ययनादि जरायुज जीवोंमें ही होता है। चक्रधर, वासुदेवादि महाप्रभावशाली पुरुष जरायुज होते हैं, मोक्ष भी जरायुजको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

उपपादजन्म किसे कहते हैं ?

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थः—[देवनारकाणां] देव और नारकी जीवोंके [उपपादः] उपपादजन्म ही होता है अर्थात् उपपादजन्म उन जीवोंके ही होता है।

टीका

१—देवोंके प्रसूतिस्थानमें शुद्ध सुगंधित कोमल संपुटके आकार शय्या होती है, उसमें उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्तमें परिपूर्ण जवान हो जाता है, जैसे कोई जीव शय्यासे सोकर जागता है उसीप्रकार आनन्द सहित वह जीव बैठा होता है। यह देवोंका उपपादजन्म है।

२—नारकी जीव बिलोंमें उत्पन्न होते हैं। मधुमक्खीके छत्तेकी भाँति औंधा मुख किये हुये इत्यादि आकारके विविध मुखवाले उत्पत्तिस्थान हैं, उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और वे उलटा सिर ऊपर पैर किये हुये अनेक कष्टकर वेदनाओंसे निकलकर विलाप करते हुए धरती पर गिरते हैं। यह नारकीका उपपादजन्म है ॥ ३४ ॥

सम्मूर्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थः—[शेषाणां] गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंके अतिरिक्त शेष जीवोंके [सम्मूर्छनम्] सम्मूर्छन जन्म ही होता है अर्थात् सम्मूर्छन जन्म शेष जीवोंके ही होता है।

टीका

एकेन्द्रियसे असैनी चतुरिन्द्रिय जीवोंके नियमसे सम्मूर्च्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके गर्भ और सम्मूर्छन दोनों प्रकारके जन्म होते हैं अर्थात् कुछ गर्भज होते हैं और कुछ सम्मूर्छन होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके भी सम्मूर्छनजन्म होता है ॥ ३५ ॥

शरीरके नाम तथा भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थः—[औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणानि] औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण [शरीराणि] यह पांच शरीर हैं।

औदारिक शरीरः—मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर जो कि सड़ता है, गलता है तथा झरता है वह औदारिक शरीर है। यह शरीर स्थूल होता है इसलिये उदार कहलाता है, सूक्ष्म निगोदियोंका शरीर इन्द्रियोंके द्वारा न तो दिखाई देता है, न मुड़ता है और न काटनेसे कटता है, फिर भी वह स्थूल है, क्योंकि दूसरे शरीर उससे क्रमशः सूक्ष्म हैं।

[देखो इसके वादका सूत्र]

वैक्रियिक शरीरः—जिसमें हलके, भारी तथा अनेक प्रकारके रूप वनानेकी शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं, वह देव और नारकियोंके ही होता है।

नोटः—यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि औदारिक शरीरवाले जीव ऋद्धिके कारण जो विक्रिया होती है वह औदारिक शरीरका ही प्रकार है।

आहारक शरीरः—सूक्ष्म पदार्थोंके निर्णयके लिये अथवा संयमकी रक्षा इत्यादिके लिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो एक हाथका पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। (तत्त्वमें कोई शंका होने पर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पास जानेके लिए ऐसे मुनिके मस्तकसे एक हाथका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।)

तैजस शरीरः—औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरोंको कान्ति देनेवाले तैजस वर्गणासे वने हुए शरीरको तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीरः—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

नोटः—पहिले तीन शरीर आहार वर्गणामेंसे वनते हैं।

शरीरोंकी सूक्ष्मताका वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थः—पहिले कहे हुए शरीरोंकी अपेक्षा [**परं परं**] आगे आगेके शरीर [**सूक्ष्मम्**] सूक्ष्म सूक्ष्म होते हैं अर्थात् औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारकी अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजसकी अपेक्षासे कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है॥ ३७॥

पहिले पहिले शरीरकी अपेक्षा आगेके शरीरोंके प्रदेश थोड़े होंगे—ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थः—[प्रदेशतः] प्रदेशोंकी अपेक्षासे [तैजसात् प्राक्] तैजस शरीरसे पहिलेके शरीर [असंख्येयगुणं] असंख्यातगुने हैं।

टीका

औदारिक शरीरके प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुने प्रदेश वैक्रियिक शरीरके हैं, और वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा असंख्यातगुने प्रदेश आहारक शरीरके हैं ॥ ३८ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थः—[परे] शेष दो शरीर [अनन्तगुणे] अनन्तगुने परमाणु (प्रदेश) वाले हैं अर्थात् आहारक शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश तैजस शरीरमें होते हैं और तैजस शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश कार्मण शरीरमें होते हैं।

टीका

आगे आगेके शरीरोंमें प्रदेशोंकी संख्या अधिक होने पर भी उनका मिलाप लोहेके पिंडके समान सघन होता है इसलिये वे अल्परूप होते हैं। यहां प्रदेश कहनेका अर्थ परमाणु समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

तैजस और कार्मण शरीरकी विशेषता

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

अर्थः—तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर [अप्रतीघाते] अप्रतीघात अर्थात् बाधा रहित हैं।

टीका

ये दोनों शरीर लोकके अन्त तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहांसे निकल सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर हर किसीमें प्रवेश कर सकता है, परन्तु वैक्रियिक शरीर त्रसनाली तक ही गमन कर सकता है। आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक अढ़ाई द्वीप पर्यंत जहां केवली और श्रुतकेवली होते हैं वहां तक होता है। मनुष्यका वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) तक जाता है उससे अधिक नहीं जा सकता ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण शरीरकी अन्य विशेषता

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थः—[च] और यह दोनों शरीर [अनादिसम्बन्धे] आत्माके साथ अनादिकालसे सम्बन्धवाले हैं।

टीका

१. यह कथन सामान्य तैजस और कार्मण शरीरकी अपेक्षासे है। विशेष अपेक्षासे इसप्रकारके पहिले पहिले शरीरोंका सम्बन्ध छूटकर नये नये शरीरोंका सम्बन्ध होता रहता है, अर्थात् अयोगी गुणस्थानसे पहिले-प्रतिसमय जीव इस तैजस और कार्मण शरीरके नयेनये रजकणोंको ग्रहण करता है और पुरानेको छोड़ता है। (१४ वें गुणस्थानके अन्तिम समय इन दोनोंका अभाव हो जाता है, उसी समय जीव सीधी श्रेणीसे सिद्धस्थानमें पहुँच जाता है) सूत्रमें 'च' शब्द दिया है उससे यह अर्थ निकलता है।

२. जीवके इन शरीरोंका संबन्ध प्रवाहरूपसे अनादि नहीं है परन्तु नया (सादि) है ऐसा मानना गलत है, क्योंकि जो ऐसा होता तो पहिले जीव अशरीरी था अर्थात् शुद्ध था और पीछे वह अशुद्ध हुआ ऐसा सिद्ध होगा; परन्तु शुद्ध जीवके अनन्त पुरुषार्थ होनेसे उसके अशुद्धता आ नहीं सकती और जहां अशुद्धता नहीं होती है वहां ये शरीर हो ही नहीं सकते। इसप्रकार जीवके इन शरीरोंका सम्बन्ध सामान्य अपेक्षासे (-प्रवाहरूपसे) अनादिसे और यदि इन तैजस और कार्मण शरीरोंका सम्बन्ध अनादिसे प्रवाहरूप नहीं मानकर वहीका वही अनादिसे जीवसे सम्बन्धित है ऐसा माना जाय तो उनका सम्बन्ध अनन्तकाल तक रहेगा और तब जीवके विकार न करने पर भी उसे मोक्ष कभी भी नहीं होगा। अवस्थादृष्टिसे जीव अनादिकालसे अशुद्ध है ऐसा इस सूत्रसे सिद्ध होता है (देखो इसके बादके सूत्रकी टीका)

ये शरीर अनादिकालसे सब जीवोंके होते हैं

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थः—ये तैजस और कार्मण शरीर [सर्वस्य] सब संसारी जीवोंके होते हैं।

टीका

जिन जीवोंके इन शरीरोंका सम्बन्ध नहीं होता है उनके संसारी अवस्था नहीं होती सिद्ध अवस्था होती है। यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि—किसी भी जीवके वास्तवमें (परमार्थसे) शरीर होता नहीं है। यदि जीवके वास्तवमें शरीर माना जाय तो जीव जड़ शरीररूप हो जायगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है। जीव और शरीर दोनों एक आकाशक्षेत्रमें

(एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप) रहते हैं इसलिये अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानते हैं; अवस्थादृष्टिसे जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये **'अज्ञानीके इस प्रतिभास' को व्यवहार बतलाकर** उसे 'जीवका शरीर' कहा जाता है।

इसप्रकार जीवके विकारीभावका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है, किन्तु जीव और शरीर एक द्रव्यरूप, एक क्षेत्ररूप, एक पर्यायरूप या एक भावरूप हो जाते हैं—यह बतानेका शास्त्रोंका हेतु नहीं है; इसलिये आगेके सूत्रमें 'सम्बन्ध' शब्दका प्रयोग किया है, यदि (-व्यवहार कथनानुसार) जीव और शरीर एकरूप हो जांय तो दोनों द्रव्योंका सर्वथा नाश हो जायगा ॥ ४२ ॥

एक जीवके एक साथ कितने शरीरोंका सम्बन्ध होता है ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थः—[**तदादीनि**] उन तैजस और कार्मण शरीरोंसे प्रारम्भ करके [**युगपत्**] एक साथ [**एकस्मिन्**] एक जीवके [**आचतुर्भ्यः**] चार शरीर तक [**भाज्यानि**] विभक्त करना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

टीका

जीवके यदि दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण, तीन हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक, चार हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक, अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और (लब्धिवाले जीवके) वैक्रियिक शरीर होते हैं। इसमें (लब्धिवाले जीवके) औदारिकके साथ जो वैक्रियिक शरीर होना बतलाया है वह शरीर औदारिककी जातिका है, देवके वैक्रियिक शरीरके रजकणोंकी जातिका नहीं ॥ ४३ ॥

(देखो सूत्र ३३ तथा ४७ की टीका)

कार्मण शरीरकी विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थः—[**अन्त्यम्**] अंतका कार्मण शरीर [**निरुपभोगम्**] उपभोग रहित होता है।

टीका

१. उपभोगः—इन्द्रियोंका द्वारा शब्दादिकके ग्रहण करना (-जानना) सो उपभोग है।

२. विग्रहगतिमें जीवके भावेन्द्रियां होती हैं (देखो सूत्र १८) वहां जड़ इन्द्रियोंकी रचनाका अभाव है (देखो सूत्र १७) उस स्थितिमें शब्द, रूप, रस, गंध या स्पर्शका अनुभव (–ज्ञान) नहीं होता, इसलिये कार्मण शरीरको निरुपभोग ही कहा है।

प्रश्नः—तैजस शरीर भी निरुपभोग ही है तथापि उसे यहां क्यों नहीं गिना है ?

उत्तरः—तैजस शरीर तो किसी योगका भी कारण नहीं है इसलिये निरुपभोगके प्रकरणमें उसे स्थान नहीं है। विग्रहगतिमें कार्मण शरीर कार्मण योगका कारण है (देखो सूत्र २५) इसलिये वह उपभोगके योग्य है या नहीं—यह प्रश्न उठ सकता है। उसका निराकरण करनेके लिये यह सूत्र कहा है। तैजसशरीर उपभोगके योग्य है या नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता, क्योंकि वह तो निरुपभोग ही है, इसलिये यहां उसे नहीं लिया गया है।

४. जीवकी अपनी पात्रता–योग्यता (–उपादान) के अनुसार बाह्य निमित्त संयोगरूप (उपस्थितिरूप) होते हैं, और जब अपनी पात्रता नहीं होती तब वे उपस्थित नहीं होते, यह बात इस सूत्रमें बतलाई गई है। जब जीव शब्दादिकका ज्ञान करने योग्य नहीं होता तब जड़ शरीररूप इन्द्रियां उपस्थित नहीं होती, और जब जीव वह ज्ञान करने योग्य होता है तब जड़ शरीररूप इन्द्रियां स्वयं उपस्थित होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

५. पच्चीसवां सूत्र और यह सूत्र बतलाता है कि—परवस्तु जीवको विकारभाव नहीं कराती, क्योंकि विग्रहगतिमें स्थूल शरीर, स्त्री, पुत्र इत्यादि कोई नहीं होते, द्रव्यकर्म जड़ है उनके ज्ञान नहीं होता, और वे अपना–स्वक्षेत्र छोड़कर जीवके क्षेत्रमें नहीं जा सकते इसलिये वे कर्म जीवमें विकारभाव नहीं करा सकते। जब अपने दोषसे अज्ञानदशामें प्रति–क्षण नया विकारभाव किया करता है तब जो कर्म अलग होते हैं उनपर उदयका आरोप होता है, और जीव जब विकारभाव नहीं करता तब पृथक् होनेवाले कर्मोंपर निर्जराका आरोप होता है अर्थात् उसे 'निर्जरा' नाम दिया जाता है ॥ ४४ ॥

औदारिक शरीरका लक्षण

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थः—[**गर्भ**] गर्भ [**सम्मूर्च्छनजम्**] और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाला शरीर [**आद्यं**] पहिला–औदारिक शरीर कहलाता है।

टीका

प्रश्नः—शरीर तो जड़-पुद्गलद्रव्य है और यह जीवका अधिकार है, फिर भी उसमें यह विषय क्यों लिया गया है ?

उत्तरः—जीवके भिन्न भिन्न प्रकारके विकारीभाव होते हैं तब उनका किन किस प्रकारके शरीरोंके साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है, यह बतानेके लिये शरीरोंका विषय यहाँ (इस सूत्रमें तथा इस अध्यायके अन्य कई सूत्रोंमें) लिया गया है ॥ ४५ ॥

वैक्रियिक शरीरका लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थः—[औपपादिकम्] उपपादजन्मवाले अर्थात् देव और नारकियोंके शरीर [वैक्रियिकं] वैक्रियिक होते हैं ।

नोटः—उपपादजन्मका विषय ३४ वें सूत्रमें और वैक्रियिक शरीरका विषय ३६ वें सूत्रमें आ चुका है, उन सूत्रोंको और उनकी टीकाको यहाँ भी पढ़ लेना चाहिए ।

देव और नारकियोंके अतिरिक्त दूसरोंके वैक्रियिक शरीर होता है या नहीं ?

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थः—वैक्रियिक शरीर [लब्धिप्रत्ययं च] लब्धिनैमित्तिक भी होता है ।

टीका

वैक्रियिक शरीरके उत्पन्न होनेमें ऋद्धिका निमित्त है, साधुको तपकी विशेषतासे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको 'लब्धि' कहा जाता है । प्रत्ययका अर्थ निमित्त है । किसी तिर्यंचको भी विक्रिया होती है । विक्रिया शुभभावका फल है, धर्मका नहीं । धर्मका फल तो शुद्ध असंगभाव है और शुभभावका फल बाह्य संयोग है । मनुष्य तथा तिर्यंचोंका वैक्रियिक शरीर देव तथा नारकियोंके शरीरसे भिन्न जातिका होता है, वह औदारिक शरीरका ही एक प्रकार है ॥ ४७ ॥

[देखो सूत्र ३६ तथा ४३ की टीका]

वैक्रियिकके अतिरिक्त किसी अन्य शरीरको भी लब्धिका निमित्त है ?

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थः—[तैजसम्] तैजस शरीर [अपि] भी लब्धिनिमित्तक है ।

टीका

१—तैजसशरीरके दो भेद हैं—अनिःसरण और निःसरण। अनिःसरण सर्व संसारी जीवोंके शरीरकी दीप्तिका कारण है, वह लब्धिप्रत्यय नहीं है। उसका स्वरूप सूत्र ३६ की टीकामें आ चुका है।

२—निःसरण-तैजस शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। यदि किसी क्षेत्रमें रोग, अकाल आदि पड़े तो उससे लोगोंको दुःखी देखकर तपस्याके धारी मुनिके अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाय तो उनके दाहिने कंधेमेंसे एक तैजसपिंड निकलकर १२ योजन तक जीवोंका दुःख मिटाकर मूलशरीरमें प्रवेश करता है उसे निःसरणशुभतैजस शरीर कहते हैं। और किसी क्षेत्रमें मुनि अत्यन्त क्रोधित हो जाय तो ऋद्धिके प्रभावसे उसके बायें कंधेसे सिंदूरके समान लाल अग्निरूप कान्तिवाला बिलावके आकार एक शरीर निकलकर (वह शरीर बढ़कर १२ योजन लंबा और ९ योजन विस्तारवाला होकर) १२ योजन तकके सब जीवोंके शरीरको तथा अन्य पुद्गलोंको जलाकर भस्म करके मूलशरीरमें प्रवेश करके उस मुनिको भी भस्म कर देता है, (वह मुनि नरकको प्राप्त होता है।) उसे निःसरणअशुभतैजस शरीर कहते हैं ॥ ७८ ॥

आहारक शरीरका स्वामी तथा उसका लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

अर्थः—[**आहारकं**] आहारक शरीर [**शुभम्**] शुभ है अर्थात् वह शुभ कार्य करता है [**विशुद्धम्**] विशुद्ध है अर्थात वह विशुद्धकर्म (मंद कषायसे बंधनेवाले कर्म) का कार्य है। [**च अव्याघाति**] और व्याघात-बाधारहित है तथा [**प्रमत्तसंयतस्यैव**] प्रमत्तसंयत (छट्ठें गुणस्थानवर्ती) मुनिके ही वह शरीर होता है।

टीका

१—यह शरीर चन्द्रकान्तमणिके समान सफेद रंगका एक हाथ प्रमाणका पुरुषाकार होता है, यह पर्वत वज्र इत्यादिसे नहीं रुकता इसलिये अव्याघाति है। यह शरीर प्रमत्त-संयमी मुनिके मस्तकमेंसे निकलता है, प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही यह शरीर होता है अन्यत्र नहीं होता; और यह शरीर सभी प्रमत्तसंयत मुनियोंके भी नहीं होता।

२—यह आहारक शरीर (१) कदाचित् लब्धि-विशेषका सद्भाव जाननेके लिये, (२) कदाचित् सूक्ष्मपदार्थके निर्णयके लिये तथा (३) कदाचित् तीर्थगमनके या संयमकी रक्षाके

निमित्त उनका प्रयोजन है, केवली भगवान् अथवा श्रुतकेवली भगवान्‌के पास जाते ही स्वयं निर्णय करके अंतर्मुहूर्तमें वापिस आकर संयमी मुनिके शरीरमें प्रवेश करता है।

३—जिससमय भरत-ऐरावत क्षेत्रोंमें तीर्थंकर भगवानको, केवलीको या श्रुतकेवलीको उपस्थिति नहीं होती और उनके बिना मुनिका समाधान नहीं हो पाता तब महाविदेह क्षेत्रमें जहां तीर्थंकर भगवान इत्यादि विराजमान होते हैं वहां उन (भरत या ऐरावत क्षेत्रके) मुनिका आहारक शरीर जाता है, और भरत-ऐरावत क्षेत्रमें तीर्थंकरादि होते हैं तब वह निकटके क्षेत्रमें जाता है। महा विदेहमें तीर्थंकर त्रिकाल होते हैं इसलिये वहांके मुनिके ऐसा प्रसंग आये तो उनका आहारक शरीर उस क्षेत्रके तीर्थंकरादिके पास जाता है।

४—(१) देव अनेक वैक्रियिक शरीर कर सकते हैं, मूलशरीर सहित देव स्वर्गलोकमें विद्यमान रहते हैं और विक्रियाके द्वारा अनेक शरीर करके दूसरे क्षेत्रमें जाते हैं। जैसे कोई सामर्थ्यका धारक देव अपने एक हजार रूप बनाये परन्तु उन हजारों शरीरोंमें उस देवकी आत्माके प्रदेश होते हैं। मूल वैक्रियिक शरीर जघन्य दस हजार वर्ष तक रहता है अर्थात् अधिक जितनी आयु होती है उतने समय तक रहता है। उत्तर वैक्रियिक शरीरका काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त ही है। तीर्थंकर भगवानके जन्मके समय और नंदीश्वरादिके जिनमन्दिरोंकी पूजाके लिये देव जाते हैं तब बारम्बार विक्रिया करते हैं।

(२) प्रमत्तसंयत मुनिका आहारक शरीर दूर क्षेत्र—विदेहादिमें जाता है।

(३) तैजसशरीर १२ योजन (४८ कोस) तक जाता है।

(४) आत्मा अखंड है, उसके खण्ड नहीं होते। आत्माके असंख्यात प्रदेश हैं वे कार्मण शरीरके साथ निकलते हैं, मूलशरीर ज्योंका त्यों बना रहता है और उसमें भी प्रत्येक स्थलमें आत्माके प्रदेश अखण्ड रहते हैं।

(५)—जैसे अन्नको प्राण कहना उपचार है, उसीप्रकार इस सूत्रमें आहारक शरीरको उपचारसे ही 'शुभ' कहा है। दोनों स्थानोंमें कारणमें कार्यका उपचार (व्यवहार) किया गया। जैसे अन्नका फल प्राण है उसीप्रकार शुभका फल आहारक शरीर है, इसलिये यह उपचार है॥ ४९॥

लिंग अर्थात् वेदके स्वामी

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थः—[नारकसम्मूर्च्छिनो] नारकी और सम्मूर्च्छन जन्मवाले [नपुंसकानि] नपुंसक होते हैं।

टीका

१—लिंग अर्थात् वेद दो प्रकारके हैं—(१) द्रव्यलिंग = पुरुष, स्त्री या नपुंसकत्व वतानेवाला शरीरका चिह्न और (२) भावलिंग=स्त्री, पुरुष अथवा स्त्री-पुरुष दोनोंके भोगनेकी अभिलाषारूप आत्माके विकारी परिणाम। नारकी और सम्मूर्च्छन जीवोंके द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों नपुंसक होते हैं।

२—नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं, क्योंकि उन जीवोंके स्त्री-पुरुष सम्बन्धी मनोज्ञ शब्दका सुनना, मनोज्ञ गंधका सूंघना, मनोज्ञ रूपका देखना, मनोज्ञ रसका चखना, या मनोज्ञ स्पर्शका स्पर्शन करना इत्यादि कुछ नहीं होता, इसलिये थोड़ासा कल्पित सुख भी उन जीवोंके नहीं होता, अतः निश्चय किया जाता है कि वे जीव नपुंसक ही हैं ॥ ५० ॥

देवोंके लिंग

न देवाः ॥ ५१ ॥

प्रश्नः—[देवाः] देव [न] नपुंसक नहीं होते, अर्थात् देवोंके पुरुषलिंग और देवियोंके स्त्रीलिंग होता है।

टीका

१—देवगतिमें द्रव्यलिंग तथा भावलिंग एकसे होते हैं। २—भोगभूमि म्लेच्छखण्डके मनुष्य स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनोंको धारण करते हैं, वहाँ नपुंसक उत्पन्न नहीं होते ॥५१॥

अन्य कितने लिंगवाले हैं ?

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

अर्थः—[शेषाः] शेषके गर्भज मनुष्य और तिर्यंच [त्रिवेदाः] तीनों वेदवाले होते हैं।

टीका

भाववेदके भी तीन प्रकार हैं—(१) पुरुषवेदकी कामाग्नि तृणकी अग्निके समान जल्दी शांत हो जाती है, (२) स्त्रीवेदकी कामाग्नि अंगारके समान गुप्त और कुछ समयके

बाद शांत होती है, और (३) नपुंसकवेदकी कामाग्नि ईंटकी आगके समान बहुत समयतक बनी रहती है ॥ ५२ ॥

किनकी आयु अपवर्तन (-अकालमृत्यु) रहित है ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

अर्थः— [**औपपादिक**] उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, [**चरम उत्तम देहाः**] चरम उत्तम देहवाले अर्थात् उसी भवमें मोक्ष जाने वाले तथा [**असंख्येयवर्ष आयुषः**] असंख्यात वर्ष आयुवाले भोगभूमिके जीवोंकी [**आयुषः अनपवर्तिं**] आयु अपवर्तन रहित होती है ।

टीका

१—आठ कर्मोंमें आयुनामका एक कर्म है । भोग्यमान (भोगी जानेवाली) आयु कर्मके रजकण दो प्रकारके होते हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम । उनमेंसे आयुके प्रमाणमें प्रतिसमय समान निषेक निर्जरित होते हैं, उस प्रकारका आयु निरुपक्रम अर्थात् अपवर्तन रहित है; और जिस आयुकर्मके भोगनेमें पहिले तो समय समयमें समान निषेक निर्जरित होते हैं परन्तु उसके अन्तिम भागमें बहुतसे निषेक एकसाथ निर्जरित हो जायें उसप्रकारकी आयु सोपक्रम कहलाती है । आयुकर्मके बन्धमें ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरुपक्रम आयुका उदय हो उसके समय समय समान निर्जरा होती है इसलिये वह उदय कहलाता है; और सोपक्रम आयुवालेके पहिले अमुक समय तो उपरोक्त प्रकारसे ही निर्जरा होती है तब उसे उदय कहते हैं, परन्तु अन्तिम अन्तर्मुहुर्तमें सभी निषेक एक साथ निर्जरित हो जाते हैं इसलिये उसे उदीरणा कहते हैं; वास्तवमें किसी की आयु बढ़ती या घटती नहीं है परन्तु निरुपक्रम आयुका सोपक्रम आयुसे भेद बतानेकेलिये सोपक्रम आयुवाले जीवकी 'अकाल मृत्यु हुई' ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है ।

३—उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट; चरमदेह उत्कृष्ट होती है, क्योंकि जो जो जीव केवलज्ञान पाते हैं उनका शरीर केवलज्ञान प्रगट होने पर परमौदारिक हो जाता है । जिस शरीरसे जीवको केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता वह शरीर चरम नहीं होता, और परमौदारिक भी नहीं होता । मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवका शरीरके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध केवलज्ञान प्राप्त होने पर कैसा होता है यह बतानेके लिये इस सूत्रमें चरम और उत्तम, -ऐसे दो विशेषण दिये गये हैं, जब केवलज्ञान प्रगट होता है तब उस शरीरको 'चरम'

संज्ञा प्राप्त होती है; और वह परमौदारिकरूप हो जाता है इसलिये उसे 'उत्तम' संज्ञा प्राप्त होती है; परन्तु वज्रवृषभनाराचसंहनन तथा समचतुरस्रसंस्थानके कारण शरीरको 'उत्तम' संज्ञा नहीं दी जाती।

३—सोपक्रम-कदलीघात अर्थात् वर्तमानके लिये अपवर्तन होनेवाली आयुवालेके बाह्यमें विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, श्वासावरोध, अग्नि, जल, सर्प, अजीर्णभोजन, वज्रपात, शूली, हिंसक जीव, तीव्रभूख या प्यास आदि कोई निमित्त होते हैं। (कदलीघातके अर्थके लिये देखो अ० ४ सूत्र २९ की टीका)

४—कुछ अंतःकृत केवली ऐसे होते हैं कि जिनका शरीर उपसर्गसे विदीर्ण हो जाता है परन्तु उनकी आयु अपवर्तनरहित है। चरमदेहधारी गुरुदत्त, पांडव इत्यादिको उपसर्ग हुआ था परन्तु उनकी आयु अपवर्तनरहित थी।

५—'उत्तम' शब्दका अर्थ त्रेसठ शलाका पुरुष, अथवा कामदेवादि ऋद्धियुक्त पुरुष,—ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि सुभोम चक्रवर्ती, अंतिम ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा अंतिम अर्धचक्रवर्ती वासुदेव आयुके अपवर्तन होने पर मरणको प्राप्त हुये थे।

६—भरत और बाहुबलि तद्भवमोक्षगामी जीव हुये हैं, इसलिये परस्पर लड़ने पर भी उनकी आयु बिगड़ सकती नहीं-ऐसा कहा है, वह बताता है कि 'उत्तम' शब्दका तद्भवमोक्षगामी जीवोंके लिये ही प्रयोग किया गया है।

७—सभी चक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती अनपवर्तन आयुवाले होते हैं; ऐसा नियम नहीं है।

८—सर्वार्थसिद्धि टीकामें श्री पूज्यपाद आचार्यदेवने 'उत्तम' शब्दका अर्थ किया है; इसलिये मूल सूत्रमें वह शब्द है यह सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने तत्त्वार्थसारके दूसरे अध्यायकी १३५ वीं गाथामें उत्तम शब्दका प्रयोग किया है, वह गाथा निम्नप्रकार है—

असंख्येयसमायुष्काश्चरमोत्तममूर्तयः।
देवाश्च नारकाश्चैषाम् अपमृत्युर्नविद्यते ॥ १३५ ॥

उपसंहार

(१) इस अध्यायमें जीवतत्त्वका निरूपण है, उसमें प्रथम ही जीवके औपशमिकादि पांच भावोंका वर्णन किया है (सूत्र १), [illegible] भावोंके ५३ भेद सात सूत्रोंमें कहे हैं।

[सूत्र ७ तक], तत्पश्चात् जीवका प्रसिद्ध लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेद कहे हैं [सूत्र ९], जीवके संसारी और मुक्त दो भेद कहे हैं [सूत्र १०], उनमेंसे संसारी जीवोंके भेद सैनी-असैनी तथा त्रस-स्थावर कहे हैं, और त्रसके भेद दो इन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक बतलाये हैं, पांच इन्द्रियोंके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं, और उसके विषय बतलाये हैं [सूत्र २१ तक], एकेन्द्रियादि जीवोंके कितनी इन्द्रियाँ होती हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र २३ तक], और फिर सैनी जीवोंका तथा जीव परभवगमन करता है उसका (गमनका) स्वरूप कहा है [सूत्र ३० तक], तत्पश्चात् जन्मके भेद, योनिके भेद, तथा गर्भज, देव, नारकी, और सम्मूर्च्छन जीव कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निर्णय किया है। [सूत्र ३५ तक], पांच शरीरोंके नाम बतलाकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलताका स्वरूप कहा है, और वे कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र ४९ तक], फिर किस जीवके कौनसा भेद होता है यह कहा है [सूत्र ५२ तक], फिर उदयमरण और उदीरणामरणका नियम बताया है [सूत्र ५३।

जबतक जीवकी अवस्था विकारी होती है तबतक ऐसे परवस्तुके संयोग होते हैं; यहाँ उनका ज्ञान कराया है; और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागता प्राप्त करके संसारी मिटकर मुक्त होनेके लिये बतलाया है।

२. पारिणामिकभावके सम्बन्धमें

जीव और उसके अनन्तगुण त्रिकाल अखण्ड अभेद हैं इसलिये वे पारिणामिकभावसे हैं। प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणका प्रतिक्षण परिणमन होता है; और जीव भी द्रव्य है इसलिए तथा उसमें द्रव्यत्व नामका गुण है इसलिए प्रतिसमय उसके अनन्तगुणोंका परिणमन होता है, उस परिणमन को पर्याय कहते हैं। उसमें जो पर्यायें अनादिकालसे शुद्ध हैं वे भी पारिणामिक भावसे हैं।

जीवकी अनादिकालसे संसारी अवस्था है—यह बात इस अध्यायके १० वें सूत्रमें कही है; क्योंकि जीव अपनी अवस्थामें अनादिकालसे प्रतिक्षण नया विकार करता आ रहा है, किन्तु यह ध्यान रहे कि उसके सभी गुणोंकी पर्यायोंमें विकार नहीं होता किन्तु अनन्त गुणोंमेंसे बहुतसे कम गुणोंकी अवस्थामें विकार होता है। जितने गुणोंकी अवस्थामें विकार नहीं होता उतनी पर्यायें शुद्ध हैं।

प्रत्येक द्रव्य सत् है, इसलिए उसकी पर्यायमें प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्वका पर्याय अवलम्बन करती है। उन तीन अंशोंमेंसे जो सदृशतारूप ध्रौव्य अंश है वह अंश अनादि-अनन्त एकप्रवाहरूप है ध्रौव्य पर्याय भी पारिणामिकभावसे है।

इससे निम्नप्रकार पारिणामिकभाव सिद्ध हुआ—

द्रव्यका त्रिकालत्व तथा अनन्तगुण और उनकी पर्यायोंका एकप्रवाहरूपसे रहनेवाला अनादि-अनन्त ध्रौव्यांश—यह तीनों अभेदरूपसे पारिणामिकभाव है, और उसे [illegible] परमपारिणामिकभाव कहा जाता है।

३. उत्पाद और व्यय पर्याय—

अब उत्पाद और व्ययपर्यायके सम्बन्धमें कहते हैं:—व्ययपर्याय अभावरूप है और वह पारिणामिक भावसे है।

द्रव्यके अनन्त गुणोंकी प्रतिसमय उत्पादपर्याय होती रहती है, उसमें जिन गुणोंकी पर्याय अनादिकालसे अविकारी है वह पारिणामिकभावसे है और वह पर्याय है इसलिए पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है।

परकी अपेक्षा रखनेवाले जीवके भावोंके चार विभाग होते हैं-१—औपशमिकभाव, २—क्षायोपशमिकभाव, ३—क्षायिकभाव और ४—औदयिकभाव। इन चार भावोंका स्वरूप पहिले इस अध्यायके सूत्र १ की टीकामें कहा है।

४. धर्म करनेके लिये पांच भावोंका ज्ञान कैसे उपयोगी है?

यदि जीव इन पांच भावोंके स्वरूपको जान ले तो वह स्वयं यह समझ सकता है कि-किस भावके आधारसे धर्म होता है। पांच भावोंमेंसे पारिणामिकभावके अतिरिक्त शेष चार भावोंमेंसे किसीके लक्ष्यसे धर्म नहीं होता, और जो पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिक-भाव है उसके आश्रयसे भी धर्म नहीं होता-यह वह समझ सकता है।

जब कि अपने पर्यायार्थिकनयसे वर्तनेवाले पारिणामिकभावके आश्रयसे भी धर्म नहीं होता तब फिर निमित्त जो कि परद्रव्य है—उसके आश्रयसे या लक्ष्यसे तो धर्म हो ही नहीं सकता; यह भी वह समझता है। और परमपारिणामिकभावके आश्रयसे ही धर्म होता है ऐसा वह समझता है।

५. उपादानकारण और निमित्तकारणके सम्बन्धमें—

प्रश्नः—जैनधर्मने वस्तुका स्वरूप अनेकान्त कहा है, इसलिए किसी समय उपादान (परमपारिणामिकभाव) की मुख्यतासे धर्म हो और किसी समय निमित्त (परद्रव्य) की मुख्यतासे धर्म हो, ऐसा होना चाहिए। उपरोक्त प्रकारसे मात्र उपादान (परमपारिणामिक-भाव) से धर्म होता है ऐसा कहनेसे एकान्त हो जायगा।

उत्तरः—यह प्रश्न सम्यक्अनेकान्त, मिथ्याअनेकान्त, और सम्यक् और मिथ्या-एकान्तके स्वरूपकी अज्ञानता बतलाता है। परमपारिणामिक भावके आश्रयसे धर्म हो और दूसरे किसी भावके आश्रयसे धर्म न हो, इस प्रकार अस्ति-नास्तिस्वरूप सम्यक् अनेकान्त है। प्रश्नमें बतलाया गया अनेकान्त मिथ्याअनेकान्त है। और यदि इस प्रश्नमें बतलाया गया सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तो वह मिथ्याएकान्त होता है, क्योंकि यदि किसी समय निमित्तकी मुख्यतासे (अर्थात् परद्रव्यकी मुख्यतासे) धर्म हो तो परद्रव्य और स्वद्रव्य दोनों एक हो जांय, जिससे मिथ्याएकान्त होता है।

जिससमय उपादान कार्यपरिणत होता है उसी कार्यके समय निमित्तकारण भी स्वयं उपस्थित होता है, लेकिन निमित्तकी मुख्यतासे कोई भी कार्य किसी भी समय नहीं होता, ऐसा नियम दिखानेके लिए श्री बनारसीदासजीने कहा है कि:—

"उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझे कोय।

उपादान बल जहँ तहां, नहीं निमित्तको दाव,
एक चक्रसों रथ चले, रविको यह स्वभाव।

सध वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन,
ज्यों जहाज परवाहमें, तिरै सहज बिन पौन।"

प्रश्नः—तब फिर शास्त्रमें यह तो कहा है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और भगवानकी दिव्यध्वनिके आश्रयसे धर्म होता है; इसलिये कभी उन निमित्तोंकी मुख्यतासे धर्म होता है ऐसा माननेमें क्या दोष है?

उत्तरः—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु आदिसे धर्म होता है ऐसा कथन व्यवहारनयका है, उसका परमार्थ तो ऐसा है कि—परमशुद्धनिश्चयनयग्राहक परमपारिणामिकभावके आश्रयसे (अर्थात् निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य परमात्मभाव-ज्ञायकभावसे) धर्म होता है; और शुभभावरूप रागका अवलम्बन लेता है उसमें सत्देव, सत्गुरु, सत्शास्त्र तथा भगवानकी दिव्यध्वनि निमित्तमात्र है; तथा उस ओरके राग—विकल्पको टाल करके जीव जब परमपारिणामिकभावका (ज्ञायकभावका) आश्रय लेता है तब उसके धर्म प्रगट होता है और उस समय रागका अवलम्बन छूट जाता है। धर्म प्रगट होनेके पूर्व राग किस दिशामें झुका था यह बतानेके लिए देव-गुरु-शास्त्र या दिव्यध्वनि इत्यादिक निमित्त कहनेमें आते हैं, परन्तु निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी समय धर्म होता है यह बतानेके लिये निमित्तका ज्ञान नहीं कराया जाता।

(२) किसी समय उपादानकारणकी मुख्यतासे धर्म होता है और किसी समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे धर्म होता है-अगर ऐसा मान लिया जाय तो धर्म करनेके लिये कोई त्रिकालवर्ती अबाधित नियम नहीं रहेगा; और यदि कोई नियमरूप सिद्धान्त न हों तो धर्म किस समय उपादानकारणकी मुख्यतासे होगा और किस समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे होगा यह निश्चित् न होनेसे जीव कभी धर्म नहीं कर सकेगा।

(३) धर्म करनेके लिये त्रैकालिक एकरूप नियम न हो ऐसा नहीं हो सकता; इसलिये यह समझना चाहिये कि जो जीव पहिले धर्मको प्राप्त हुए हैं, वर्तमानमें धर्मको प्राप्त हो रहे हैं और भविष्यमें धर्मको प्राप्त करेंगे उन सबके पारिणामिकभावका ही आश्रय है, किसी अन्यका नहीं।

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि जीव ही सम्यग्दर्शन होनेके बाद सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन लेते हैं और उनके आश्रयसे उन्हें धर्म प्राप्त होता है, तो वहाँ निमित्तकी मुख्यतासे धर्मका कार्य हुआ या नहीं?

उत्तरः—नहीं, निमित्तकी मुख्यतासे कहीं भी कोई कार्य होता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टिके जो राग और रागका अवलम्बन है उसका भी खेद रहता है; सच्चे देव, गुरु या शास्त्रका भी कोई जीव अवलम्बन ले ही नहीं सकता, क्योंकि वह भी परद्रव्य है; फिर भी जो यह कहा जाता है कि-ज्ञानीजन सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका अवलम्बन लेते हैं वह उपचार है, कथनमात्र है; वास्तवमें परद्रव्यका अवलम्बन नहीं, किन्तु वहां अपनी अशुद्ध अवस्थारूप रागका ही अवलम्बन है।

अब, जो उस शुभभावके समय सम्यग्दृष्टिके शुद्धभाव बढ़ता है वह अभिप्रायमें परमपारिणामिकभावका आश्रय है उसीके बलसे बढ़ता है। अन्य प्रकारसे कहा जाय तो सम्यग्दर्शनके बलसे वह शुद्धभाव बढ़ते हैं किन्तु शुभराग या परद्रव्यके अवलम्बनसे शुद्धता नहीं बढ़ती।

प्रश्नः—देव-गुरु-शास्त्रको निमित्तमात्र कहा है और उनके अवलम्बनको उपचारमात्र कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तरः—इस विश्वमें अनन्त द्रव्य हैं, उनमेंसे रागके समय छद्मस्थ जीवका झुकाव किस द्रव्यकी ओर हुआ यह बतानेके लिये उस द्रव्यको 'निमित्त' कहा जाता है। जीव अपनी योग्यतानुसार जैसा परिणाम (-कार्य) करता है वैसे अनुकूल निमित्तपनेका परद्रव्यमें उपचार किया जाता है; इसप्रकार जीव शुभरागका अवलम्बन करे तो देव-गुरु-शास्त्र निमित्तमात्र है और उनका आलम्बन उपचारमात्र है।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जीवको सच्चा ज्ञान करनेके लिये है, ऐसी मिथ्या मान्यता करनेकेलिये नहीं कि—'धर्म करनेमें किसी समय निमित्तकी मुख्यता होती है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहते हैं उन्हें स्वतंत्रतारूप निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कर लेना चाहिये। उस ज्ञानकी आवश्यकता इसलिये है कि—यदि वह ज्ञान न हो तो जीवका ऐसा अन्यथा झुकाव बना रह सकता है कि—किसी समय निमित्तकी मुख्यतासे भी कार्य होता है, और इससे उसका अज्ञानपना दूर नहीं होगा। और ऐसी निमित्ताधीनदृष्टि, पराधीनता स्वीकार करनेवाली संयोगदृष्टि है जो संसारका मूल है, इससे उसके अपार संसारभ्रमण चलता रहेगा।

६. इन पाँच भावोंके साथ इस अध्यायके सूत्र कैसे संबंध रखते हैं, इसका स्पष्टीकरण

सूत्र—१. यह सूत्र पांचों भाव बतलाता है, उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषयरूप अपने पारिणामिकभावके आश्रयसे ही धर्म होता है।

सूत्र २—६. यह सूत्र पहिले चार भावोंके भेद बतलाते हैं। उनमेंसे तीसरे सूत्रमें औपशमिकभावके भेदोंका वर्णन करते हुये पहिले सम्यक्त्व लिया है, क्योंकि धर्मका प्रारम्भ औपशमिक सम्यक्त्वसे होता है, सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद आगे बढ़ने पर कुछ जीवोंके औपशमिक चारित्र होता है इसलिए दूसरा औपशमिक चारित्र कहा है। इन दोके अतिरिक्त अन्य कोई औपशमिक भाव नहीं है। [सूत्र ३]

जो जो जीव धर्मके प्रारम्भमें प्रगट होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्वको पारिणामिक भावके आश्रयसे प्राप्त करते हैं वे अपनेमें शुद्धिको बढ़ाते-बढ़ाते अन्तमें सम्पूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये उन्हें सम्यक्त्व और चारित्रकी पूर्णता होनेके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-गुणोंकी पूर्णता प्रगट होती है। इन नौ भावोंकी प्राप्ति क्षायिकभावसे पर्यायमें होती है, इसलिये फिर कभी विकार नहीं होता और वे जीव अनन्त काल तक प्रतिसमय सम्पूर्ण आनन्द भोगते हैं; इसलिये चौथे सूत्रमें यह नौ भाव बतलाये हैं। उन्हें नव लब्धि भी कहते है।

सम्यग्ज्ञानका विकास कम होनेपर भी सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रके बलसे वीतरागता प्रगट होती है, इसलिये उन दो शुद्ध पर्यायोंके प्रगट होनेके बाद शेष सात क्षायिक पर्यायें एक साथ प्रगट होती हैं; जब सम्यग्ज्ञानके पूर्ण होनेपर केवलज्ञान भी प्रगट होता है। [सूत्र ४]

जीवमें अनादिकालसे विकार बना हुआ है फिर भी उनके ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुण सर्वथा नष्ट नहीं होते; उनका विकास कम-बढ़ अंशतः रहता है। उपशम सम्यक्त्व द्वारा अनादिकालीन अज्ञानको दूर करनेके बाद साधकजीवोंको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, और उन्हें क्रमशः चारित्र प्रगट होता है, वे सब क्षायोपशमिकभाव हैं। [सूत्र ५]

जीव अनेक प्रकारका विकार करता है और उसके फलस्वरूप चतुर्गतिमें भ्रमण करता है; उसमें उसे स्वस्वरूपकी विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान और विपरीत प्रवृत्ति होती है, और इससे उसे कषाय भी होती है। और फिर सम्यग्ज्ञान होनेके बाद पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व आंशिक कषाय होती है, जिससे उसकी भिन्न भिन्न लेश्यायें होती हैं। जीव स्वरूपका आश्रय छोड़कर पराश्रय करता है इसलिये रागादि विकार होते हैं; उसे औदयिकभाव कहते हैं। मोह सम्बन्धी यह भाव ही संसार है। [सूत्र ६]

सूत्र ७—जीवमें शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो प्रकारके पारिणामिकभाव हैं। [सूत्र ७ तथा उसके नीचेकी टीका]

सूत्र ८-९—जीवका लक्षण उपयोग है; छद्मस्थ जीवका ज्ञान-दर्शनका उपयोग क्षायोपशमिक होनेसे अनेकरूप और कम-बढ़ होता है, और केवलज्ञान क्षायिकभावसे प्रगट होनेसे एकरूप और पूर्ण होता है। [सूत्र ८-९]

सूत्र १०—जीवके दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। उनमेंसे अनादि अज्ञानी संसारी जीवके तीन भाव (औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक) होते हैं। प्रथम धर्म प्राप्ति करनेपर चार (औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेके बाद उपशमश्रेणी मांडनेवाले जीवके पांचों भाव होते हैं। और मुक्त जीवोंके क्षायिक तथा पारिणामिक दो ही भाव होते हैं। [सूत्र १०]

सूत्र ११—जीवने स्वयं जिस प्रकारके ज्ञान, वीर्यादिके विकासकी योग्यता प्राप्त की होती है उस क्षायोपशमिकभावके अनुकूल जड़ मनका सद्भाव या अभाव होता है। जब जीव मनकी ओर अपना उपयोग लगाते हैं तब उन्हें विकार होता है, क्योंकि मन परवस्तु है। और जब जीव अपना पुरुषार्थ मनकी ओर लगाकर ज्ञान या दर्शनका व्यापार करते हैं तब द्रव्यमनपर निमित्तपनेका आरोप आता है। वैसे द्रव्यमन कोई हानि या लाभ नहीं करता क्योंकि वह परद्रव्य है। [सूत्र ११]

सूत्र १२-२०—अपने क्षायोपशमिक ज्ञानादिके अनुसार और नामकर्मके उदयानुसार जीव संसारमें त्रस या स्थावर दशाको प्राप्त होता है। इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके

अनुसार जीवकी दशा होती है। पहिले जो नामकर्म बंधा था उसका उदय होनेपर त्रस स्थावरत्वका तथा जड़ इन्द्रियों और मनका संयोग होता है। [सूत्र १२ से १७ तथा १९ से २०]

ज्ञानके क्षायोपशमिकभावके लब्धि और उपयोग दो प्रकार हैं। [सूत्र १८]

सूत्र २१ से ५३—संसारी जीवोंके औदयिकभाव होने पर जो कर्म एकक्षेत्रावगाह-रूपसे बंधते हैं उनके उदयका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध—जीवके क्षायोपशमिक तथा औदयिक-भावके साथ तथा मन, इन्द्रिय, शरीर, कर्म, नये भवके लिये क्षेत्रान्तर आकाशकी श्रेणी, गति, नोकर्मका समय-समय ग्रहण, तथा उनका अभाव, जन्म, योनि, तथा आयुके साथ—कैसा होता है यह बताया है। [सूत्र २१ से २६ तथा २८ से ५३]

सिद्धदशाके होनेपर जीवका आकाशकी किसी श्रेणीके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है यह २७ वें सूत्रमें बताया है [सूत्र २७]

इससे यह समझना चाहिये कि जीवको विकारी या अविकारी अवस्थामें जिन पर-वस्तुओंके साथ संबंध होता है उन्हें जगत्की अन्य परवस्तुओंसे पृथक् समझनेके लिये उतने ही समयके लिये उन्हें 'निमित्त' नाम देकर संबोधित किया जाता है; **किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी समय कार्य होता है।** इस अध्यायका २७ वां सूत्र इस सिद्धांतको स्पष्टतया सिद्ध करता है। मुक्त जीव स्वयं लोकाकाशके अग्रभागमें जानेकी योग्यता रखते हैं और तब आकाशकी जिस श्रेणीमेंसे वे जीव पार होते हैं उन श्रेणीको आकाशके अन्य भागोंसे तथा जगतके दूसरे समस्त पदार्थोंसे पृथक् करके पहिचाननेके लिये 'निमित्त' नाम (आरोपित करके) दिया जाता है।

७. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

यह सम्बन्ध २६-२७ वें सूत्रमें चमत्कारिक ढंगसे अत्यल्प शब्दोंमें कहा गया है। वह यहां बतलाया जाता है—

१—जीवकी सिद्धावस्थाके प्रथम समयमें वह लोकके अग्रभागमें सीधी आकाशश्रेणीसे मोड़ लिये बिना ही जाता है; यह सूत्र २६-२७ में प्रतिपादन किया गया है। जिस समय जीव लोकाग्रमें जाता है उस समय वह जिस आकाशश्रेणीमेंसे जाता है उसी क्षेत्रमें धर्मा-स्तिकायके और अधर्मास्तिकायके प्रदेश हैं; अनेक प्रकारकी पुद्गल वर्गणायें हैं, पृथक् परमाणु हैं, सूक्ष्म स्कन्ध हैं, कालाणु द्रव्य हैं, महास्कन्धके प्रदेश हैं, निगोदके जीवोंके तथा उनके शरीरके प्रदेश हैं तथा लोकान्तमें (सिद्धशिलासे ऊपर) पहिले मुक्त हुए जीवोंके कितने ही प्रदेश हैं, उन सबमेंसे पार होकर जीव लोकके अग्रभागमें जाता है। इसलिये वह उसमें-

उस आकाशश्रेणीमें निमित्तत्वका आरोप आया और दूसरोंमें नहीं आया, इसके कारणकी जांच करने पर मालूम होता है कि वह मुक्त होनेवाला जीव किस आकाशश्रेणीमेंसे होकर जाता है इसका ज्ञान करानेके लिए उस 'आकाशश्रेणी' को निमित्त संज्ञा दी गई है; क्योंकि पहिले समयकी सिद्धदशाको आकाशके साथका संबंध बतानेके लिये उस श्रेणीका भाग ही अनुकूल है, अन्य द्रव्य, गुण या पर्याय उसके लिये अनुकूल नहीं है।

२—सिद्धभगवानके उस समयके ज्ञानके व्यापारमें सम्पूर्ण आकाश तथा दूसरे सब द्रव्य, उनके गुण तथा उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें ज्ञेय होती हैं; इसलिये उसी समय ज्ञानमात्रके लिये वे सब ज्ञेय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

३—सिद्धभगवानके उस समयके परिणमनको काल द्रव्यकी उसी समयकी पर्याय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होती है, क्योंकि परिणमनमें वह अनुकूल है, दूसरे अनुकूल नहीं हैं।

४—सिद्धभगवानकी उस समयकी क्रियावतीशक्तिके गति परिणामको तथा ऊर्ध्वगमन स्वभावको धर्मास्तिकायके किसी आकाशक्षेत्रमें रहनेवाले प्रदेश उसी समय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं, क्योंकि गतिमें वही अनुकूल हैं, दूसरे नहीं।

५—सिद्धभगवानके ऊर्ध्वगमनके समय दूसरे द्रव्य (जो कि आकाशक्षेत्रमें हैं वे तथा शेष द्रव्य) भी 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं, क्योंकि उन सब द्रव्योंका यद्यपि सिद्धावस्थाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि विश्वको सदा शाश्वत रखता हैं इतना बतानेके लिये वह अनुकूल निमित्त है।

६—सिद्धभगवानकी सम्पूर्ण शुद्धताके साथ कर्मोंका अभावसम्बन्ध है, इतनी अनुकूलता बतानेके लिये कर्मोंका अभाव भी 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होता है, इसप्रकार अस्ति और नास्ति दोनों प्रकारसे निमित्तपनेका आरोप किया जाता है। किन्तु निमित्तको किसी भी प्रकारसे मुख्यरूपसे या गौणरूपसे कार्यसाधक मानना गंभीर भूल है। शास्त्रीय परिभाषामें उसे मिथ्यात्व और अज्ञान कहा जाता है।

७—निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है, इसप्रकार जीव अज्ञानदशामें मानता है; इसलिये अज्ञानियोंकी कैसी मान्यता होती है यह बतानेके लिये व्यवहारसे निमित्तको जनक और नैमित्तिकको जन्य कहा जाता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते। उनका वह ज्ञान सच्चा है यह उपरोक्त पांच पैरा बतलाते हैं, क्योंकि उसमें बताये गये अनन्त निमित्त या उनमेंका कोई अंश भी सिद्ध दशाका जनक नहीं हुआ। और वे निमित्त या उनमेंसे किसीके अंशके कारण भी नैमित्तिक सिद्ध दशा जन्य नहीं हुई।

८—संसारी जीव भिन्न-भिन्न गतिके क्षेत्रोंमें जाते हैं, वे भी अपनी क्रियावतीशक्तिके उस उस समयके परिणमनके कारणसे जाते हैं; उसमें भी उपरोक्त पैरा १ से ५ में बताये गये अनुसार निमित्त होते हैं। किन्तु क्षेत्रान्तरमें धर्मास्तिकायके प्रदेशोंकी उस समयकी पर्यायके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य, गुण या पर्याय निमित्त संज्ञाको प्राप्त नहीं होता। उस समय अनेक कर्मोंका उदय होनेपर भी एक विहायोगति नामकर्मका उदय ही 'निमित्त' संज्ञा पाता है। गत्यानुपूर्वी कर्मके उदयको जीवके प्रदेशोंके उस समयके आकारके साथ क्षेत्रान्तरके समय निमित्तपना है और जब जीव जिस क्षेत्रमें स्थिर हो जाता है उस समय अधर्मास्तिकायके उस क्षेत्रके प्रदेशोंकी उस समयकी पर्याय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होती है।

सूत्र २५ बतलाता है कि क्रियावती शक्तिके उस समयके परिणमनके समय योग-गुणकी जो पर्याय पाई जाती है उसमें कार्मण शरीर निमित्त है, क्योंकि शरीरका उदय उसके अनुकूल है। कार्मण शरीर और तैजस शरीर अपनी क्रियावती शक्तिके उस समयके परिणमनके कारण जाता है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है।

९—इस शास्त्रमें निमित्तको किसी स्थान पर 'निमित्त' नामसे ही कहा गया है। [देखो अ० १ सू० १४] और किसी स्थान पर उपकार, उपग्रह, इत्यादि नामसे कहा गया है, [देखो अ० ५ सू० १७ से २०], भावअपेक्षामें उसका एक ही अर्थ होता है, किन्तु अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका भला-बुरा होता है; यह बतानेके लिये उसे 'उपकार' सहायक, बलाधान, बहिरंगसाधन, बहिरंगकारण, निमित्त और निमित्तकारण इत्यादि नामसे सम्बोधित करते हैं; किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि वे वास्तविक कारण या साधन हैं। एक द्रव्यको, उसके गुणोंको या उसकी पर्यायोंको दूसरेसे पृथक् करके दूसरेके साथ उसका संयोगमात्र सम्बन्ध बतानेके लिये उपरोक्त नामोंसे सम्बोधित किया जाता है। इन्द्रियोंको, धर्मास्तिकायको, अधर्मास्तिकाय इत्यादिको, बलाधानकारणके नामसे भी पहिचाना जाता है; किन्तु वह कोई भी सच्चा कारण नहीं है; फिर भी 'किसी भी समय उनकी मुख्यतासे कोई कार्य होता है' ऐसा मानना निमित्तको ही उपादान माननेके बराबर अथवा व्यवहारको ही निश्चय माननेके बराबर है।

१०—उपादानकारणके योग्य निमित्त संयोगरूपसे उस-उस समय अवश्य होते हैं। ऐसा सम्बन्ध उपादानकारणकी उस समयकी परिणमनशक्तिको; जिस पर निमित्तका आरोप आता है उसके साथ है। उपादानको अपने परिणमनके समय उन-उन निमित्तोंके

हुआ करता है, वह भ्रमण कैसा होता है यह तीसरे और चौथे अध्यायमें बतलाया है। उस भ्रमण में (भवोंमें) शरीरके साथ तथा क्षेत्रके साथ जीवका किस प्रकारका संयोग होता है वह यहां बताया जा रहा है। मांस, शराब, इत्यादिके खान-पानके भाव, कठोर झूठ, चोरी, कुशील, तथा लोभ इत्यादिके तीव्र अशुभभावके कारण जीव नरकगतिको प्राप्त करता है, उसका इस अध्यायमें पहिले वर्णन किया है और तत्पश्चात् मनुष्य तथा तिर्यंचोंके क्षेत्रका वर्णन किया है।

चौथे अध्यायमें देवगतिसे सम्बन्ध रखनेवाले विवरण बताये गये हैं।

इन दो अध्यायोंका सार यह है कि-जीवके शुभाशुभ विकारीभावोंके कारण जीवका अनादिकालसे परिभ्रमण हो रहा है, उसका मूलकारण मिथ्यादर्शन है, इसलिये भव्यजीवोंको मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। सम्यग्दर्शनका बल ऐसा है कि उससे क्रमशः सम्यग्चारित्र बढ़ता जाता है और चारित्रकी पूर्णता करके, परम यथाख्यात-चारित्रकी पूर्णता करके, जीव सिद्ध गतिको प्राप्त करता है। अपनी भूलके कारण जीवकी कैसी-कैसी गति हुई तथा उसने कैसे-कैसे दुःख पाये और बाह्य संयोग कैसे तथा कितने समय तक रहे यह बतानेके लिये अध्याय २-३-४ कहे गये हैं। और उस भूलको दूर करनेका उपाय पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें बतलाया गया है।

अधोलोकका वर्णन

सात नरक पृथ्वियां

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

* **अर्थः**—अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा—ये सात भूमियाँ हैं और क्रमसे नीचे-नीचे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाशका आधार है।

टीका

१. रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। उनमेंसे ऊपरके पहिले दो भागोंमें व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं, और नीचे के अब्बहुलभागमें

---

* इस अध्यायमें भूगोल सम्बन्धी वर्णन होनेसे, पहिले दो अध्यायोंकी भांति सूत्रके शब्द पृथक् करके अर्थ नहीं दिया गया है किन्तु पूरे सूत्रका सीधा अर्थ दिया गया है।

अढ़ाई
का
उत्तर
दक्षिण
वक्षार गिरि
आर्य खण्ड
रक्ता नदी
रक्तोदा नदी
ऐरावत क्षेत्र
म्लेच्छ खण्ड
शिखरी पर्वत
महापुण्डरीक
पुण्डरीक
रुक्मि पर्वत
केसरी
उत्तरकुरु
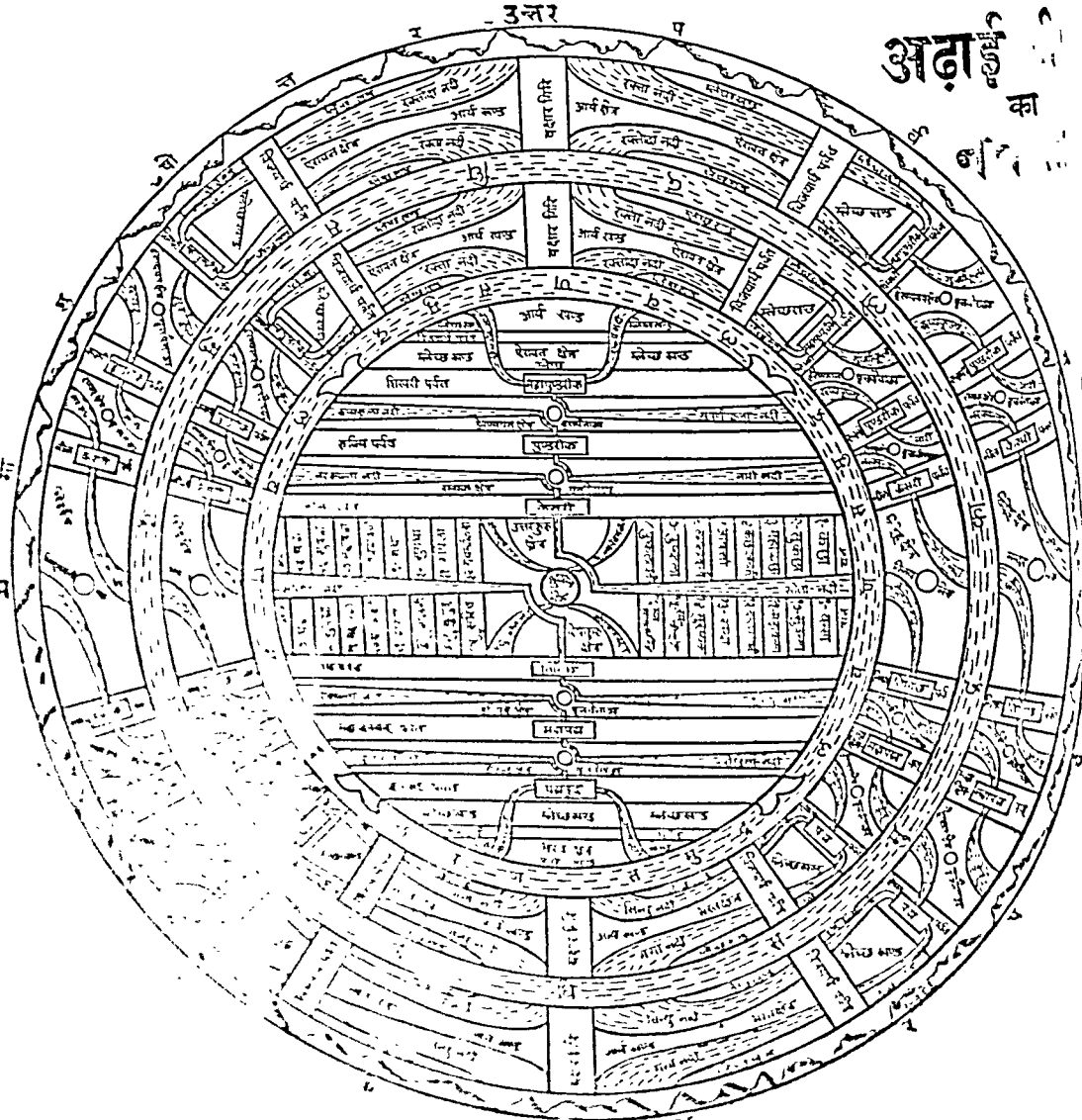
नारकी रहते हैं। इस पृथ्वीका कुल विस्तार एक लाख अस्सी हजार योजन है। (२००० कोसका एक योजन होता है।)

२. इन पृथ्वियोंके रूढ़िगत नाम ये हैं—१-घम्मा, २-वंशा, ३-मेघा, ४-अंजना, ५-अरिष्टा, ६-मघवी और ७-माघवी।

३-अम्बु (घनोदधि) वातवलय=बाष्पका घना वातावरण।

घनवातवलय=घनी हवाका वातावरण।

तनुवातवलय=पतली हवाका वातावरण।

वातवलय=वातावरण।

'आकाश' कहनेसे यहाँ अलोकाकाश समझना चाहिए ॥ १ ॥

सात पृथ्वियोंके बिलोंकी संख्या

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उन पृथ्वियोंमें क्रमसे पहली पृथ्वीमें ३० लाख, दूसरीमें २५ लाख, तीसरीमें १५ लाख, चौथीमें १० लाख, पांचवींमें ३ लाख, छठवींमें पांच कम एक लाख (९९९९५) और सातवींमें ५ ही नरक बिल हैं। कुल ८४ लाख नरकवास बिल हैं।

टीका

कुछ लोग मनुष्यगति और तिर्यंचगति यह दो ही गतियां मानते हैं, क्योंकि वे दो प्रकारके जीवोंको ही देखते हैं। उनका ज्ञान संकुचित होनेसे वे ऐसा मानते हैं कि मनुष्य और तिर्यंचगतिमें जो तीव्र दुःख है वही नरक गति है दूसरी कोई नरकगति है ऐसा नहीं मानते। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि मनुष्य और तिर्यंचगतिसे जुदी ऐसी नरकगति उन जीवोंके अशुभभावका फल है। उसके अस्तित्वका [illegible] है—

निमित्तरूप बाह्यसंयोग कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यहां तीन सूत्र कहे हैं, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि वे शरीरादि वास्तवमें दुःखके कारण हैं।

नारकोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थः— उन नरकोंके नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमसे पहिलेमें एक सागर, दूसरेमें तीन सागर, तीसरेमें सात सागर, चौथेमें दस सागर, पांचवेंमें सत्रह सागर, छट्ठेमें बाईस सागर और सातवेंमें तेतीस सागर हैं।

टीका

१. नारक गतिमें भयानक दुःख होनेपर भी नारकियोंकी आयु निरुपक्रम है—उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

२. आयुका यह काल वर्तमान मनुष्योंकी आयुकी अपेक्षा लम्बा लगता है, परन्तु जीव अनादिकालसे है और मिथ्यादृष्टिपनके कारण यह नारकीपना जीवने अनन्तवार भोगा है। अध्याय २ सूत्र १० की टीकामें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावपरिभ्रमण (परावर्तन)का जो स्वरूप दिया गया है उसके देखनेसे मालूम होगा कि यह काल तो महासागरकी एक बूंदसे भी बहुत कम है।

३. नारकी जीवोंको जो भयानक दुःख होते हैं उनका वास्तविक कारण भयानक शरीर, वेदना, मारपीट, तीव्र उष्णता, तीव्र शीलता इत्यादि नहीं हैं, परन्तु मिथ्यात्वके कारण उन संयोगोंके प्रति अनिष्टपनेकी खोटी कल्पना करके जीव तीव्र आकुलता करता है उसका दुःख है। परसंयोग अनुकूल-प्रतिकूल होता ही नहीं, परन्तु वास्तवमें जीवके ज्ञानके क्षयोपशम-उपयोगके अनुसार ज्ञेय (-ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य) पदार्थ हैं; उन पदार्थोंको देखकर जब अज्ञानी जीव दुःखकी कल्पना करता है तब परद्रव्योंपर यह आरोप होता है कि वे दुःखमें निमित्त हैं।

४. शरीर चाहे जितना खराब हो, खानेको भी न मिलता हो, पीनेको पानी भी न मिलता हो, तीव्र गर्मी या ठण्ड हो, और बाह्य संयोग (अज्ञानदृष्टिसे) चाहे जितने प्रतिकूल हों परन्तु वे संयोग जीवको सम्यग्दर्शन (धर्म) करनेमें बाधक नहीं होते, क्योंकि एक द्रव्य

दूसरे द्रव्यमें कभी बाधा नहीं डाल सकता, नरकगतिमें भी पाहलेसे सातवें नरक तक ज्ञानी पुरुषके सत्समागमसे पूर्वभवमें सुने गये आत्मस्वरूपके संस्कार ताजे करके नारकी जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं। तीसरे नरक तकके नारकी जीवोंको पूर्वभवका कोई सम्यग्ज्ञानी मित्र देव आत्मस्वरूप समझता है तो उसके उपदेशको सुनकर यथार्थ निर्णय करके वे जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

५. इससे सिद्ध होता है कि—"जीवोंका शरीर अच्छा हो, खाना-पीना ठीक मिलता हो और बाह्य संयोग अनुकूल हों, तो धर्म हो सकता है, और उनकी प्रतिकूलता होनेपर जीव धर्म नहीं कर सकता"—यह मान्यता ठीक नहीं है। परको अनुकूल करनेमें प्रथम लक्ष रोकना और उसके अनुकूल होनेपर धर्मको समझना चाहिये,— इस मान्यतामें भूल है, क्योंकि धर्म पराधीन नहीं किन्तु स्वाधीन है और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रगट किया जा सकता है।

६. **प्रश्नः**—यदि बाह्य संयोग और कर्मोंका उदय धर्ममें बाधक नहीं है तो नारकी जीव चौथे गुणस्थानसे ऊपर क्यों नहीं जाते ?

उत्तरः—पहिले उन जीवोंने अपने पुरुषार्थकी बहुत विपरीतता की है और वे वर्तमानमें अपनी भूमिकाके अनुसार मंद पुरुषार्थ करते हैं, इसलिये उन्हें ऊपर चढ़नेमें विलम्ब होता है।

७. **प्रश्नः**—सम्यग्दृष्टिको नरकमें कैसा दुःख होता है ?

उत्तरः—नरक या किसी क्षेत्रके कारण किसी भी जीवको सुख-दुःख नहीं होता किन्तु अपनी नासमझीके कारण दुःख और अपनी सच्ची समझके कारण सुख होता है; किसी भी पर वस्तुके कारण सुख-दुःख या हानि-लाभ हो ही नहीं सकता। अज्ञानी नारकी जीवको जो दुःख होता है वह अपने विपरीत भावरूप दोषके कारण होता है, बाह्य-संयोगके अनुसार या संयोगके कारण दुःख नहीं होता। अज्ञानी जीव परवस्तुको अपने प्रतिकूल मानते हैं और इसलिये वे अपनी अज्ञानताके कारण दुःखी होते हैं; और कभी पर वस्तुएं अनुकूल हैं ऐसा मानकर सुखकी कल्पना करते हैं; इसलिये अज्ञानी जीव परवस्तुमें इष्ट-अनिष्टत्वकी कल्पना करते हैं।

सम्यग्दृष्टि नारकी जीवोंके अनन्त संसारका [illegible] करनेवाली कषाय दूर होगई है, स्वरूपाचरणकी आंशिक शांति निरन्तर है, इसलिये उनको सच्चा सुख उन्हें नरकमें भी निरन्तर मिलता है। जितनी कषाय है उतना अल्प दुःख होता है किन्तु वह दुःख [illegible] [illegible] हो उस अल्प दुःखको भी नष्ट कर देंगे। वे [illegible]

जाननेके योग्य होता है। नरकगतिका भव अपने पुरुषार्थके दोषसे बंधा था इसलिये योग्य समयमें उसके फलरूपसे जीवकी अपनी योग्यताके कारण नारकीका क्षेत्र संयोगरूपसे होता है; कर्म उसे नरकमें नहीं ले जाता। कर्मके कारण जीव नरकमें जाता है यह कहना मात्र उपचार कथन है, जीवका कर्मके साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये शास्त्रोंमें वह कथन किया गया है, न कि वास्तवमें जड़कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं। वास्तवमें कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं यह मानना मिथ्या है।

११. सागर-कालका परिमाण

१—सागर=दश×करोड़×करोड़=अद्धापल्य।

१. अद्धापल्य=एक गोल खड्डा जिसका व्यास (Diametre) एक योजन (=२००० कोस) और गहराई भी उतनी ही हो; उसे उत्तम भोगभूमिके सात दिनके भेड़के बच्चेके बालोंसे ठसाठस भरकर उसमेंसे प्रति सौ वर्षमें एक बाल निकालने पर जितने समयमें गड्ढा खाली हो जाय, उतने समयका एक व्यवहारकल्प है, ऐसे असंख्यात व्यवहारकल्प=एक उद्धारपल्य। असंख्यात उद्धारपल्य=एक अद्धापल्य।

इसप्रकार अधोलोकका वर्णन पूरा हुआ॥ ६॥

मध्यलोकका वर्णन

कुछ द्वीप-समुद्रोंके नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः॥ ७॥

अर्थः—इस मध्यलोकमें अच्छे-अच्छे नामवाले जम्बूद्वीप इत्यादि द्वीप, और लवणसमुद्र इत्यादि समुद्र हैं।

टीका

सबसे बीचमें थालीके आकार जम्बूद्वीप है, जिसमें हम लोग और श्री सीमंधरप्रभु इत्यादि रहते हैं। उसके बाद लवणसमुद्र है। उसके चारों ओर धातकीखंड द्वीप है, उसके चारोंओर कालोदधि समुद्र है, उसके चारों ओर पुष्करवर द्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है;—इस तरह एक दूसरेको घेरे हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, सबसे अंतिम द्वीप स्वयंभूरमण द्वीप है और अंतिम समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र है।

द्वीप और समुद्रोंका विस्तार तथा आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

अर्थः—प्रत्येक द्वीप-समुद्र दूने-दूने विस्तारवाले और पहिले-पहिलेके-द्वीप-समुद्रोंको घेरे हुए चूड़ीके आकार वाले हैं ॥ ८ ॥

जम्बूद्वीपका विस्तार तथा आकार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

अर्थः—उन सब द्वीप-समुद्रोंके बीचमें जम्बूद्वीप है; उसकी नाभिके समान सुदर्शन मेरु है; तथा जम्बूद्वीप थालीके समान गोल है और एक लाख योजन उसका विस्तार है।

टीका

१. सुदर्शन मेरुकी ऊंचाई एक लाख योजनकी है, उसमेंसे वह एक हजार योजन नीचे जमीनमें और निन्यानवे हजार योजन जमीनके ऊपर है; इसके अतिरिक्त ४० योजनकी चूलिका है। [सभी अकृत्रिम वस्तुओंके मापमें २००० कोसका योजन लिया जाता है, उसके अनुसार यहाँ समझना चाहिये।]

२. कोई भी गोल परिधि उसके व्याससे, तिगुनेसे कुछ अधिक (२२/७) होती है। जम्बूद्वीपकी परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोस १२८ धनुष १३॥ अंगुलसे कुछ अधिक है।

३. इस द्वीपके विदेह क्षेत्रमें विद्यमान उत्तरकुरु भोगभूमिमें अनादिनिधन पृथ्वीकायरूप अकृत्रिम परिवार सहित जम्बू वृक्ष है इसलिये इस द्वीपका नाम जम्बूद्वीप है।

सात क्षेत्रोंके नाम

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

अर्थः—इस जम्बूद्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

टीका

जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें हम लोग रहते हैं, विदेहक्षेत्रमें बीस विहरमान तीर्थंकरोंमेंसे श्री सीमंधरादि चार तीर्थंकर जम्बूद्वीपके विदेहमें विचरते हैं ॥ १० ॥
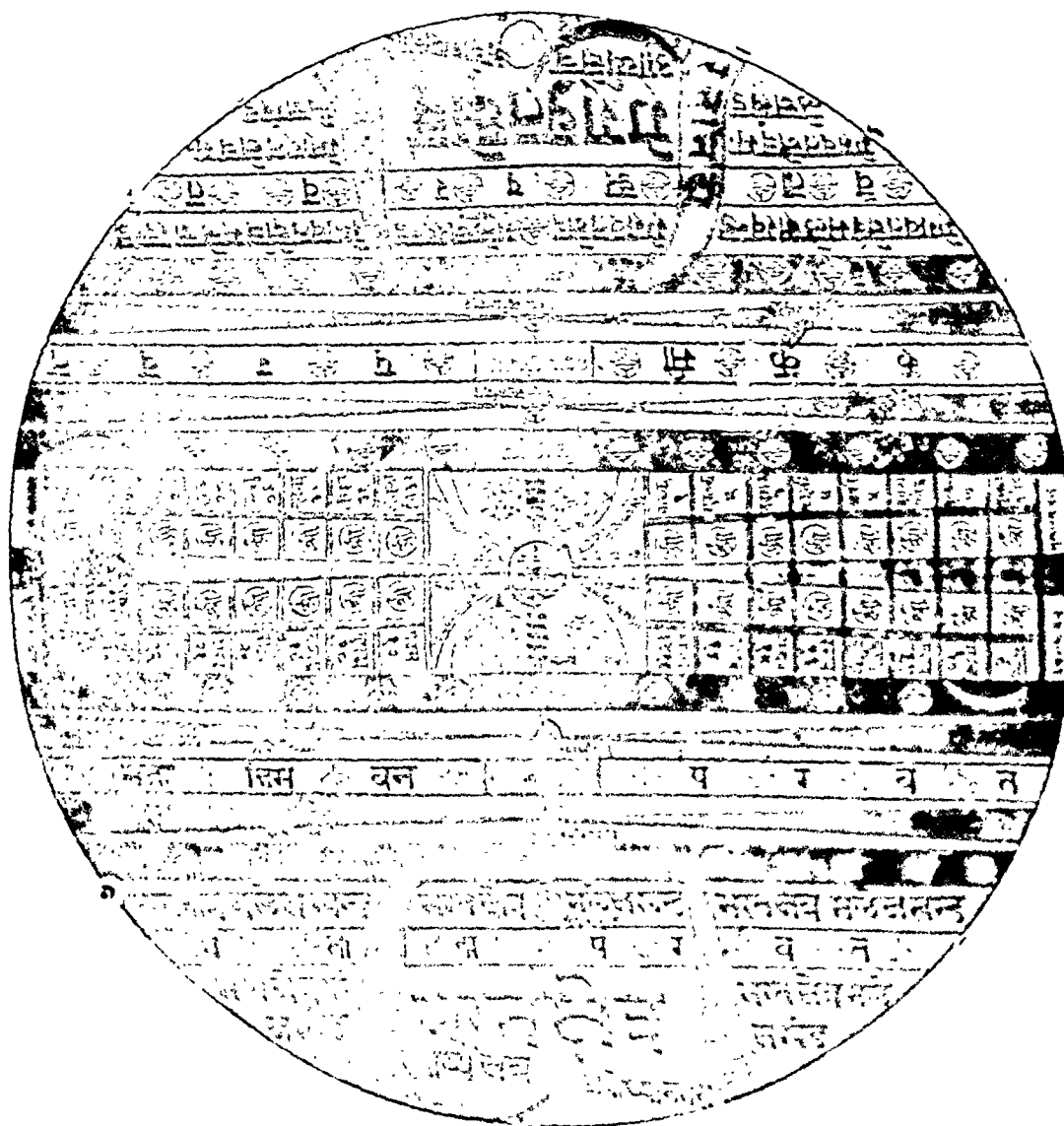
प्रथम सरोवरकी गहराई (ऊँडाई)

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थः—पहला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई) वाला है ॥ १६ ॥

उसके मध्यमें क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थः—उसके बीचमें एक योजन विस्तारवाला कमल है ॥ १७ ॥

महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहनेवाले कमलोंका प्रमाण

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थः—आगेके सरोवर तथा कमल पहलेके सरोवर तथा कमलोंसे क्रमसे दूने दूने विस्तारवाले हैं।

टीका

यह दूना दूना क्रम तिगिञ्छ नामके तीसरे सरोवर तक है, बादमें उसके आगेके तीन सरोवर तथा उनके तीन कमल दक्षिणके सरोवर और कमलोंके समान विस्तारवाले हैं ॥ १८ ॥

ह्रदोंका विस्तार आदि

नं.	ह्रदका नाम	स्थान	लम्बाई योजन	चौड़ाई योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
१	पद्म	हिमवन्	१०००	५००	१०	१	श्री
२	महापद्म	महाहिमवन्	२०००	१०००	२०	२	ह्री
३	तिगिञ्छ	निषध	४०००	२०००	४०	४	धृति
४	केसरी (केशरिन्)	नील	४०००	२०००	४०	४	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	रुक्मिन्	२०००	१०००	२०	२	बुद्धि
६	पुण्डरीक	शिखरिन्	१०००	५००	१०	१	लक्ष्मी

छह कमलोंमें रहनेवाली छह देवियां

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः, ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

अर्थः—एक पल्योपम आयुवाली और सामानिक तथा पारिषद् जातिके देवों सहित श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी देवियां क्रमसे उन सरोवरोंके कमलों पर निवास करती हैं।

टीका

ऊपर कहे हुये कमलोंकी कर्णिकाके मध्यभागमें एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और एक कोससे कुछ कम लम्बे सफेद रंगके भवन हैं, उसमें वे देवियां रहती हैं और उन तालावोंमें जो अन्य परिवार कमल हैं उनके ऊपर सामाजिक तथा पारिषद देव रहते हैं ॥ १९ ॥

चौदह महा नदियोंके नाम

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा नारीनरकांता-सुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थः—(भरतमें) गंगा, सिंधु, (हैमवतमें) रोहित, रोहितास्या, (हरिक्षेत्रमें) हरित, हरिकान्ता, (विदेहमें) सीता सीतोदा, (रम्यकमें) नारी, नरकान्ता, (हैरण्यवतमें) सुवर्णकूला रूप्यकूला और (ऐरावतमें) रक्ता-रक्तोदा, इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात क्षेत्रोंमें चौदह नदियां बीचमें बहती हैं।

टीका

पहिले पद्म सरोवरमेंसे पहिली तीन, छट्ठे पुंडरीक नामक सरोवरसे अंतिम तीन तथा बाकीके सरोवरोंमेंसे दो-दो नदियों निकलती हैं ॥ २० ॥

नदियोंके बहनेका क्रम

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थः—(ये चौदह नदियां दोके समूहमें लेना चाहिये) हरएक दोके समूहमेंसे पहली नदी पूर्वकी ओर बहती है (और उस दिशाके समुद्रमें मिलती है।) ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

अर्थः—बाकी रही सात नदियां पश्चिमकी ओर जाती हैं (और उस तरफके समुद्रमें मिलती हैं ।) ॥ २२ ॥

इन चौदह महा नदियोंकी सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

अर्थः—गंगा-सिन्धु आदि नदियोंके युगल चौदह हजार सहायक नदियोंसे घिरे हुए हैं।

टीका

सहायक नदियोंकी संख्याका क्रम भी विदेह क्षेत्रतक आगेके युगलोंमें पहिले युगलोंसे दूना-दूना है, और उत्तरके तीन क्षेत्रोंमें दक्षिणके तीन क्षेत्रोंके समान हैं।

नदी युगल	सहायक नदियोंकी संख्या
गंगा--सिन्धु	१४ हजार
रोहित--रोहितास्या	२८ हजार
हरित—हरिकान्ता	५६ हजार
सीता—सीतोदा	१ लाख १२ हजार
नारी—नरकान्ता	५६ हजार
स्वर्णकूला—रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता--रक्तोदा	१४ हजार

भरतक्षेत्रका विस्तार

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थः—भरतक्षेत्रका विस्तार, पांचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे ६ भाग अधिक है।

टीका

१. भरत क्षेत्रका विस्तार ५२६$\frac{6}{19}$ योजन है। (देखो सूत्र ३२)

२. भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमें पूर्व पश्चिम तक लंबा विजयार्ध पर्वत है जिससे गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियोंके कारण दोनों क्षेत्रोंके छह छह खंड हो जाते हैं; उनमें बीचका आर्यखण्ड और बाकीके पांच म्लेच्छ खण्ड हैं। तीर्थंकरादि पदवीधारी पुरुष भरत-ऐरावतके आर्यखण्डमें, तथा विदेह क्षेत्रोंमें ही लेते हैं ॥ २४ ॥

आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥

अर्थः—विदेहक्षेत्र तकके पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्रसे दूने-दूने विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

विदेह क्षेत्रके आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थः—विदेह क्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वत और क्षेत्रोंके समान विस्तारवाले हैं।

टीका

क्षेत्रों और पर्वतोंका प्रकार नीचे प्रमाण है—

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार-योजन	ऊंचाई	ऊंडाई
१. भरतक्षेत्र	५२६ $\frac{६}{१९}$,,	×	×
२. हिमवत् कुलाचल	१०५२ $\frac{१२}{१९}$,,	१०० यो०	२५ यो०
३. हैमवतक्षेत्र	२१०५ $\frac{५}{१९}$,,	×	×
४. महा हिमवत् कुलाचल	४२१० $\frac{१०}{१९}$,,	२०० यो०	५० यो०
५. हरिक्षेत्र	८४२१ $\frac{१}{१९}$,,	×	×
६. निषध कुलाचल	१६८४२ $\frac{२}{१९}$,,	४०० यो०	१०० यो०
७. विदेहक्षेत्र	३३६८४ $\frac{४}{१९}$,,	×	×
८. नील कुलाचल	१६८४२ $\frac{२}{१९}$,,	४०० यो०	१०० यो०
९. रम्यक्क्षेत्र	८४२१ $\frac{१}{१९}$,,	×	×
१०. रुक्मिकुलाचल	४२१० $\frac{१०}{१९}$,,	२०० यो०	५० यो०
११. हैरण्यवतक्षेत्र	२१०५ $\frac{५}{१९}$,,	×	×

१२. शिखरीकुलाचल	१०५२ $\frac{12}{19}$,,	१०० यो०	२५ यो०
१३. ऐरावतक्षेत्र	५२६ $\frac{6}{19}$,,	×	×

[कुलाचलका अर्थ पर्वत समझना]

भरत और ऐरावतक्षेत्रमें कालचक्रका परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थः— छह कालोंसे युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जीवोंके अनुभवादिकी वृद्धि-हानि होती रहती है।

टीका

१. बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं:— (१)—उत्सर्पिणी—जिसमें जीवोंके ज्ञानादिकी वृद्धि होती है, और (२)—अवसर्पिणी—जिसमें जीवोंके ज्ञानादिका ह्रास होता है।

अवसर्पिणीके छह भेद हैं—(१) सुषमसुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमदुःषमा, (४) दुःषमसुषमा, (५) दुःषमा और (६) दुषमदुःषमा, इसी तरह उत्सर्पिणीके भी दुःषमदुःषमासे प्रारंभ करके सुषमसुषमा तक छह भेद समझना चाहिये।

२. (१) सुषमसुषमा का काल चार कोड़ाकोड़ी सागर, (२) सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागर, (३) सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर, (४) दुःषमसुषमा एक कोड़ाकोड़ी सागरमें ४२ हजार वर्ष कम, (५) दुःषमा २१ हजार वर्ष और (६) दुःषमदुःषमा (-अति-दुःषमा) २१ हजार वर्षका है:

भरत-ऐरावत क्षेत्रमें यह छह भेद सहित परिवर्तन हुआ करता है, असंख्यात अवसर्पिणी बीत जानेके बाद एक हुंडावसर्पिणी काल आता है। इस हुंडावसर्पिणी काल चलता है।

३. भरत ऐरावत क्षेत्रके म्लेच्छखंडों तथा विजयार्ध पर्वतकी श्रेणियोंमें अवसर्पिणी कालके चतुर्थ (दुःषमसुषमा) कालके प्रारम्भसे अवसर्पिणी कालके अंततक परिवर्तन हुआ करता है और उत्सर्पिणी कालके तीसरे (दुःषमसुषमा) कालके आदिसे उत्सर्पिणीके अंततक परिवर्तन हुआ करता है, इनमें आर्यखण्डोंकी तरह छहों कालोंका परिवर्तन नहीं होता और उनमें प्रलयकाल भी नहीं होता।

४. भरत ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु तथा ऊंचाई।

आरा (काल)	आयु		ऊंचाई	
	प्रारंभमें	अन्तमें	प्रारम्भमें	अन्तमें
१	३ पल्य	२ पल्य	३ कोस	२ कोस
२	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस
३	१ पल्य	१ कोटी पूर्व	१ कोस	५०० धनुष
४	१ कोटी पूर्व	१२० वर्ष	५०० धनुष	७ हाथ
५	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ
६	२० वर्ष	१५ वर्ष	२ हाथ	१ हाथ

मनुष्योंका आहार

काल	आहार	
	चौथे दिन बेरके बराबर	
२	एक दिनके अंतरसे बहेड़ा (फल) के बराबर	तीसरे काल तक भरत-ऐरावत क्षेत्रमें भोगभूमि रहती है।
३	एक दिनके अंतरसे आंवला बराबर	
४	रोज एक बार	
५	कई बार	
६	अति प्रचुरवृत्ति, मनुष्य, नग्न, मछली इत्यादिका आहार, मुनि-श्रावकोंका अभाव, धर्मका नाश ॥ २७ ॥	

अन्य भूमियोंकी व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थः—भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रोंमें एक ही अवस्था रहती है—उनमें कालका परिवर्तन नहीं होता ॥ २८ ॥

हैमवतक इत्यादि क्षेत्रोंमें आयु

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

टीका

१. जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, घातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करार्ध—इतना क्षेत्र अढ़ाई द्वीप है, इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

२. केवल समुद्घात और मारणांतिक समुद्घातके प्रसंगके अतिरिक्त मनुष्यके आत्मप्रदेश ढाई द्वीपके बाहर नहीं जा सकते।

३. आगे चलकर आठवां नन्दीश्वर द्वीप है, उसकी चारों दिशामें चार अंजनगिरि पर्वत, सोलह दधिमुखपर्वत और बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। उनके ऊपर मध्यभागमें जिन-मन्दिर हैं। नन्दीश्वर द्वीपमें इसप्रकार बावन जिनमन्दिर हैं। बारहवां कुण्डलवर द्वीप है, उसमें चार दिशाके मिलाकर चार जिन-मन्दिर हैं। तेरहवां रुचकवर नामका द्वीप है, उसके बीचमें रुचक नामका पर्वत है, उस पर्वतके ऊपर चारों दिशामें चार जिन-मन्दिर हैं, वहां पर देव जिन-पूजनके लिये जाते हैं। इस पर्वतके ऊपर अनेक कूट हैं, उनमें अनेक देवियोंके निवास हैं। वे देवियाँ तीर्थंकरप्रभुके गर्भ और जन्मकल्याणकमें प्रभुकी माताकी अनेक प्रकारसे सेवा करती हैं ॥ ३५ ॥

मनुष्योंके भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थः—आर्य और म्लेच्छके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके हैं।

टीका

१. आर्योंके दो भेद हैंः—ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनऋद्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धिप्राप्त आर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त हो।

अनऋद्धिप्राप्त आर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त नहीं हो।

ऋद्धिप्राप्त आर्य

२. ऋद्धिप्राप्त आर्यके आठ भेद हैंः—(१) बुद्धि, (२) क्रिया, (३) विक्रिया, (४) तप, (५) बल, (६) औषध, (७) रस और (८) क्षेत्र,—इन आठ ऋद्धियोंको स्वरूप कहते हैं।

३. बुद्धिऋद्धिः—बुद्धिऋद्धिके अठारह भेद हैं—(१) केवलज्ञान, (२) अवधिज्ञान, (३) मनःपर्ययज्ञान, (४) बीजबुद्धि, (५) कोष्ठबुद्धि, (६) पदानुसारिणी, (७) संभिन्न-श्रोतृत्व, (८) दूरास्वादनसमर्थता, (९) दूरदर्शनसमर्थता, (१०) दूरस्पर्शनसमर्थता, (११) दूरघ्राणसमर्थता, (१२) दूरश्रोतृसमर्थता, (१३) दशपूर्वित्व, (१४) चतुर्दशपूर्वित्व, (१५) अष्टांगनिमित्तता, (१६) प्रज्ञाश्रमणत्व, (१७) प्रत्येकबुद्धता, और (१८) वादित्व; इनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

(१-३) केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानः—इन तीनोंका स्वरूप अध्याय १, सूत्र २१ से २५ तथा २७ से ३० तक में आ गया है।

(४) बीजबुद्धिः—एक बीजपदके (मूलपदके) ग्रहण करनेसे अनेक पद और अनेक अर्थोंका जानना सो बीजबुद्धि है।

(५) कोष्ठबुद्धिः—जैसे कोठारमें रखे हुए धान्य, बीज इत्यादि बहुत समय तक जैसेके तैसे बने रहते हैं घटते-बढ़ते नहीं हैं, परस्पर मिलते नहीं हैं, उसीप्रकार दूसरेके उपदेशसे ग्रहण किये हुये बहुतसे शब्द, अर्थ, बीज जिस बुद्धिमें जैसेके तैसे रहते हैं एक अक्षर घट-बढ़ नहीं होते, आगे-पीछे अक्षर नहीं होते वह कोष्ठबुद्धि है।

(६) पदानुसारिणीबुद्धिः—ग्रन्थके प्रारम्भ, मध्य और अन्तका एक पद श्रवण करके समस्त ग्रन्थ तथा उसके अर्थका निश्चय करना सो पदानुसारिणीबुद्धि है।

(७) संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धिः—चक्रवर्तीकी छावनी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी पड़ी होती है, उसमें हाथी, घोड़ा, ऊँट मनुष्यादिके जुदे-जुदे प्रकारके [illegible] शब्द एक समय एक साथ उत्पन्न होते हैं, उसे तपविशेषके कारण (सर्वोत्कृष्ट श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तराय तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्मका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर) एक साथ [illegible] ग्रहण करना सो संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धि है।

(८) दूरास्वादनसमर्थताबुद्धिः—तपविशेषके कारण (प्रगट होनेवाले असाधारण रसनेन्द्रिय श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके उदयसे [illegible]) रसनाका जो विषय नौयोजन प्रमाण होता है उसके रसास्वादनकी (रस [illegible]) सामर्थ्य होना सो दूरास्वादनसमर्थताबुद्धि है।

(९-१२) दूरदर्शन-स्पर्शन-घ्राण-श्रोतृसमर्थताबुद्धिः—ऊपर [illegible] चक्षु-रिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रियके विषयके क्षेत्रसे [illegible]

रूप, स्पर्श, गंध और शब्दको जाननेकी सामर्थ्यका होना सो उस-उस नामकी चार प्रकारकी बुद्धि है।

(१३) दशपूर्वित्वबुद्धि—महारोहिणी इत्यादि विद्या-देवता तीन वार आवें और हर-एक अपना-अपना स्वरूपसामर्थ्य प्रगट करें ऐसे वेगवान विद्या-देवताओंके लोभादिसे जिनका चारित्र चलायमान नहीं होता उसे दशपूर्वित्वबुद्धि कहते हैं।

(१४) चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धिः—संपूर्ण श्रुतकेवलित्वका होना चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि है।

(१५) अष्टांगनिमित्ततावुद्धिः—अन्तरिक्ष, भोम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न यह आठ प्रकारका निमित्तज्ञान है, उसका स्वरूप निम्नप्रकार हैं:—

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रके उदय-अस्तादिको देखकर अतीत-अनागतकालको जानना सो अन्तरिक्षनिमित्तज्ञान है ॥ १ ॥

पृथ्वीकी कठोरता, कोमलता, चिकनाहट या रूखापन देखकर, विचार करके अथवा पूर्वादि दिशामें सूत्र पड़ते हुए देखकर हानि-वृद्धि, जय-पराजय इत्यादिको जानना तथा भूमिगत स्वर्ण चांदी इत्यादिको प्रगट जानना सो भोमनिमित्तज्ञान हैं ॥ २ ॥

अंगोपांगादिके दर्शन-स्पर्शनादिसे त्रिकालभावी सुख-दुःखादिको जानना सो अंग-निमित्तज्ञान है ॥ ३ ॥

अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभाशुभको सुनकर इष्टानिष्ट फलको जानना सो स्वर-निमित्तज्ञान है ॥४॥

मस्तक, मुख, गर्दन इत्यादिमें तल, मूरल, लाख इत्यादि लक्षण देकर त्रिकाल सम्बन्धी हित-अहितको जान लेना सो व्यंजननिमित्तज्ञान है ॥ ५ ॥

शरीरके ऊपर श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश इत्यादि चिह्न देखकर त्रिकाल सम्बन्धी पुरुषोंके स्थान, मान, ऐश्वर्यादि विशेषका जानना सो लक्षणनिमित्तज्ञान है ॥ ६ ॥

वस्त्र-शस्त्र-आसन-शयनादिमें, देव-मनुष्य-राक्षसादिसे तथा शस्त्र-कंटकादिसे छिदे हुएको देखकर त्रिकाल सम्बन्धी लाभ-अलाभ, सुख-दुःखका जानना सो छिन्ननिमित्तज्ञान है ॥७॥

वात, पित्त कफ रहित पुरुषके सुखमें पिछली रात्रिमें चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत या समुद्रका मुखमें प्रवेश होना सो शुभस्वप्न है; घी तेलसे अपनी देह लिप्त और गधे ऊंट पर चढ़कर दक्षिण दिशामें गमन इत्यादि स्वप्न अशुभ स्वप्न है; उसके दर्शनसे

आगामी कालमें जीवन-मरण, सुख-दुःखादिका ज्ञान होना सो स्वप्ननिमित्तज्ञान है। इन आठ प्रकारके निमित्तज्ञानका जो ज्ञाता हो उसके अष्टांगनिमित्तबुद्धिऋद्धि है।

(१६) **प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धिः**—किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थके स्वरूपका विचार जैसाका तैसा, चौदहपूर्वधारी ही निरूपण कर सकते हैं दूसरे नहीं कर सकते, ऐसे अर्थका जो सन्देह-रहित निरूपण करे ऐसी प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाली प्रज्ञाशक्ति प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धि है।

(१७) **प्रत्येकबुद्धताबुद्धिः**—परके उपदेशके बिना अपनी शक्तिविशेषसे ज्ञान-संयमके विधानमें निपुण होना प्रत्येकबुद्धताबुद्धि है।

(१८) **वादित्वबुद्धिः**—इन्द्र इत्यादि आकर वाद-विवाद करे उसे निरुत्तर कर दे, स्वयं रुके नहीं और सामनेवाले वादीके छिद्रको जान लेना ऐसी शक्ति वादित्वबुद्धि है।

इसप्रकार ८ ऋद्धियोंमेंसे पहिली बुद्धिऋद्धिके अठारह प्रकार हैं। यह बुद्धिऋद्धि सम्यग्ज्ञानकी महान् महिमाको बताती है।

४. दूसरी क्रियाऋद्धिका स्वरूप

१. क्रियाऋद्धि दो प्रकारकी है—आकाशगामित्व और चारण।

(१) चारण ऋद्धि अनेकप्रकारकी है—जलके ऊपर पैर रखने या उठाने पर जल-कायिक जीवोंको बाधा न उत्पन्न हो सो जलचारणऋद्धि है। भूमिसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें शीघ्रतासे सैकड़ों योजन गमन करनेमें समर्थ होना सो जंघाचारणऋद्धि है। इसीप्रकार तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, श्रेणिचारण, अग्निशिखाचारण इत्यादि चारण ऋद्धियां हैं। पुष्प, फल इत्यादिके ऊपर गमन करनेसे उन पुष्प फल इत्यादिके जीवोंको बाधा नहीं होना सो पुष्पफलचारणऋद्धि है।

(२) **आकाशगामित्व क्रियाऋद्धिः**—पर्यंकासन अथवा कायोत्सर्गासन द्वारा पैरोंको उठाये-धरे बिना ही आकाशमें गमन करनेमें निपुण होना सो आकाशगामित्वक्रियाऋद्धि है।

५. तीसरी विक्रियाऋद्धिका स्वरूप

विक्रियाऋद्धि अनेक प्रकारकी है—(१) अणिमा, (२) महिमा, (३) लघिमा, (४) गरिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व, (८) वशित्व, (९) अप्रतिघात, (१०) अन्तर्धान, (११) कामरूपित्व इत्यादि अनेक भेद हैं इनका स्वरूप [illegible] [illegible] है।

जो सकलसंयमी साधु हैं उन्हें असावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

(असावद्यकर्मआर्य और चारित्रआर्यके बीच क्या भेद है सो बताया जायगा-)

४. चारित्रआर्यः—के दो भेद हैं-अभिगतचारित्रआर्य और अनभिगतचारित्रआर्य।

जो उपदेशके विना ही चारित्रमोहके उपशम तथा क्षयसे आत्माकी उज्ज्वलतारूप चारित्रपरिणामको धारण करें, ऐसे उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानधारक मुनि अभिगतचारित्रआर्य हैं। और जो अन्तरंगमें चारित्रमोहके क्षयोपशमसे तथा वाह्यमें उपदेशके निमित्तसे संयमरूप परिणाम धारण करें वे अनभिगतचारित्रआर्य हैं।

असावद्यआर्य और चारित्रआर्य ये दोनों साधु ही होते हैं, परन्तु वे साधु जब पुण्य-कर्मका बंध करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानमें) उन्हें असावद्यकर्मआर्य कहते हैं, और जब कर्मकी निर्जरा करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानसे ऊपर) उन्हें चारित्रआर्य कहते हैं।

(५) दर्शनआर्यः—के दश भेद हैं—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ [—इन दश भेद संबंधी विशेष खुलासा मोक्षमार्ग-प्रकाशक अध्याय ९ मेंसे जानना चाहिये।]

इसप्रकार अनऋद्धिप्राप्तआर्यके भेदोंका स्वरूप कहा। इसप्रकार आर्य मनुष्योंका वर्णन पूरा हुआ।

अब म्लेच्छ मनुष्योंका वर्णन करते हैं।

१२. म्लेच्छ

म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज, (१) पांच भरतके पांच खंड, पांच ऐरावतके पांच खंड और विदेहके आठसौ खंड, इसप्रकार (२५+२५+८००) आठसौ पचास म्लेच्छ क्षेत्र हैं, उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं; (२) लवण समुद्रमें अड़तालीस द्वीप तथा कालोदधि समुद्रमें अड़तालीस, दोनों मिलकर छियानवे द्वीपोंमें कुभोग-भूमिया मनुष्य हैं, उन्हें अंतर्द्वीपज म्लेच्छ कहते हैं। उन अंतर्द्वीपज म्लेच्छ मनुष्योंके चेहरे विविध प्रकारके होते हैं; उनके मनुष्योंके शरीर (धड़) और उनके ऊपर हाथी, रीछ, मछली इत्यादिकोंका सिर, बहुत लम्बे कान, एक पैर, पूंछ इत्यादि होती है। उनकी आयु एक पल्यकी होती है और वृक्षोंके फल मिट्टी इत्यादि उनका भोजन है ॥ ३६ ॥

कर्मभूमिका वर्णन

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थः—पांच मेरु सम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ये दोनों छोड़कर पांच विदेह, इसप्रकार अढ़ाईद्वीपमें कुल पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

टीका

१. जहां असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्मकी प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। विदेहके एक मेरु सम्बन्धी बत्तीस भेद हैं; और पांच विदेह हैं उनके ३२×५=१६० क्षेत्र पांच विदेहके हुए. और पांच भरत तथा पांच ऐरावत ये दश मिलकर कुल पन्द्रह कर्मभूमियोंके १७० क्षेत्र हैं। ये पवित्रताके-धर्मके क्षेत्र हैं. और मुक्ति प्राप्त करनेवाले मनुष्य वहाँ ही जन्म लेते हैं।

एक मेरुसम्बन्धी हिमवत्, हरिक्षेत्र, रम्यक्, हिरण्यवत्, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह भोगभूमियां हैं। इसप्रकार पांच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमियां हैं। उनमें दश जघन्य, दश मध्यम और दश उत्कृष्ट हैं। उनमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं। उनके भोग भोगकर जीव संक्लेशरहित-सातारूप रहते हैं।

२. **प्रश्नः**—कर्मके आश्रय तो तीनलोकका क्षेत्र है, तो कर्मभूमिके एकको भरत क्षेत्र ही क्यों कहते हो, तीनलोकको कर्मभूमि क्यों नहीं कहते ?

उत्तरः—सर्वार्थसिद्धि पहुँचनेका शुभकर्म और सातवें नरक पहुँचनेका पापकर्म इन क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य उपार्जन करते हैं। असि, मसि, कृषि आदि छह प्रकारके कर्म इन क्षेत्रोंमें ही होते हैं, तथा देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह प्रकारके शुभ (प्रशस्त) कर्म भी इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य करते हैं, इसलिये इन क्षेत्रोंको ही कर्मभूमि कहते हैं ॥ ३७ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थः—मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है।

टीका

यह ध्यान रखना चाहिये कि—[illegible]

ज्योतिषी देवोंके पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंके पांच भेद हैं—१-सूर्य, २-चन्द्रमा, ३-ग्रह, ४-नक्षत्र और ५-प्रकीर्णक तारे।

टीका

ज्योतिषी देवोंका निवास मध्यलोकमें सम धरातलसे ७९० योजनकी ऊँचाईसे लेकर ९०० योजनकी ऊँचाई तक आकाशमें है। सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य हैं; सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा हैं; चन्द्रमासे चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र हैं; नक्षत्रोंसे ४ योजन ऊपर बुधका ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर बृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मंगल, और उससे ३ योजन ऊपर शनि है; इसप्रकार पृथ्वीसे ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मंडल है। उनका आवास मध्यलोकमें है। [यहाँ २००० कोसका योजन जानना चाहिये] ॥ १२ ॥

ज्योतिषी देवोंका विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोकमें हमेशा गमन करते हैं।

(अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्यलोक कहते हैं) ॥ १३ ॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थः—घड़ी, घंटा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकालका विभाग है, वह गतिशील ज्योतिषी देवोंके द्वारा किया जाता है।

टीका

काल दो प्रकारका है—निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चयकालका स्वरूप पांचवें अध्यायके २२वें सूत्रमें किया जायगा। यह व्यवहारकाल निश्चयकालका बतानेवाला है ॥ १४ ॥

वहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थः—मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहरके ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

टीका

अढ़ाईद्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनके ऊपर (सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक) ज्योतिषीदेव स्थिर हैं ॥ १५ ॥

इसप्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-इन तीन प्रकारके देवोंका वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकारके-वैमानिक देवोंका स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवोंका वर्णन

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थः—अब वैमानिक देवोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

टीका

विमानः—जिन स्थानोंमें रहनेवाले देव अपनेको विशेष पुण्यात्मा समझें उन स्थानोंको विमान कहते है।

वैमानिकः—उन विमानोंमें पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

वहां सब चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमान हैं। उनमें उत्तम मन्दिर, कल्पवृक्ष, वन-बाग, बावड़ी, नगर इत्यादि अनेक प्रकारकी रचना होती है। उनके मध्यमें जो विमान है वे इन्द्रक विमान कहे जाते हैं, उनकी [illegible] लाइनमें) जो विमान हैं उन्हें श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। [illegible] विदिशाओंमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए पुष्पोंकी तरह जो विमान हैं [illegible] हैं। इसप्रकार इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक ये तीन प्रकारके विमान हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थः—वैमानिक देवोंके दो भेद हैं—१ कल्पोपपन्न और २ [illegible]

टीका

[illegible] होती है [illegible]

ज्योतिपी देवोंके पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थः—ज्योतिपी देवोंके पांच भेद हैं—१-सूर्य, २-चन्द्रमा, ३-ग्रह, ४-नक्षत्र और ५-प्रकीर्णक तारे।

टीका

ज्योतिपी देवोंका निवास मध्यलोकमें सम धरातलसे ७९० योजनकी ऊंचाईसे लेकर ९०० योजनकी ऊँचाई तक आकाशमें है। सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य हैं; सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा हैं; चन्द्रमासे चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र हैं; नक्षत्रोंसे ४ योजन ऊपर बुधका ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर बृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मंगल, और उससे ३ योजन ऊपर शनि है; इसप्रकार पृथ्वीसे ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मंडल है। उनका आवास मध्यलोकमें है। [यहाँ २००० कोसका योजन जानना चाहिये] ॥ १२ ॥

ज्योतिषी देवोंका विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोकमें हमेशा गमन करते हैं।

(अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्यलोक कहते हैं) ॥ १३ ॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थः—घड़ी, घंटा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकालका विभाग है, वह गतिशील ज्योतिपी देवोंके द्वारा किया जाता है।

टीका

काल दो प्रकारका है—निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चयकालका स्वरूप पांचवें अध्यायके २२वें सूत्रमें किया जायगा। यह व्यवहारकाल निश्चयकालका बतानेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थः—मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहरके ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

टीका

अढ़ाईद्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनके ऊपर (सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक) ज्योतिषीदेव स्थिर हैं ॥ १५ ॥

इसप्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-इन तीन प्रकारके देवोंका वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकारके-वैमानिक देवोंका स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवोंका वर्णन

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थः—अब वैमानिक देवोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

टीका

विमानः—जिन स्थानोंमें रहनेवाले देव अपनेको विशेष पुण्यात्मा समझें उन स्थानोंको विमान कहते हैं।

वैमानिकः—उन विमानोंमें पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

वहां सब चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमान हैं। उनमें उत्तम मन्दिर, कल्पवृक्ष, वन-बाग, बावड़ी, नगर इत्यादि अनेक प्रकारकी रचना होती है। [illegible] जो विमान हैं वे इन्द्रक विमान कहे जाते हैं, उनकी चारों [illegible] दिशाओंमें [illegible] आदिमें) जो विमान हैं उन्हें श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। [illegible] विदिशाओंमें जहां-तहां बिखरे हुए पुष्पोंकी तरह जो विमान हैं उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक ये तीन प्रकारके विमान हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थः—वैमानिक देवोंके दो भेद हैं—(१) कल्पोपपन्न और (२) कल्पातीत।

टीका

जिनमें इन्द्रादि [illegible] भेदोंकी कल्पना होती है [illegible]

ज्योतिषी देवोंके पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंके पांच भेद हैं—१-सूर्य, २-चन्द्रमा, ३-ग्रह, ४-नक्षत्र और ५-प्रकीर्णक तारे।

टीका

ज्योतिषी देवोंका निवास मध्यलोकमें सम धरातलसे ७९० योजनकी ऊंचाईसे लेकर ९०० योजनकी ऊँचाई तक आकाशमें है। सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य हैं; सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा हैं; चन्द्रमासे चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र हैं; नक्षत्रोंसे ४ योजन ऊपर बुधका ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर बृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मंगल, और उससे ३ योजन ऊपर शनि है; इसप्रकार पृथ्वीसे ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मंडल है। उनका आवास मध्यलोकमें है। [यहाँ २००० कोसका योजन जानना चाहिये] ॥ १२ ॥

ज्योतिषी देवोंका विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोकमें हमेशा गमन करते हैं।

(अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्यलोक कहते हैं) ॥ १३ ॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थः—घड़ी, घंटा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकालका विभाग है, वह गतिशील ज्योतिषी देवोंके द्वारा किया जाता है।

टीका

काल दो प्रकारका है—निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चयकालका स्वरूप पांचवें अध्यायके २२वें सूत्रमें किया जायगा। यह व्यवहारकाल निश्चयकालका बतानेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थः—मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहरके ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

टीका

अढ़ाईद्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनके ऊपर (सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक) ज्योतिषीदेव स्थिर हैं ॥ १५ ॥

इसप्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-इन तीन प्रकारके देवोंका वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकारके-वैमानिक देवोंका स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवोंका वर्णन

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थः—अब वैमानिक देवोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

टीका

विमानः—जिन स्थानोंमें रहनेवाले देव अपनेको विशेष पुण्यात्मा मानें उन स्थानोंको विमान कहते हैं।

वैमानिकः—उन विमानोंमें पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

यहां सब चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमान हैं। [illegible] मन्दिर, कल्पवृक्ष, वन-बाग, बावड़ी, नगर इत्यादि अनेक प्रकारकी रचना [illegible] है। [illegible] जो विमान हैं वे इन्द्रक विमान कहे जाते हैं, उनकी [illegible] लाइनमें) जो विमान हैं उन्हें श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। [illegible] विदिशाओंमें जहां-तहां बिखरे हुए फूलोंकी तरह जो विमान हैं [illegible] हैं। इसप्रकार इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक ये तीन प्रकारके विमान हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थः—वैमानिक देवोंके दो भेद हैं [illegible] कल्पोपपन्न और [illegible]

टीका

[illegible]

हैं, और उन कल्पोंमें जो देव पैदा होते हैं उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं; तथा [illegible] ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

कल्पोंकी स्थितिका क्रम

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थः—सोलह स्वर्गके आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर, ये सब विमान क्रमसे ऊपर-ऊपर हैं ॥ १८ ॥

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-सतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थः—सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्रार इन छह युगलोंके बारह स्वर्गोंमें, आनत-प्राणत इन दो स्वर्गोंमें, आरण-अच्युत इन दो स्वर्गोंमें, नव ग्रैवेयक विमानोंमें, नव अनुदिश विमानोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं।

टीका

१. नव ग्रैवेयकोंके नाम—(१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) विशाल, (७) सुमन, (८) सौमन और (९) प्रीतिंकर।

२. नव अनुदिशोंके नाम—(१) आदित्य, (२) अर्चि, (३) अर्चिमाली, (४) वैरोचन, (५) प्रभास, (६) अर्चिप्रभ, (७) अर्चिमध्य (८) अर्चिरावर्त और (९) अर्चिविशिष्ठ।

सूत्रमें अनुदिश नाम नहीं है परन्तु 'नवसु' पदसे उसका ग्रहण हो जाता है। नव और ग्रैवेयक इन दोनोंमें सातवीं विभक्ति लगाई गई है, वह बताती है कि ग्रैवेयकसे नव ये जुदे स्वर्ग हैं।

३. सौधर्मादिक एक एक विमानमें एक एक जिनमन्दिर अनेक विभूति सहित होते हैं। और इन्द्रके नगरके बाहर अशोकवन, आम्रवन इत्यादि होते हैं। उन वनोंमें एक हजार योजन ऊँचा और पांचसौ योजन चौड़ा एक चैत्यवृक्ष है। उसकी चारों दिशामें पल्यंकासन जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा है।

४. इन्द्रके इस स्थानमण्डपके अग्रभागमें मानस्थंभ होता है, उस मानस्थंभमें तीर्थंकर-देव जब गृहस्थदशामें होते हैं, उनके पहिनने योग्य आभरणोंका रत्नमयी पिटारा होता है। उसमेंसे इन्द्र आभरण निकालकर तीर्थंकर देवको पहुंचाता है। सौधर्मके मानस्थंभके रत्नमयी पिटारेमें भरतक्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। ऐशान स्वर्गके मानस्थंभके पिटारेमें ऐरावत-क्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। सानत्कुमारके मानस्थम्भके पिटारेमें पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। माहेन्द्रके मानस्थम्भके पिटारेमें पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। इसलिये वे मानस्थम्भ देवोंसे पूज्यनीय हैं। इन मानस्थम्भोंके पास ही आठ योजन चौड़ा, आठ योजन लम्बा तथा ऊंचा उपपाद गृह है। उन उपपादगृहोंमें एक रत्नमयी शय्या होती है, वह इन्द्रका जन्मस्थान है। उस उपपादगृहके पासमें ही अनेक शिखरवाले जिनमन्दिर है। उनका विशेष वर्णन त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंमेंसे जानना चाहिये ॥ १९ ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थः—आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धि, इन्द्रियोंका विषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब ऊपर-ऊपरके विमानोंमें (वैमानिक देवोंके) अधिक हैं।

टीका

स्थितिः—आयुकर्मके उदयसे जो भवमें रहना होता है [illegible] है।

प्रभावः—परका उपकार तथा निग्रह [illegible] प्रभाव है।

सुखः—सातावेदनीयके उदयसे [illegible] है। यहां पर 'सुख' का अर्थ [illegible] यहां नहीं समझना चाहिये। [illegible] मिथ्यादृष्टि [illegible] अपेक्षासे [illegible] नहीं है किन्तु [illegible]।

द्युतिः—शरीरकी तथा [illegible] है।

लेश्याविशुद्धिः—लेश्याकी [illegible] है, [illegible] चाहिये।

इन्द्रियविषयः—[illegible] रहते हैं।

हैं, और उन कल्पोंमें जो देव पैदा होते हैं उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं; तथा सोलहवें स्वर्गसे ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

कल्पोंकी स्थितिका क्रम

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थः—सोलह स्वर्गके आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर, ये सब विमान क्रमसे ऊपर-ऊपर हैं ॥ १८ ॥

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-सतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थः—सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव--कापिष्ट, शुक्र--महाशुक्र, सतार--सहस्रार इन छह युगलोंके बारह स्वर्गोंमें, आनत--प्राणत इन दो स्वर्गोंमें, आरण--अच्युत इन दो स्वर्गोंमें, नव ग्रैवेयक विमानोंमें, नव अनुदिश विमानोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं।

टीका

१. नव ग्रैवेयकोंके नाम—(१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) विशाल, (७) सुमन, (८) सौमन और (९) प्रीतिंकर।

२. नव अनुदिशोंके नाम—(१) आदित्य, (२) अर्चि, (३) अर्चिमाली, (४) वैरोचन, (५) प्रभास, (६) अर्चिप्रभ, (७) अर्चिमंध्य (८) अर्चिरावर्त और (९) अर्चिविशिष्ठ।

सूत्रमें अनुदिश नाम नहीं है परन्तु 'नवसु' पदसे उसका ग्रहण हो जाता है। नव और ग्रैवेयक इन दोनोंमें सातवीं विभक्ति लगाई गई है, वह बताती है कि ग्रैवेयकसे नव ये जुदे स्वर्ग है।

३. सौधर्मादिक एक एक विमानमें एक एक जिनमन्दिर अनेक विभूति सहित होते हैं। और प्रत्येक नगरके बाहर अशोकवन, आम्रवन इत्यादि होते हैं। उन वनोंमें एक हजार योजन ऊँचा और पांचसौ योजन चौड़ा एक चैत्यवृक्ष है। उसकी चारों दिशामें पल्यंकासन जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा है।

४. इन्द्रके इस स्थानमण्डपके अग्रभागमें मानस्थंभ होता है, उस मानस्थंभमें तीर्थंकरदेव जब गृहस्थदशामें होते हैं, उनके पहिनने योग्य आभरणोंका रत्नमयी पिटारा होता है। उसमेंसे इन्द्र आभरण निकालकर तीर्थंकर देवको पहुंचाता है। सौधर्मके मानस्थंभके रत्नमयी पिटारेमें भरतक्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। ऐशान स्वर्गके मानस्थंभके पिटारेमें ऐरावतक्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। सानत्कुमारके मानस्तम्भके पिटारेमें पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। माहेन्द्रके मानस्तम्भके पिटारेमें पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। इसलिये वे मानस्तम्भ देवोंसे पूज्यनीय हैं। इन मानस्तम्भोंके पास ही आठ योजन चौड़ा, आठ योजन लम्बा तथा ऊंचा उपपाद गृह है। उन उपपादगृहोंमें एक रत्नमयी शय्या होती है, वह इन्द्रका जन्मस्थान है। उस उपपादगृहके पासमें ही अनेक शिखरवाले जिनमन्दिर हैं। उनका विशेष वर्णन त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंमेंसे जानना चाहिये ॥ १९ ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थः—आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धि, इन्द्रियोंका विषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब ऊपर-ऊपरके विमानोंमें (वैमानिक देवोंमें) अधिक हैं।

टीका

स्थितिः—आयुकर्मके उदयसे जो भवमें रहना होता है उसे स्थिति कहते हैं।

प्रभावः—परका उपकार तथा निग्रह करनेवाली शक्ति प्रभाव है।

सुखः—सातावेदनीयके उदयसे [illegible] सुख कहते हैं। यहाँ पर 'सुख' का अर्थ [illegible] यहाँ नहीं समझना चाहिये। [illegible] मिथ्यादृष्टि भेदकी अपेक्षासे [illegible] नहीं है किन्तु [illegible]

द्युतिः—शरीरकी तथा वस्त्र-आभूषण आदिकी [illegible] है।

लेश्याविशुद्धिः—लेश्याकी [illegible] विशुद्धि है [illegible] चाहिये।

इन्द्रियविषयः [illegible] है।

अवधिविषयः—अवधिज्ञानसे जानने योग्य पदार्थ सो अवधिविषय है॥ २०॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर हीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थः—गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षासे ऊपर-ऊपरके वैमानिक देव हीन-हीन होते हैं।

टीका

१. **गतिः**—यहां 'गति' का अर्थ गमन है; एक क्षेत्रको छोड़कर अन्य क्षेत्रमें जाना सो गमन (गति) है। सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव अपने विमानोंको छोड़कर दूसरी जगह नहीं जाते।

शरीरः—शरीरका विस्तार सो शरीर है।

परिग्रहः—लोभकषायके कारण **ममतापरिणाम** सो परिग्रह है।

अभिमानः—मानकषायके कारण अहंकार सो अभिमान है।

२. **प्रश्नः**—ऊपर-ऊपरके देवोंके विक्रिया आदिकी अधिकताके कारण गमन इत्यादि विशेष रूपसे होना चाहिये, फिर भी उनकी हीनता कैसे कही ?

उत्तरः—गमनकी शक्ति तो ऊपर-ऊपरके देवोंमें अधिक है किन्तु अन्य क्षेत्रमें गमन करनेके परिणाम अधिक नहीं हैं इसलिये गमनहीन हैं ऐसा कहा है। सौधर्म-ऐशानके देव क्रीड़ादिकके निमित्तसे महान् विषयानुरागसे बारम्बार अनेक क्षेत्रोंमें गमन करते हैं। ऊपरके विषयकी उत्कट (तीव्र) वांछाका अभाव है इसलिये उनकी गति हीन है।

३. शरीरका प्रमाण चालू अध्यायके अन्तिम कोष्टकमें बताया है। वहांसे जानना चाहिये।

४. विमान-परिवारादिकरूप परिग्रह ऊपर-ऊपरके देवोंमें थोड़ा-थोड़ा होता है। कषायकी मन्दतासे अवधिज्ञानादिमें विशुद्धता बढ़ती है और अभिमान कम होता है। जिनके मन्द कषाय होती है वे ऊपर-ऊपर उत्पन्न होते हैं।

५. शुभ परिणामके कारण कौन जीव किस स्वर्गमें उत्पन्न होता है उसका स्पष्टीकरण

कौन उपजे ?	कहाँ उपजे ?
(१) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच—	भवनवासी तथा व्यन्तरमें

(२) कर्मभूमिके संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले,	बारहवें स्वर्ग पर्यन्त
(३) ऊपरके तिर्यंच–सम्यग्दृष्टि (स्वयंप्रभाचलसे बाहरके भागमें रहनेवाले)	सौधर्मादिसे अच्युत स्वर्ग पर्यंत
(४) भोगभूमिके मनुष्य, तिर्यंच-मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले	ज्योतिषीयोंमें
(५) तापसी	ज्योतिषीयोंमें
(६) भोगभूमिके सम्यग्दृष्टि, मनुष्य या तिर्यंच	सौधर्म और ऐशानमें
(७) कर्मभूमिके मनुष्य- मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन	भवनत्रिकसे उपरिम ग्रैवेयक तक
(८) कर्मभूमिके मनुष्य–जिनके द्रव्य (बाह्य) जिनलिंग और भाव मिथ्यात्व या सासादन होते हैं ऐसे	ग्रैवेयक पर्यन्त
(९) जो अभव्यमिथ्यादृष्टि निर्ग्रन्थलिंग धारण करके महान् शुभभाव और तप सहित हों वे	उपरिम (नववें) ग्रैवेयकमें।
(१०) परिव्राजक तापसियोंका उत्कृष्ट उपपाद	ब्रह्म (पंचम) स्वर्ग पर्यन्त
(११) आजीवक (कांजीके अहारी) का उपपाद	बारहवें स्वर्ग पर्यंत
(१२) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रकर्षतावाले श्रावक	सौधर्मादि [illegible] १६ ([illegible] [illegible])
(१३) भावलिंगी निर्ग्रन्थ साधु	सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त
(१४) अढाईद्वीपके अणुव्रतधारी तिर्यंच	सौधर्मसे [illegible] स्वर्ग पर्यंत
(१५) पांच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमिके मनुष्य-तिर्यंच मिथ्यादृष्टि	भवनत्रिकमें
(१६) मिथ्यादृष्टि	[illegible]
(१७) [illegible]	भवनत्रिकमें

नोट—एकेन्द्रिय, विकलत्रय, देव तथा नारकी ये देवोंमें उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनके देवोंमें उत्पन्न होनेके योग्य शुभभाव होते ही नहीं ।

६. देव पर्यायसे च्युत होकर कौनसी पर्याय धारण करता है उसकी विगत—

कहांसे आता है ?	कौनसी पर्याय धारण करे ?
(१) भवनत्रिक देव और सौधर्म-ऐशानसे	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय, अपकाय, प्रत्येकवनस्पति, मनुष्य तथा पंचेन्द्रिय तिर्यन्चमें उपजे (विकलत्रयमें नहीं जाता) ।
(२) सनत्कुमारादिकसे	स्थावर नहीं होता ।
(३) बारहवें स्वर्ग पर्यन्तसे	पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य होता है ।
(४) आनत-प्राणतादिकसे (बारहवें स्वर्गके ऊपरसे)	नियमसे मनुष्यमें ही होता है । तिर्यंचोंमें नहीं होता ।
(५) सौधर्मसे प्रारम्भ करके नव ग्रैवेयक पर्यंतके देवोंमेंसे कोई	त्रेसठ शलाका पुरुष भी हो सकते हैं ।
(६) अनुदिश और अनुत्तरसे आये हुये	तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र इत्यादिमें उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु अर्धचक्री नहीं हो सकते ।
(७) भवनत्रिकसे	त्रेसठ शलाका पुरुषोंमें उत्पन्न नहीं होते ।
(८) देव गतिसे (समुच्चयसे)	समस्त सूक्ष्मोंमें, तेजसकायोंमें, वातकायोंमें उत्पन्न नहीं होते । तथा विकलत्रयोंमें, असंज्ञियों या लब्धिअपर्याप्तकोंमें उत्पन्न नहीं होते और भोगभूमियोंमें, देवोंमें तथा नारकियोंमें भी उत्पन्न नहीं होते ।

७. इस सूत्रका सिद्धान्त

[illegible] जब कोई मिथ्यादृष्टि [illegible] उत्कृष्ट शुभभाव करता है तब नववें ग्रैवेयक [illegible] है [illegible] धर्मके कारण नहीं है; मिथ्यात्वके कारण

अनन्त संसारमें परिभ्रमण करता है इसलिये शुभभावको धर्म या धर्मका कारण नहीं मानना चाहिये।

(२) मिथ्यादृष्टिको शुभभाव होते हैं तब उसके गृहीत-मिथ्यात्व छूट जाता है अर्थात् देव-गुरु-शास्त्रकी रागमिश्रित व्यवहार श्रद्धा तो ठीक होती है, उसके बिना उत्कृष्ट शुभभाव हो ही नहीं सकते। नववें ग्रैवेयक जानेवाला मिथ्यादृष्टि जीव देव-गुरु-शास्त्रके व्यवहारसे (रागमिश्रित विचार से) सच्चा निर्णय करता है, किन्तु निश्चयसे अर्थात् रागसे पर हो सच्चा निर्णय नहीं करता है तथा उसके 'शुभ भावसे धर्म होता है' ऐसी सूक्ष्म मिथ्यामान्यता रह जाती है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

(३) सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी व्यवहार श्रद्धाके बिना उच्च शुभभाव भी नहीं हो सकते, इसलिये जिन जीवोंको सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका संयोग प्राप्त हो जाता है, फिर भी यदि वे उसका रागमिश्रित व्यावहारिक यथार्थ निर्णय नहीं करते तो गृहीतमिथ्यात्व बना रहता है; और जिसे कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रकी मान्यता होती है उसके भी गृहीतमिथ्यात्व होता ही है; और जहां गृहीतमिथ्यात्व होता है वहां अगृहीतमिथ्यात्व भी अवश्य होता है; इसलिए ऐसे जीवको सम्यग्दर्शनादि धर्म तो होता नहीं, प्रत्युत मिथ्यादृष्टिके होनेवाला उत्कृष्ट शुभभाव भी उसके नहीं होता। ऐसे जीवोंके जैनधर्मकी श्रद्धा व्यवहारसे भी नहीं मानी जा सकती।

(४) इसी कारणसे अन्य धर्मकी मान्यतावालोंके [illegible] दर्शन तो होता ही नहीं और मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव [illegible] व अधिकसे अधिक बारहवें देवलोककी प्राप्तिके योग्य शुभभाव [illegible]

(५) बहुतसे अज्ञानी लोगोंकी यह मान्यता है कि [illegible] उनकी भूल है। बहुतसे देव तो मिथ्यात्वके कारण [illegible] व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके अति मन्द कषाय [illegible] है तथा कुछ पीड़ा है इसलिये कौतूहल तथा [illegible] व अपनी उस व्याकुलतासे दुःखी ही है। [illegible] मान्यता है। [illegible] किन्तु वैमानिक देवोंमें [illegible] होती है [illegible] है और [illegible]

नन्द है, तथापि उनके भी इच्छाका अभाव नहीं है इसलिये वास्तवमें वे दुःखी ही हैं। जो देव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए हैं वे ही जितने दरजेमें वीतरागभावरूप रहते हैं उतने दरजेमें सच्चे सुखी हैं। सम्यग्दर्शनके विना कहीं भी सुखका अंश प्रारम्भ नहीं होता और इसीलिये ही इसी शास्त्रके पहिले ही सूत्रमें मोक्षका उपाय बतलाते हुए उसमें सम्यग्दर्शन पहिला बताया है। इसलिये जीवोंको प्रथम ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना आवश्यक है।

(६) उत्कृष्ट देवत्वके योग्य सर्वोत्कृष्ट शुभभाव सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं। अर्थात् शुभभावके स्वामित्वके निषेधकी भूमिकामें ही वैसे उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं, मिथ्यादृष्टिके वैसे उच्च शुभभाव नहीं होते ॥ २१ ॥

वैमानिक देवोंमें लेश्याका वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थः—दो युगलोंमें पीत; तीन युगलोंमें पद्म और बाकीके सब विमानोंमें शुक्ल-लेश्या होती है।

टीका

१. पहिले और दूसरे स्वर्गमें पीतलेश्या तीसरे और चौथेमें पीत तथा पद्मलेश्या, पांचवेंसे आठवें तक पद्मलेश्या, नववेंसे बारहवें तक पद्म और शुक्ललेश्या और बाकीके सब वैमानिक देवोंके शुक्ललेश्या होती है, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर इन चौदह विमानोंके देवोंके परमशुक्ललेश्या होती है। भवनत्रिक देवोंकी लेश्याका वर्णन इस अध्यायके दूसरे सूत्रमें आ गया है। यहां भावलेश्या समझना चाहिये।

२. **प्रश्नः**—सूत्रमें मिश्रलेश्याओंका वर्णन क्यों नहीं किया ?

उत्तरः—जो मुख्य लेश्याएं हैं उन्हें सूत्रमें बतलाया है जो गौण लेश्या हैं उन्हें नहीं कहा है; गौण लेश्याओंका वर्णन उसीमें गर्भित है। इसलिये वे उसमें अविवक्षितरूपसे हैं। इस शास्त्रमें संक्षिप्त सूत्ररूपसे मुख्य वर्णन किया है, दूसरा उसमें गर्भित है। इसलिये यह [illegible] कथन परम्पराके अनुसार समझ लेना चाहिये ॥ २२ ॥

कल्पसंज्ञा कहां तक है ?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थः—ग्रैवेयकोंसे पहिलेके सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं। उनसे आगेके विमान [illegible]

टीका

सोलह स्वर्गोंके बाद नव ग्रैवेयक इत्यादिके देव एक समान वैभवके धारी होते हैं इसलिये उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं, वहां इन्द्र इत्यादि भेद नहीं हैं, सभी समान हैं ॥ २३ ॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

अर्थः—जिनका निवास स्थान पांचवें स्वर्ग (ब्रह्मलोक) है; उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

टीका

ये देव ब्रह्मलोकके अन्तमें रहते हैं तथा एक भवावतारी (एकावतारी) हैं तथा लोकका अन्त (संसारका नाश) करनेवाले हैं इसलिये उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। वे द्वादशांगके पाठी होते हैं, चौदह पूर्वके धारक होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकर प्रभुके मात्र तप कल्याणकमें आते हैं। वे देवर्षि भी कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

लौकान्तिक देवोंके नाम

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थः—लौकान्तिक देवोंके आठ भेद हैं [illegible] अरुण, ५-गर्दतोय, ६-तुषित, ७-अव्याबाध, और ८-अरिष्ट [illegible] आठ दिशाओंमें रहते हैं।

टीका

इन देवोंके ये आठ मूल भेद हैं [illegible] रहनेवाले देवोंके दूसरे सोलह भेद हैं [illegible] उनके नामके अनुसार होते हैं। [illegible] किया है अतः यह मालूम होता है कि [illegible]

[illegible] और अनुत्तर [illegible] देवोंके [illegible]

[illegible]जयादिषु [illegible] ॥ २६ ॥

अर्थः—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानोंके अहमिन्द्र द्विचरमा होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म (भव) धारण करके [illegible] ही मोक्ष जाते हैं (ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं) ।

टीका

१. सर्वार्थसिद्धिके देव उनके नामके अनुसार एकाभवतारी ही होते हैं । विजयादिकमें रहनेवाले जीव एक मनुष्यभव अथवा दो भव भी धारण करते हैं ।

२. सर्वार्थसिद्धिके देव, दक्षिणके छह इन्द्र (सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण) सौधर्म के चारों लोकपाल, सौधर्म इन्द्रकी 'शचि' नामकी इन्द्राणी और लौकान्तिक देव-ये सभी एक मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं । [सर्वा० एटा, पृ० ८७-८८ का फुटनोट] ॥ २६ ॥

[तीसरे अध्यायमें नारकी और मनुष्य सम्बन्धी वर्णन किया था और इस चौथे अध्यायमें यहां तक देवोंका वर्णन किया । अब एक सूत्र द्वारा तिर्यन्चोंकी व्याख्या बतानेके बाद देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु कितनी है यह बतावेंगे तथा नारकियोंकी जघन्य आयु कितनी है यह बतावेंगे । मनुष्य तथा तिर्यन्चोंकी आयुकी स्थितिका वर्णन तीसरे अध्यायके सूत्र ३८-३९ में कहा गया है ।

इसप्रकार दूसरे अध्यायके दसवें सूत्रमें जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे जो दो भेद कहे थे उनमेंसे संसारी जीवोंका वर्णन चौथे अध्याय तक पूरा हुआ । तत्पश्चात् पांचवें अध्यायमें अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे । छठवें तथा सातवें अध्यायमें आस्रव तथा आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका वर्णन करेंगे तथा नववें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन करेंगे और मुक्त जीवोंका (मोक्षतत्त्वका) वर्णन दसवें अध्यायमें करके ग्रन्थ पूर्ण करेंगे ।]

तिर्यन्च कौन हैं ?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

अर्थः—उपपाद जन्मवाले (देव तथा नारकी) और मनुष्योंके अतिरिक्त बाकी बचे हुए तिर्यन्च योनिवाले ही हैं ।

टीका

देव, नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त सभी जीव तिर्यन्च हैं, उनमेंसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय

जीव तो समस्त लोकमें व्याप्त हैं। लोकका एक भी प्रदेश सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंसे रहित नहीं है। बादर एकेन्द्रिय जीवोंको पृथ्वी इत्यादिका आधार होता है।

विकलत्रय (दो तीन और चार इन्द्रिय) और संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव त्रसनालीमें कहीं कहीं होते हैं त्रसनालीके बाहर त्रसजीव नहीं होते। तिर्यंच जीव समस्त लोकमें होनेसे इनका-क्षेत्र विभाग नहीं है॥ २७॥

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्यो-पमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

अर्थः—भवनवासी देवोंमें असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकीके कुमारोंकी आयु क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य, और डेढ़ पल्य है॥ २८॥

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

अर्थः—सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

टीका

१. भवनवासी देवोंके बाद व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंकी आयु [illegible] तथापि वैमानिक देवोंकी आयु [illegible] ([illegible]) आ सकती है।

२. 'सागरोपमे' यह शब्द [illegible]

३. 'अधिके' यह शब्द [illegible]

४. आयुका घात दो प्रकारका है—एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयुका घटना सो अपवर्तनघात है। और भुज्यमान (भोगनेमें आनेवाली) आयुका घटना सो कदलीघात है। देवोंमें कदलीघात आयु नहीं होती।

५. घातायुष्क जीवका उत्पाद बारहवें देवलोक तक ही होता है ॥ २९ ॥

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थः—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी आयु सात सागरसे कुछ अधिक है।

नोटः—इस सूत्रमें 'अधिक' शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे आती है ॥ ३० ॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

अर्थः—पूर्व सूत्रमें कहे हुए युगलोंकी आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु (उसके बादके स्वर्गोंमें) है।

१. ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें दश सागरसे कुछ अधिक, लांतव और कापिष्ठ स्वर्गमें चौदह सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें सोलह सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरसे कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्गमें बीस सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें बावीस सागर उत्कृष्ट आयु है।

२. 'तु' शब्द होनेके कारण 'अधिक' शब्दका सम्बन्ध बारहवें स्वर्ग तक ही होता है क्योंकि घातायुष्क जीवोंकी उत्पत्ति वहां तक ही होती है ॥ ३१ ॥

कल्पोपपन्न देवोंको आयु कह करके अब कल्पातीत देवोंकी आयु कहते हैं।

कल्पातीत देवोंकी आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

अर्थः—आरण और अच्युत स्वर्गसे ऊपरके नव ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें, विजय इत्यादि विमानोंमें और सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें देवोंकी आयु-एक एक सागर अधिक है।

टीका

१. पहिले ग्रैवेयकमें २३, दूसरेमें २४, तीसरेमें २५, चौथेमें २६, पाँचवेंमें २७, छटवेंमें २८, सातवेंमें २९, आठवेंमें ३०, नववेंमें ३१, नव अनुदिशोंमें ३२, विजय आदिमें

३३ सागरकी उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धिके सभी देवोंकी ३३ सागरकी ही स्थिति होती है इससे कम किसीकी नहीं होती।

२. मूल सूत्रमें 'अनुदिश' शब्द नहीं है किन्तु 'आदि' शब्दसे अनुदिशोंका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ३२ ॥

स्वर्गोंकी जघन्य आयु

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थः— सौधर्म और ईशान स्वर्गमें जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

टीका

सागर और पल्यका नाप तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रकी टीकामें दिया है। वहाँ अद्धापल्य लिखा है उसे ही पल्य समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥ ३४ ॥

अर्थः—जो पहिले-पहिलेके युगलोंकी उत्कृष्ट आयु है वह पीछे-पीछेके युगलोंकी जघन्य आयु होती है।

टीका

सौधर्म और ईशान स्वर्गकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है; उतनी ही सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जघन्य आयु है। इसी क्रमके अनुसार आगेके देवोंकी जघन्य आयु समझना चाहिये। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं होती ॥ ३४ ॥

नारकियोंकी जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थः—दूसरे इत्यादि नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु भी देवोंकी जघन्य आयुके समान है-अर्थात् जो पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु है वही दूसरे नरककी जघन्य आयु है। इसप्रकार आगेके नरकोंमें भी जघन्य आयु जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

पहिले नरककी जघन्य आयु

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

समझा है और इसलिये वह अन्य पांच भंगोंको भी नहीं समझता है, इसलिये उसका जीवका यथार्थ स्वरूप नहीं समझा है। यह ज्ञान करना चाहिये कि-'प्रत्येक समय जीवके 'स्यात्' शब्द बोलना ही चाहिये' ऐसी आवश्यकता नहीं है, किन्तु 'जीव है' ऐसा कहनेके समय 'स्यात्' पदके भावका यथार्थ ख्याल होना चाहिये; यदि ऐसा न हो तो 'जीव है' उसका यथार्थ ज्ञान उस जीवके है ही नहीं।

'जीवका अस्तित्व पर स्वरूपसे नहीं है' यह पहले 'स्यात् अस्ति' भंगमें गर्भित था; वह दूसरे 'स्यात् नास्ति' भंगमें प्रगटरूपसे बतलाया जाता है। स्यात् नास्तिका अर्थ ऐसा है कि पर अपेक्षासे जीव नहीं है। 'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षासे और 'नास्ति' अर्थात् न होना। जीवका पर अपेक्षासे नास्तित्व है अर्थात् जीव परके स्वरूपसे नहीं है इसलिये पर अपेक्षासे जीवका नास्तित्व है अर्थात् जीव पर एक दूसरेके प्रति अवस्तु है-ऐसा 'स्यात् नास्ति' भंगका अर्थ समझना चाहिये।

इससे यह समझना चाहिये कि-जैसे 'जीव' शब्द कहनेसे जीवका अस्तित्व (जीवकी सत्ता) भासित होता है वह जीवका स्वरूप है उसी प्रकार उसी समय जीवको छोड़कर दूसरेका निषेध भासित होता है वह भी जीवका स्वरूप है।

इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूपसे जीवका स्वरूप है और पररूपसे न होना भी जीवका स्वरूप है। यह जीवमें स्यात् अस्ति तथा स्यात् नास्तिका स्वरूप बतलाया है।

इसीप्रकार परवस्तुओंका स्वरूप उन वस्तुरूपसे है और परवस्तुओंका स्वरूप जीवरूपसे नहीं है;—इसप्रकार सभी वस्तुओंमें अस्ति-नास्ति स्वरूप समझना चाहिये। शेष पांच भंग इन दो भंगोंके ही विस्तार हैं।

"आप्तमीमांसाकी १११ वीं कारिकाकी व्याख्यामें अकलंकदेव कहते हैं कि-वचनका ऐसा स्वभाव है कि स्वविषयका अस्तित्व दिखानेसे वह उससे इतरका (परवस्तुका) निराकरण करता है, इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व—इन दो मूल धर्मोंके आश्रयसे सप्तभंगीरूप स्याद्वादकी सिद्धि होती है।" [तत्त्वार्थसार पृष्ठ १२५ का फुट नोट]

साधक जीवको अस्ति-नास्तिके ज्ञानसे होनेवाला फल

जीव अनादि अविद्याके कारण शरीरको अपना मानता है और इसलिये वह शरीरके उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति तथा शरीरका नाश होने पर अपना नाश होना मानता है पहिली भूल 'जीवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है और दुसरी भूल 'अजीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा

है। [जहां एक तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा होती है वहाँ दूसरे तत्त्वोंकी भी विपरीत श्रद्धा होती ही है।]

इस विपरीत श्रद्धाके कारण जीव यह मानता रहता है कि वह शारीरिक क्रिया कर सकता है; उसे हिला-डुला सकता है, उठा बैठा सकता है; सुला सकता है और शरीरकी सँभाल कर सकता है इत्यादि। जीवतत्त्व संबंधी यह विपरीत श्रद्धा अस्ति-नास्ति भंगके यथार्थ ज्ञानसे दूर होती है।

यदि शरीर अच्छा हो तो जीवको लाभ होता है, और खराब हो तो हानि होती है, शरीर अच्छा हो तो जीव धर्म कर सकता है और खराब हो तो धर्म नहीं कर सकता, इत्यादि प्रकारसे अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा किया करता है। वह भूल भी अस्ति-नास्ति भंगके यथार्थज्ञानसे दूर होती है।

जीव जीवसे अस्तिरूपसे है और परसे अस्तिरूपसे नहीं है—किन्तु नास्तिरूपसे है, इसप्रकार जब यथार्थतया ज्ञानमें निश्चय करता है तब प्रत्येक तत्त्व यथार्थतया भासित होता है; इसीप्रकार जीव परद्रव्योंके प्रति संपूर्णतया अकिंचित्कर है तथा परद्रव्य जीवके प्रति संपूर्णतया अकिंचित्कर हैं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपसे नास्ति है, ऐसा विश्वास होता है और इससे जीव पराश्रयी-परावलंबित्वको मिटाकर स्वाश्रयी-स्वावलम्बी हो जाता है, यही धर्मका प्रारम्भ है।

जीवका परके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है इसका ज्ञान इन दो भंगोंसे किया जा सकता है। निमित्त परद्रव्य है इसलिये वह नैमित्तिक जीवका कुछ नहीं कर सकता, वह मात्र आकाश प्रदेशमें एक क्षेत्रावगाहरूपसे या संयोग-अवस्थारूपसे उपस्थित होता है; किन्तु नैमित्तिक निमित्तसे पर है और निमित्त-नैमित्तिकसे पर है इसलिए एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकता। निमित्त तो परज्ञेयरूपसे ज्ञानमें ज्ञात होता है, इतना मात्र व्यवहार सम्बन्ध है।

दूसरेसे चौथे अध्याय तक यह अस्ति-नास्ति स्वरूप कहाँ कहाँ बताया है उसका वर्णन

अध्याय २ सूत्र १ से ७ जीवके पांच भाव अपने अस्तिरूपसे हैं और परसे नास्तिरूप हैं ऐसा बताया है।

अ० २ सूत्र ८-९ जीवका लक्षण अस्तिरूपसे क्या है यह बताया है; उपयोग जीवका

होता है वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। जैसे घड़ा ऐसा [illegible] घी भरा है उसमें व्यवहारी मनुष्योंको आधार-आधेयभाव भासित होता है उसे प्रधान करके (घीका घड़ा) कहनेमें आता है। जो घीका घड़ा है ऐसा ही कहा जाय तो लोग समझ जाते हैं और 'घीका घड़ा' मंगावे तब उसे ले आते हैं इसलिये उपचारमें भी प्रयोजन संभव है। तथा जहाँ अभेदनयकी मुख्यता की जाती है वहाँ अभेद दृष्टिमें भेद दिखता नहीं है फिर भी उस समय उसमें (अभेदनयकी मुख्यतामें) ही भेद कहा है [illegible] बतलाते हैं। यह भी उपचारकी सिद्धि गौणरूपसे होती है।

सम्यग्दृष्टिका और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान

(१) इस मुख्य-गौणके भेदको सम्यग्दृष्टि जानता है; मिथ्यादृष्टि अनेकान्त वस्तुको नहीं जानता और जब सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है तब उस एक धर्मको ही सर्वथा वस्तु मानकर वस्तुके अन्य धर्मोंको सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है अथवा अन्य धर्मोंका सर्वथा अभाव ही मानता है। ऐसा माननेसे मिथ्यात्व दृढ़ होता है जहाँ तक जीव यथार्थ वस्तुस्वरूपको जाननेका पुरुषार्थ नहीं करता तब तक यथार्थश्रद्धा नहीं होती। इस अनेकांत वस्तुको प्रमाण-नय द्वारा सात भंगोंसे सिद्ध करना सम्यक्त्वका कार्य है, इसलिये उसे भी सम्यक्त्व ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये। जिनमतकी कथनी अनेक प्रकारसे है, उसे अनेकांतरूपसे समझना चाहिये।

(२) इस सप्तभंगीके अस्ति और नास्ति ऐसे दो प्रथम भेद विशेष लक्षमें लेने योग्य हैं, वे दो भेद यह सूचित करते हैं कि जीव अपनेमें उल्टे या सीधे भाव कर सकता है किन्तु परका कुछ नहीं कर सकता, तथा परद्रव्यरूप अन्य जीव या जड़ कर्म इत्यादि सब अपनेअपनेमें कार्य कर सकते हैं; किन्तु वे कोई इसी जीवका भला-बुरा कुछ नहीं कर सकते, इसलिये परवस्तुओंकी ओरसे लक्ष हटाकर और अपनेमें होनेवाले भेदोंको गौण करनेके लिये उन भेदोंपरसे भी लक्ष हटाकर अपने त्रिकाल अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालनेसे-उसके आश्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेयकी बुद्धि और वीतरागताकी प्राप्ति है।

अनेकांत क्या बतलाता है?

(१) अनेकांत वस्तुको परसे असंग (भिन्न) बतलाता है। असंगत्वकी (स्वतंत्रकी) श्रद्धा असंगत्वके विकासका उपाय है; तीनोंकाल परसे भिन्नत्व वस्तुका स्वभाव है।

(२) अनेकांत वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है' इसप्रकार बतलाता है।

पररूप आत्मा नहीं इसलिये वह परवस्तुका कुछ भी करनेके लिये समर्थ नहीं है। और किसीका संयोग-वियोगसे मेरा कुछ भी इष्ट-अनिष्ट नहीं हो सकता ऐसे सच्चे ज्ञानसे आत्मा सुखी होता है।

'तू निजरूपसे है' अतः पररूपसे नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल उसे बदलनेमें तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शांति तेरे पास ही है।

(३) अनेकान्त वस्तुको निजरूपसे सत् बतलाता है। सत्को पर सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है; संयोगकी आवश्यकता नहीं है; किन्तु सत्को सत्के निर्णयकी आवश्यकता है कि मैं स्वरूपसे हूँ और पररूपसे नहीं।'

(४) अनेकान्त वस्तुको एक-अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहने पर ही 'अनेक' की अपेक्षा आती है। तू अपनेमें एक है और अपनेमें ही अनेक है। तू अपने गुण-पर्यायसे अनेक है और वस्तुसे एक है।

(५) अनेकान्त वस्तुको नित्य-अनित्यस्वरूप बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही पर्यायसे अनित्य है। उसमें जिस ओरकी रुचि होती है उसी ओर परिणमन होता है। नित्यवस्तुकी रुचि करनेपर नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य पर्यायकी रुचि हो तो क्षणिक राग-द्वेष होते हैं।

(६) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुकी स्वतन्त्रताको घोषित करता है। वस्तु परसे नहीं है और स्वसे है ऐसा जो कहा है उसमें 'स्व अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तुको पर की आवश्यकता नहीं है वह स्वतः स्वयं स्वाधीन-परिपूर्ण है।

(७) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुमें अस्ति-नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियोंको बतलाता है। एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उत्पादक दो विरुद्ध शक्तियोंका एक साथ रहना ही तत्त्वकी पूर्णता है; ऐसी दो विरुद्ध शक्तियोंका होना वस्तुका स्वभाव है।

शास्त्रोंके अर्थ करनेकी पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको या उसके भावोंको अथवा कारण-कार्यादिको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है अतः उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, अतः ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

होता है वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। घीका घड़ा ऐसा कहनेपर मिट्टीके घड़ेके आश्रयसे घी भरा है उसमें व्यवहारी मनुष्योंको आधार-आधेयभाव भासित होता है उसे प्रधान करके (घीका घड़ा) कहनेमें आता है। जो 'घीका घड़ा है' ऐसा ही कहा जाय तो लोग समझ जाते हैं और 'घीका घड़ा' मंगावे तब उसे ले आते हैं इसलिये उपचारमें भी प्रयोजन संभव है। तथा जहाँ अभेदनयकी मुख्यता की जाती है वहां अभेद दृष्टिमें भेद दिखता नहीं है फिर भी उस समय उसमें (अभेदनयकी मुख्यतामें) ही भेद कहा है वह असत्यार्थ है। वहां भी उपचारकी सिद्धि गौणरूपसे होती है।

सम्यग्दृष्टिका और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान

(१) इस मुख्य-गौणके भेदको सम्यग्दृष्टि जानता है; मिथ्यादृष्टि अनेकान्त वस्तुको नहीं जानता और जब सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है तब उस एक धर्मको ही सर्वथा वस्तु मानकर वस्तुके अन्य धर्मोंको सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है अथवा अन्य धर्मोंका सर्वथा अभाव ही मानता है। ऐसा माननेसे मिथ्यात्व दृढ़ होता है जहां तक जीव यथार्थ वस्तुस्वरूपको जाननेका पुरुषार्थ नहीं करता तब तक यथार्थश्रद्धा नहीं होती। इस अनेकांत वस्तुको प्रमाण-नय द्वारा सात भंगोंसे सिद्ध करना सम्यक्त्वका कार्य है, इसलिये उसे भी सम्यक्त्व ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये। जिनमतकी कथनी अनेक प्रकारसे है, उसे अनेकांतरूपसे समझना चाहिये।

(२) इस सप्तभंगीके अस्ति और नास्ति ऐसे दो प्रथम भेद विशेष लक्षमें लेने योग्य हैं, ये दो भेद यह सूचित करते हैं कि जीव अपनेमें उल्टे या सीधे भाव कर सकता है किन्तु परका कुछ नहीं कर सकता, तथा परद्रव्यरूप अन्य जीव या जड़ कर्म इत्यादि सब अपने अपनेमें कार्य कर सकते हैं; किन्तु वे कोई इसी जीवका भला-बुरा कुछ नहीं कर सकते, इसलिये परवस्तुओंकी ओरसे लक्ष हटाकर और अपनेमें होनेवाले भेदोंको गौण करनेके लिये उन भेदोंपरसे भी लक्ष हटाकर अपने त्रिकाल अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालनेसे-उसके आश्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेयकी बुद्धि और वीतरागताकी प्राप्ति है।

अनेकांत क्या बतलाता है?

(१) अनेकांत वस्तुको परसे असंग (भिन्न) बतलाता है। असंगत्वकी (स्वतंत्रकी) श्रद्धा असंगत्वके विकासका उपाय है; तीनोंकाल परसे भिन्नत्व वस्तुका स्वभाव है।

(२) अनेकांत वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है' इसप्रकार बतलाता है।

पररूप आत्मा नहीं इसलिये वह परवस्तुका कुछ भी करनेके लिये समर्थ नहीं है। और किसीका संयोग-वियोगसे मेरा कुछ भी इष्ट-अनिष्ट नहीं हो सकता ऐसे सच्चे ज्ञानसे आत्मा सुखी होता है।

'तू निजरूपसे है' अतः पररूपसे नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल उसे बदलनेमें तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शांति तेरे पास ही है।

(३) अनेकान्त वस्तुको निजरूपसे सत् बतलाता है। सत्को पर सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है; संयोगकी आवश्यकता नहीं है; किन्तु सत्को सत्के निर्णयकी आवश्यकता है कि मैं स्वरूपसे हूँ और पररूपसे नहीं।'

(४) अनेकान्त वस्तुको एक-अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहने पर ही 'अनेक' की अपेक्षा आती है। तू अपनेमें एक है और अपनेमें ही अनेक है। तू अपने गुण-पर्यायसे अनेक है और वस्तुसे एक है।

(५) अनेकान्त वस्तुको नित्य-अनित्यस्वरूप बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही पर्यायसे अनित्य है। उसमें जिस ओरकी रुचि होती है उसी ओर परिणमन होता है। नित्यवस्तुकी रुचि करनेपर नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य पर्यायकी रुचि हो तो क्षणिक राग-द्वेष होते हैं।

(६) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुकी स्वतन्त्रताको घोषित करता है। वस्तु परसे नहीं है और स्वसे है ऐसा जो कहा है उसमें 'स्व अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तुको पर की आवश्यकता नहीं है वह स्वतः स्वयं स्वाधीन-परिपूर्ण है।

(७) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुमें अस्ति-नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियोंको बतलाता है। एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उत्पादक दो विरुद्ध शक्तियोंका एक साथ रहना ही तत्त्वकी पूर्णता है; ऐसी दो विरुद्ध शक्तियोंका होना वस्तुका स्वभाव है।

शास्त्रोंके अर्थ करनेकी पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको या उसके भावोंको अथवा कार्य-कार्यादिको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है अतः उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, अतः ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें जो दोनों नयोंका ग्रहण करनेको कहा है उसका क्या कारण है?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं कहीं निश्चयनयकी मुख्यतासे जो कथन है उससे यह समझना चाहिये कि–'सत्यार्थ ऐसा ही है', तथा कहीं कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिये कि 'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है'। और इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके कथनको समान सत्यार्थ जानकर 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे दोनों नयोंका ग्रहण करनेको नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो फिर जिनमार्गमें उसका उपदेश क्यों दिया गया है? एक निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिये था।

उत्तरः—यही तर्क श्री समयसारमें भी किया गया है, वहाँ यह उत्तर दिया गया है कि—जैसे कोई अनार्य-म्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और इसी सूत्रकी व्याख्यामें यह कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिए व्यवहारसे उपदेश देते हैं किन्तु व्यवहारनय अंगीकार करने योग्य नहीं है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ-२५१)

मुमुक्षुओंका कर्त्तव्य

आजकल इस पंचमकालमें इस कथनको समझनेवाले सम्यग्ज्ञानी गुरुका निमित्त सुलभ नहीं है, किन्तु जहां वे मिल सकें वहां उनके निकटसे मुमुक्षुओंको यह स्वरूप समझना चाहिये और जहां वे न मिल सकें वहां शास्त्रोंके समझनेका निरन्तर उद्यम करके इसे समझना चाहिये। सत् शास्त्रोंका श्रवण, पठन, चिंतवन करना, भावना करना, धारण करना, हेतु युक्तिके द्वारा नय विवक्षाको समझना, उपादान-निमित्तका स्वरूप समझना और वस्तुके अनेकान्त स्वरूपका निश्चय करना चाहिये। वह सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका मुख्य कारण है इसलिये मुमुक्षु जीवोंको उसका निरन्तर उपाय करना चाहिये।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके
चौथे अध्यायकी टीका
समाप्त हुई।

देवगतिकी व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीरकी ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
भवनवासी		१०	४०	कृष्ण, नील कापोत तथा जघन्य पोत				काय प्रवीचार
१ असुरकुमार	रत्नप्रभाके पंक भागमें			„	२५ धनुष	१ सागर	१० हजारवर्ष	„
२ नागकुमार	रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर खर भागमें			„	१० „	३ पल्य	„	„
३ विद्युतकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
४ सुपर्णकुमार				„	१० „	२॥ पल्य	„	„
५ अग्निकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
६ वातकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
७ स्तनितकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
८ उदधिकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
९ द्वीपकुमार				„	१० „	२ पल्य	„	„
१० दिक्कुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„

होता । यदि जीव शरीरको प्राप्त हो तो शरीर जीवकी पर्याय हो जाय; इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव और शरीर अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं और इसीलिए जीव शरीरको प्राप्त न होनेसे त्रिकालमें भी शरीरका कुछ कर नहीं सकता ॥ २ ॥

द्रव्यमें जीवकी गिनती

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थः—[जीवाः] जीव [च] भी द्रव्य है ।

टीका

(१) यहां 'जीवाः' शब्द बहुवचन है; वह यह बतलाता है कि जीव अनेक हैं। जीवका व्याख्यान पहले (पहले चार अध्यायोंमें) हो चुका है; इसके अतिरिक्त ३९ वें सूत्रमें 'काल' द्रव्य बतलाया है, अतः सब मिलकर छह द्रव्य हुए ।

(२) जीव बहुतसे हैं और प्रत्येक जीव 'द्रव्य' है ऐसा इस सूत्रमें प्रतिपादन किया है इसका क्या अर्थ है; यह विचार करते हैं । जीव अपने ही गुण-पर्यायको प्राप्त होता है इसलिये उसे भी द्रव्य कहा जाता है । शरीर तो जीव द्रव्यकी पर्याय नहीं; किन्तु पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, क्योंकि उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाता है और चेतन नहीं । कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुण पर्यायको प्राप्त ही नहीं होता, इसलिये पुद्गल द्रव्य या उसकी शरीरादि पर्याय चेतन रूपको (जीवतत्त्वको या जीवके किसी गुण पर्यायको) कभी भी प्राप्त नहीं होता । इस नियमके अनुसार जीव वास्तवमें शरीरको प्राप्त होता है यह बनता ही नहीं । जीव प्रत्येक समय अपनी पर्यायको प्राप्त होता है और शरीरको प्राप्त नहीं होता । इसलिये जीव शरीरका कुछ कर नहीं सकता, यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है । इस सिद्धान्तको समझे बिना जीव-अजीव तत्त्वकी अनादिसे चली आई भूल कभी दूर नहीं हो सकती ।

(३) जीवका शरीरके साथ जो सम्बन्ध दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायमें बताया है वह एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध मात्र बताया है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बताया, अतः यह व्यवहार कथन है । जो व्यवहारके वचनोंको वास्तवमें निश्चयके वचन मानते हैं वे 'घी का घड़ा' ऐसा कहनेसे घड़ाको वास्तवमें घी का बना हुआ मानते हैं, मिट्टी या धातुका बना हुआ नहीं मानते, इसलिये वे लौकिक मिथ्यादृष्टि हैं । शास्त्रोंमें ऐसे जीवोंको 'व्यवहार विमूढ़' कहा है । जिज्ञासुओंके अतिरिक्त जीव इस व्यवहार मूढ़ताको नहीं छोड़ेंगे और व्यवहार विमूढ़ जीवोंकी संख्या त्रिकाल बहुत ज्यादा रहेगी । इसलिए धर्मप्रेमी जीव (दुःखको

दूर करनेवाले सच्चे उम्मेदवार) इस अध्यायके १-२-३ सूत्रोंकी टीकामें जो स्वरूप बताया है उसे लक्ष्यमें लेकर इस स्वरूपको यथार्थ समझकर जीव और अजीव तत्त्वके स्वरूपकी अनादिसे चली आई भ्रांति दूर करें।

पुद्गल द्रव्यसे अतिरिक्त द्रव्योंकी विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थः—ऊपर कहे गये द्रव्योंमेंसे चार द्रव्य **[अरूपाणि]** रूप रहित **[नित्यावस्थितानि]** नित्य और अवस्थित हैं।

टीका

(१) **नित्यः**—जो कभी नष्ट न हो उसे नित्य कहते हैं। (देखो सूत्र ३१ और उसकी टीका)

अवस्थितः—जो अपनी संख्याको उल्लंघन न करे उसे अवस्थित कहते हैं।

अरूपीः—जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण न पाया जाय उसे अरूपी कहते हैं।

(२) पहले दो स्वभाव समस्त द्रव्योंमें होते हैं। ऊपर जो आसमानी रंग दिखाई देता है उसे लोग आकाश कहते हैं किन्तु यह तो पुद्गलका रंग है आकाश तो सर्वव्यापक, अरूपी, अजीव एक द्रव्य है।

'नित्य' और 'अवस्थित' का विशेष स्पष्टीकरण

(३) 'अवस्थित' शब्द यह बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन करता है। परिणाम और परिणामित्व अन्य किसी तरह नहीं बन सकता। यदि एक द्रव्य, उसका गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यका कुछ भी करे या करावे तो वह तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाय। किन्तु कोई द्रव्य परद्रव्यमय तो नहीं होता। यदि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्यका नाश हो जाय और द्रव्योंका 'अवस्थितपन' न रहेगा। और फिर द्रव्योंका नाश होने पर उनका 'नित्यत्त्व' भी न रहेगा।

(४) प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणोंका पिण्ड है। द्रव्यकी नित्यतासे उसका प्रत्येक गुण नित्य रहता है पुनरपि एक गुण उसी गुणरूप रहता है, दूसरे गुणरूप नहीं होता। इस तरह प्रत्येक गुणका अवस्थितत्त्व है; यदि ऐसा न हो तो गुणका नाश हो जायगा, और गुणके नाश होनेसे सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो जायगा और ऐसा होने पर द्रव्यका 'नित्यत्त्व' नहीं रहेगा।

(५) जो द्रव्य अनेक प्रदेशी हैं उसका भी प्रत्येक प्रदेश नित्य और अवस्थित रहता है। उनमेंसे एक भी प्रदेश अन्य प्रदेशरूप नहीं होता। यदि एक प्रदेशका स्थान अन्य प्रदेशरूप हो तो प्रदेशोंका अवस्थितपन न रहे। यदि एक प्रदेशका नाश हो तो सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो और ऐसा हो तो उसका नित्यत्व न रहे।

(६) प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने–अपने समय पर प्रगट होती है और फिर तत्पश्चात् अपने–अपने समय पर बादकी पर्यायें प्रगट होती हैं, और पहले पहलेकी पर्याय प्रगट नहीं होती, इस तरह पर्यायका अवस्थितपन सिद्ध होता है। यदि पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट न हो और दूसरी पर्यायके समय प्रगट हो तो पर्यायका प्रवाह अवस्थित न रहे और ऐसा होनेसे द्रव्यका अवस्थितपन भी न रहे।

एक पुद्गल द्रव्यका ही रूपित्व बतलाते हैं

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

अर्थः—[**पुद्गलाः**] पुद्गल द्रव्य [**रूपिणः**] रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

टीका

(१) 'रूपी' का अर्थ स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सहित है। (देखो सूत्र २३) पुद्+गल ये दो पद मिलकर पुद्गल शब्द बना है। पुद् अर्थात् इकट्ठे होना-मिल जाना और गल अर्थात् बिछुड़ जाना। स्पर्श गुणकी पर्यायकी विचित्रताके कारण मिलना और बिछुड़ना पुद्गलमें ही होता है इसीलिए जब उसमें स्थूलता आती है तब पुद्गल द्रव्य इन्द्रियोंका विषय बनता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बे इत्यादि रूपसे जो परिणमन है सो मूर्ति है।

(२) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और द्रव्यमन ये वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले हैं, इसीसे ये पाँचों पुद्गल द्रव्य हैं। द्रव्यमन सूक्ष्म पुद्गलके प्रचयरूप आठ पाँखुड़ीके खिले हुए कमलके आकारमें हृदय स्थानमें रहता है, वह रूपी अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला होनेसे पुद्गल द्रव्य है। (देखो इस अध्यायके १९ वें सूत्रकी टीका)

(३) नेत्रादि इन्द्रिय सदृश मन स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला होनेसे रूपी है, मूर्तिक है, ज्ञानोपयोगमें वह निमित्त कारण है।

शंकाः—शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगमें निमित्त है इसलिए जो ज्ञानोपयोगका

निमित्त हो सो पुद्गल है ऐसा कहनेमें हेतु व्यभिचरित होता है। (अर्थात् शब्द अमूर्तिक हैं तथापि ज्ञानोपयोगका निमित्त देखा जाता है इसलिये यह हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहनेसे व्यभिचारी हुआ) सो मन मूर्तिक है ऐसा किस कारणसे मानना ?

समाधानः—शब्द अमूर्तिक नहीं है। शब्द पुद्गलजन्य है अतः उसमें मूर्तिकपन है, इसलिये ऊपर दिया हुआ हेतु व्यभिचारी नहीं है किन्तु सपक्षमें ही रहनेवाला है। इससे यह सिद्ध हुआकि द्रव्यमन पुद्गल है।

(४) उपरोक्त कथनसे यह नहीं समझना कि इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ तो पुद्गल हैं, इसलिये ज्ञान रहित हैं; यदि इन्द्रियोंसे ज्ञान हो तो जीव चेतन न रहकर जड़-पुद्गल हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं है। जीवके ज्ञानोपयोगकी जिसप्रकारकी योग्यता होती है उसी-प्रकार पुद्गल इन्द्रियोंका संयोग होता है, ऐसा उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु निमित्त परद्रव्य होनेसे उनका आत्मामें अत्यन्त अभाव है और उससे वह-आत्मामें कुछ कर सकता है या सहायता कर सकता है ऐसा मानना सो विपरीतता है।

(५) सूत्रमें 'पुद्गलाः' बहुवचन है वह यह बतलाता है कि पुद्गलोंकी संख्या बहुत है तथा पुद्गलके अणु, स्कन्धादि भेदके कारण कई भेद हैं।

(६) मन तथा सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते किन्तु जब वह सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण करते हैं तब इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकते हैं और तभी उनमें स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्णकी अवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है इसलिये यह निश्चित होता है कि सूक्ष्म अवस्थामें भी वह स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले हैं।

(७) पुद्गल परमाणुओंका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मिट्टीके परमाणुओंमेंसे जल होता है, पानीसे बिजली-अग्नि होती है, वायुके मिश्रणसे जल होता है। इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन इत्यादिके परमाणु भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं, क्योंकि पृथ्वी आदि समस्त पुद्गलके ही विकार हैं।

अब धर्मादि द्रव्योंकी संख्या बतलाते हैं

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थः— [**आ आकाशात्**] आकाश पर्यन्त [**एकद्रव्याणि**] एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक एक हैं।

(६) दूसरे समुद्घातका स्वरूप अध्याय २ सूत्र ४८-४६ की टीकामें कहा जा चुका है और विशेष-बृहद्द्रव्यसंग्रह गा० १० की टीकामें देखो ।

अब आकाशके प्रदेश बतलाते हैं

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अर्थः— [**आकाशस्य**] आकाशके [**अनंताः**] अनन्त प्रदेश हैं ।

टीका

(१) आकाशके दो विभाग हैं—अलोकाकाश और लोकाकाश । उसमेंसे लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं । जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके हैं उतने ही प्रदेश लोकाकाशके हैं फिर भी उनका विस्तार एक सरीखा है । लोकाकाश छहों द्रव्योंका स्थान है । इस बारेमें बारहवें सूत्रमें कहा है । आकाशके जितने हिस्सेको एक पुद्गल परमाणु रोके, उसे प्रदेश कहते हैं।

(२) दिशा, कौना, ऊपर, नीचे ये सब आकाशके विभाग हैं।

अब पुद्गलके प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थः—[**पुद्गलानाम्**] पुद्गलोंके [**संख्येयाऽसंख्येयाः च**] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं ।

टीका

(१) इसमें पुद्गलोंकी संयोगी पर्याय (स्कन्ध) के प्रदेश बताये हैं । प्रत्येक अणु स्वतंत्र पुद्गल है । उसके एक ही प्रदेश होता है ऐसा ११ वें सूत्रमें कहा है।

(२) स्कंध दो परमाणुओंसे लेकर अनन्त परमाणुओंका होता है, इसका कारण ३३ वें सूत्रमें दिया गया है (बताया गया है) ।

(३) शंकाः—जबकि लोकाकाशके असंख्यात ही प्रदेश हैं तो उसमें अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल द्रव्य तथा दूसरे द्रव्य कैसे रह सकते हैं ?

समाधानः—पुद्गल द्रव्यमें दो तरहका परिणमन होता है, एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल । जब उसका सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्त

प्रदेशवाला पुद्‌गल स्कंध रह सकता है। और फिर सब द्रव्योंमें एक दूसरेको अवगाहन देनेकी शक्ति है, इसलिये अल्पक्षेत्रमें ही समस्त द्रव्योंके रहनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। आकाशमें सब द्रव्योंको एक साथ स्थान देनेकी सामर्थ्य है, इसलिये एक प्रदेशमें अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं, जैसे एक कमरेमें एक दीपकका प्रकाश रह सकता है और उसी कमरेमें उतने ही विस्तारमें पचास दीपकोंका प्रकाश रह सकता है।

अब अणुका एक प्रदेशी बतलाते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थः—[अणोः] पुद्‌गल परमाणुके [न] दो इत्यादि प्रदेश नहीं हैं अर्थात् एक प्रदेशी हैं।

टीका

१. अणु एक द्रव्य है, उसके एक ही प्रदेश है, क्योंकि परमाणुओंका खण्डन नहीं होता।

२. द्रव्योंके अनेकान्त स्वरूपका वर्णन

(१) द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकारके हैं।
(२) अमूर्तिक द्रव्य चेतन और जड़के भेदसे दो प्रकारके हैं।
(३) मूर्तिक द्रव्य दो तरहके हैं, एक अणु और दूसरा स्कन्ध।
(४) मूर्तिक द्रव्यके सूक्ष्म और बादर इसतरह दो भेद हैं।
(५) सूक्ष्म मूर्तिक द्रव्य दो तरहका है एक सूक्ष्मसूक्ष्म और दूसरा सूक्ष्म।
(६) स्कन्ध, सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकारका है।
(७) सूक्ष्म अणु दो तरहके हैं—१-पुद्‌गल अणु और २-कालाणु।
(८) अक्रिय (गमनागमनसे रहित चार द्रव्य) और सक्रिय (गमनागमन सहित जीव और पुद्‌गल) के भेदसे द्रव्य दो तरहके हैं।
(९) द्रव्य दो तरहके हैं—१-एक प्रदेशी और २-बहुप्रदेशी।
(१०) बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं संख्यात प्रदेशवाला और संख्यासे पर प्रदेशवाला।
(११) संख्यातीत बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं—असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी।

एक प्रदेशसे लेकर संख्यात और असंख्यात प्रदेश पर्यन्त [भाज्यः] विभाग करने योग्य है—जानने योग्य है।

टीका

समस्त लोक सर्व ओर सूक्ष्म और बादर अनेक प्रकारके अनन्तानन्त पुद्गलोंसे प्रगाढ़ रूपसे भरा हुआ है। इसप्रकार सम्पूर्ण पुद्गलोंका अवगाहन सम्पूर्ण लोकमें है। अनन्तानन्त पुद्गल लोकाकाशमें कैसे रह सकते हैं, इसका स्पष्टीकरण इस अध्यायके १० वें सूत्रकी टीकामें किया गया है, उसे समझ लेना चाहिए।

अब जीवोंका अवगाहन बतलाते हैं

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

अर्थः—[**जीवानाम्**] जीवोंका अवगाह [**असंख्येयभागादिषु**] लोकाकाशके असंख्यात भागसे लेकर संपूर्ण लोक क्षेत्रमें है।

टीका

जीव अपनी छोटीसे छोटी अवगाहनरूप अवस्थामें भी असंख्यात प्रदेश रोकता है। जीवोंके सूक्ष्म अथवा बादर शरीर होते हैं। सूक्ष्म शरीर वाले एक निगोद जीवके अवगाहन योग्य क्षेत्रमें साधारण शरीरवाला (-निगोद) जीव अनन्तानन्त रहते हैं तो भी परस्पर बाधा नहीं पाते। (-सर्वार्थसिद्धि टीका) जीवोंका जघन्य अवगाहन घनांगुलके असंख्यातवाँ भाग कहा है। धवला पृ. ४ पृ. २२, सर्वा. अ. ८ सूत्र २४ की टीका-) सूक्ष्म जीव तो समस्त लोकमें हैं। लोकाकाशका कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जिसमें जीव न हों।

जीवका अवगाहन लोकके असंख्यात भागमें कैसे है ?

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थः—[**प्रदीपवत्**] दीपकके प्रकाशकी भांति [**प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां**] प्रदेशोंके संकोच और विस्तारके द्वारा जीव लोकाकाशके असंख्यातादिक भागोंमें रहता है।

टीका

जैसे एक बड़े मकानमें दीपक रखनेसे उसका प्रकाश समस्त मकानमें फैल जाता है और उसी दीपकको एक छोटे घड़ेमें रखनेसे उसका प्रकाश उसीमें मर्यादित हो जाता है; उसीप्रकार जीव भी छोटे या बड़े जैसे शरीरको प्राप्त होता है उसमें उतना ही विस्तृत या

संकुचित होकर रह जाता है, परन्तु केवलीके प्रदेश समुद्घात-अवस्थामें सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हो जाते हैं और सिद्ध अवस्थामें अंतिम शरीरसे कुछ न्यून रहता है।

(२) बड़ेसे बड़ा शरीर स्वयंभूरमण समुद्रके महामत्स्यका है जो १००० योजन लम्बा है। छोटेसे छोटा शरीर (अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण) लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीवका है, जो एक श्वासमें १८ बार जन्म लेता है तथा मरण करता है।

(३) स्वभावसे जीव अमूर्तिक है किन्तु अनादिसे कर्मके साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और इसप्रकार छोटे-बड़े शरीरके साथ जीवका सम्बन्ध रहता है। शरीरके अनुसार जीवके प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

(४) **प्रश्नः**—धर्मादिक छहों द्रव्योंके परस्परमें प्रदेशोंके अनुप्रवेशन होनेसे क्या एकता प्राप्त होती है?

उत्तरः—उनके एकता प्राप्त नहीं होती। आपसमें अत्यन्त मिलाप होनेपर भी द्रव्य अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। कहा है कि—'छहों द्रव्य परस्पर प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं और नित्य मिलाप होने पर भी स्वभावको नहीं छोड़ते।' [पंचास्तिकाय गाथा ७] द्रव्य बदलकर परस्परमें एक नहीं होते, क्योंकि उनमें प्रदेशसे भेद है, स्वभावसे भेद है और लक्षणसे भेद है।

(५) १२ से १६ तकके सूत्र द्रव्योंके अवगाह (स्थान देने) के सम्बन्धमें सामान्य विशेषात्मक अर्थात् अनेकांत स्वरूपको कहते हैं।

अब धर्म और अधर्म द्रव्यका जीव और पुद्गलके साथका विशेष सम्बन्ध बतलाते हैं।

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अर्थः—[गतिस्थित्युपग्रहौ] स्वयमेव गमन तथा स्थितिको प्राप्त हुए जीव और पुद्गलोंके गमन तथा ठहरनेमें जो सहायक है सो [धर्माधर्मयोः उपकारः] क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है।

टीका

१. उपकार, सहायकता, उपग्रहका विषय १७ से २२ तकके सूत्रोंमें दिया गया है। वे भिन्न भिन्न द्रव्योंका भिन्न भिन्न प्रकारका निमित्तत्व बतलाते हैं। उपकार, सहायकता

या उपग्रहका अर्थ ऐसा नहीं होता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भला करता है, क्योंकि २० वें सूत्रमें यह बताया है कि जीवको दुःख और मरण होने में पुद्गल द्रव्यका उपकार है, यहां ऐसा समझना चाहिये कि लोकव्यवहारमें जब किसीके द्वारा किसीको कोई सुविधा दी जाती है तब व्यवहार-भाषामें यह कहा जाता है कि एक जीवने दूसरेका उपकार किया—भला किया। किंतु यह मात्र निमित्त सूचक भाषा है। एक द्रव्य न तो अपने गुण-पर्यायको छोड़ सकता है और न दूसरे द्रव्यको दे सकता है। प्रत्येकके प्रदेश दूसरे द्रव्योंके प्रदेशोंसे अत्यन्त भिन्न हैं, परमार्थसे-निश्चयसे एक दूसरेके क्षेत्रमें प्रवेश नहीं कर सकते; एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें त्रिकाल अभाव है, इसलिये कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यका वास्तवमें लाभ या हानि नहीं कर सकता। एक द्रव्यको अपने कारणसे लाभ या हानि हुई तब उस समय दूसरे कौन द्रव्य निमित्तरूपमें मौजूद हुए, यह बतलानेके लिए १७ से २२ वें तकके सूत्रोंमें 'उपकार' शब्दका प्रयोग किया है (इस सम्बन्धमें प्रथम अध्यायके १४ वें सूत्रकी जो टीका दी गई है वह तथा इस अध्यायके २२ वें सूत्रकी टीका यहां देखना चाहिए।

(२) यह सूत्र धर्म और अधर्म द्रव्यका लक्षण बतलाता है।

(३) उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण हेतु ये सभी निमित्त बतानेके लिये प्रयोग किये जाते हैं। "उपकार शब्दका अर्थ भला करना नहीं लेना कछु कार्यको निमित्त होय तिसको उपकारो कहिये है" अर्थात् किसी कार्यमें जो निमित्त हो उसे उपकार कहते हैं।

(देखो पं० जयचन्दजीकृत सर्वार्थसिद्धि वचनिका पृष्ठ ४३४ अर्थप्रकाशिका सूत्र १६ की टीका प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३०६ और सूरतसे प्रकाशित द्वितीयावृत्ति पृष्ठ २०२)

(४) **प्रश्न**—धर्म और अधर्म द्रव्य किसीके देखनेमें नहीं आते, इसलिये वे हैं ही नहीं ?

उत्तरः—सर्वज्ञ वीतरागने प्रत्यक्ष देखकर कहा है इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि धर्म और अधर्म द्रव्य किसीको दिखाई नहीं देते। जो नेत्रसे न देखा जाय उसका अभाव बतलाना ठीक नहीं है। जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किया जाय यदि उसका अभाव मानोगे तो बहुत सी वस्तुओंका अभाव मानना पड़ेगा। जैसे अमुक पेढ़ीके बुजुर्ग, दूरवर्ती देश, भूतकालमें हुए पुरुष, भविष्यमें होनेवाले पुरुष ये कोई आंखसे नहीं देखे जाते, इसलिये उनका भी अभाव मानना पड़ेगा; अतः यह तर्क यथार्थ नहीं है। अमूर्तिक पदार्थोंका सम्यग्ज्ञानी प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर सकता है और इसीलिए उसका यहां लक्षण कहा है।

अब आकाश और दूसरे द्रव्योंके साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थः—[**अवगाहः**] समस्त द्रव्योंको अवकाश-स्थान देना यह [**आकाशस्य**] आकाशका उपकार है।

टीका

(१) जो समस्त द्रव्योंको रहनेको स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं। '**उपकार**' शब्दका अध्याहार पहले सूत्रसे होता है।

(२) यद्यपि अवगाह गुण समस्त द्रव्योंमें है तथापि आकाशमें यह गुण सबसे बड़ा है, क्योंकि यह समस्त पदार्थोंको साधारण एक साथ अवकाश देता है। अलोकाकाशमें अवगाह हेतु है किन्तु वहां अवगाह लेनेवाले कोई द्रव्य नहीं हैं इसमें आकाशका क्या दोष है? आकाशका अवगाह देनेका गुण इससे बिगड़ या नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि द्रव्य अपने स्वभावको नहीं छोड़ता।

(३) **प्रश्नः**—जीव और पुद्गल क्रियावाले हैं और क्रियापूर्वक अवगाह करनेवालेको अवकाश देना ठीक है, किन्तु यह कैसे कहते हो कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालाणु तो क्षेत्रांतरकी क्रिया रहित हैं और आकाशके साथ नित्य सम्बन्धरूप हैं फिर भी उन्हें अवकाश दान देता है?

उत्तरः—उपचारसे अवकाश दान देता है ऐसा कहा जाता है। जैसे—आकाश गति रहित है तो भी उसे सर्वगत कहा जाता है। उसीप्रकार ऊपर कहे गये द्रव्य गति रहित हैं तो भी लोकाकाशमें उनकी व्याप्ति है इसलिए यह उपचार किया जाता है कि आकाश उन्हें अवकाश देता है।

(४) **प्रश्नः**—आकाशमें अवगाहन हेतुत्व है तथापि वज्र इत्यादिसे गोले आदिका और भीत (दीवाल) आदिसे गाय आदिका रुकना क्यों होता है?

उत्तरः—स्थूल पदार्थोंका ही पारस्परिक व्याघात हो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये आकाशके गुणमें कोई दूषण नहीं आता।

अब पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

अर्थः—[**शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः**] शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास ये

[पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं अर्थात् शरीरादिकी रचना पुद्गलसे ही होती है।

टीका

(१) यहां 'उपकार' शब्दका अर्थ भला करना नहीं किन्तु किसी कार्यमें निमित्त होय उसको उपकारी कहिये है। (देखो १७ वें सूत्रकी टीका)

(२) शरीरमें कार्माण शरीरका समास होता है। वचन तथा मन पुद्गल हैं यह सोलहवें सूत्रकी टीकामें बताया गया है। प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) पुद्गल है।

(३) भावमन लब्धि तथा उपयोगरूप है। यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे [illegible] है; यह भावमन जब पौद्गलिक मनकी ओर झुकाव करता है तब कार्य [illegible] परमार्थ, शुद्ध) नयसे यह जीवका स्वरूप नहीं है; निश्चय नयसे [illegible]

ही पुद्गल कृत इन्द्रियां भी जीवको अन्य उपकाररूपसे हैं।

(३) सुख-दुःखका संवेदन जीवको है, पुद्गल अचेतन-जड़ है, उसे सुख-दुःखका संवेदन नहीं हो सकता।

(४) निमित्त-उपादानका कुछ कर नहीं सकता। निमित्त अपनेमें पूरा पूरा कार्य करता है और उपादान अपनेमें पूरा पूरा कार्य करता है। यह मानना कि निमित्त पर द्रव्यका वास्तवमें कुछ असर-प्रभाव करता है सो दो द्रव्योंको एक माननेरूप असत् निर्णय है।

५. प्रश्नः—निमित्त-उपादानका कुछ भी कर नहीं सकता तो सुई शरीरमें घुस जानेसे जीवको दुःख क्यों होता है?

समाधानः—१. अज्ञानी जीवको शरीरमें एकत्वबुद्धि होनेसे शरीरकी अवस्थाको अपनी मानता है और अपनेको प्रतिकूलता हुई ऐसा मानता है, और ऐसी ममत्वबुद्धिके कारण दुःख होता है, परन्तु सुईके प्रवेशके कारण दुःख नहीं हुआ है।

२. मुनिओंको उपसर्ग आने पर भी निर्मोही पुरुषार्थकी वृद्धि करता है; दुखी नहीं होता है और

३. केवली-तीर्थंकरोंको कभी और किसी प्रकार उपसर्ग नहीं होता [त्रिलोक प्रज्ञप्ति भाग-१-पृ० ८ श्लो० ५६-६४]

४. ज्ञानीको निम्न भूमिकामें अल्प राग है वह शरीरके साथ एकत्वबुद्धिका राग नहीं है, परन्तु अपनी सहन शक्तिकी कमजोरीसे जितना राग हो उतना ही दुःख होता है; —सूईसे किंचित् भी दुःख होना मानता नहीं है।

५. विशेष ऐसा समझना चाहिये कि सूई और शरीर भिन्न भिन्न द्रव्य हैं, सूईका शरीरके परमाणुओंमें प्रवेश नहीं हो सकता 'एक परमाणु दूसरेको परस्पर चुम्बन भी नहीं करते' तो सुईका प्रवेश शरीरमें कैसे हो सकता है? सचमुच तो सुईका शरीरके परमाणुओंमें प्रवेश नहीं हुआ है, दोनोंकी सत्ता और क्षेत्र भिन्न भिन्न होनेसे, आकाश क्षेत्रमें दोनोंका संयोग हुआ कहना वह व्यवहारमात्र है।

जीवका उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थः—[जीवानाम्] जीवोंके [**परस्परोपग्रहः**] परस्परमें उपकार हैं।

टीका

(१) एक जीव दूसरेको सुखका निमित्त, दुःखका निमित्त, जीवनका निमित्त, मरणका निमित्त, सेवा-सुश्रूषा आदिका निमित्त होता है।

(२) यहां 'उपग्रह' शब्द है। दुःख और मरणके साथ भी उसका सम्बन्ध है, किन्तु उसका अर्थ 'भला करना' नहीं होता किन्तु निमित्तमात्र है ऐसा समझना चाहिये।

(३) बीसवें सूत्रमें कहे गये सुख, दुःख, जीवन, मरणके साथ इसका संबंध बतानेके लिये 'उपग्रह' शब्दका प्रयोग इस सूत्रमें किया है।

(४) जहां 'सहायक' शब्दका प्रयोग हुआ है वहां भी निमित्त मात्र अर्थ है। प्रेरक या अप्रेरक चाहे जैसा निमित्त हो किन्तु वह परमें कुछ करता नहीं है ऐसा समझना चाहिये और वह भेद-निमित्तकी ओरसे निमित्तके हैं, किन्तु उपादानकी अपेक्षा दोनों प्रकारके निमित्त को उदासीन (अप्रेरक) माना है। श्री पूज्यपादाचार्यने इष्टोपदेशकी गाथा ३४ में भी कहा है कि 'जो सत् कल्याणका वांछक है, वह आप ही मोक्षसुखका बतलानेवाला तथा मोक्षसुखके उपायोंमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप ही (आत्मा ही) है' इसपर शिष्यने आक्षेप सहित प्रश्न किया कि "अगर आत्मा ही आत्माका गुरु है तो गुरु शिष्यके उपकार, सेवा आदि व्यर्थ ठहरेंगे" उसको आचार्य गाथा ५३ से उत्तर देते हैं कि—

"नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अर्थः—अज्ञानी किसी द्वारा ज्ञानी नहीं हो सकता, तथा ज्ञानी किसीके द्वारा अज्ञानी नहीं किया जा सकता। अन्य सब कोई तो गति (गमन) में धर्मास्तिकायके समान निमित्तमात्र हैं अर्थात् जब जीव और पुद्‌गल स्वयं गति करे उस समय धर्मास्तिकायको निमित्तमात्र कारण कहा जाता है, उसी प्रकार जिस समय शिष्य स्वयं अपनी योग्यतासे ज्ञानी होता है तो उस समय गुरुको निमित्तमात्र कहा जाता है, उसीप्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (—कुदेवादिको) आदिको निमित्त मात्र कहा जाता है जो कि उपचार कारण है, (—अभूतार्थ कारण है) उपादान स्वयं अपनी योग्यतासे जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही उपस्थित क्षेत्र-काल-संयोग आदिमें निमित्तकारणपनेका उपचार किया जाता है अन्यथा निमित्त किसका? ऐसा किसीको कभी नहीं हो सकता कि द्रव्यकी जिस समय जैसा परिणमन करनेकी योग्यता हो उस समय उसके

अनुकूल निमित्त न हो और उसका उसरूप परिणमन होना रुक जावे, अथवा किसी क्षेत्र, काल, संयोगकी बाट (-राह) देखनी पड़े अथवा निमित्तको जुटाना पड़े ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका स्वरूप नहीं है।

उपादानके परिणमनमें सर्व प्रकारका निमित्त अप्रेरक है ऐसा समयसार नाटक सर्व विशुद्ध द्वार काव्य ६१ में कहा है। देखो इस अध्यायके सू० ३० की टीका।

अब काल द्रव्यका उपकार बतलाते हैं

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अर्थः—[**वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च**] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [**कालस्य**] काल द्रव्यके उपकार हैं।

(१) सत् अवश्य उपकार सहित होने योग्य है और काल सत्ता स्वरूप है इसलिये उसका क्या उपकार (निमित्तत्व) है सो इस सूत्रमें बताते हैं। (यहाँ भी उपकारका अर्थ निमित्तमात्र होता है।)

(२) **वर्तनाः**—सर्व द्रव्य अपने अपने उपादान कारणसे अपनी पर्यायके उत्पादरूप वर्तता है, उसमें बाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है, इसलिये वर्तना कालका लक्षण या उपकार कहा जाता है।

परिणामः—जो द्रव्य अपने स्वभावको छोड़े बिना पर्यायरूपसे पलटे (बदले) सो परिणाम है। धर्मादि सर्व द्रव्योंके अगुरुलघुत्व गुणके अविभाग प्रतिच्छेदरूप अनन्त परिणाम (षट्गुण हानि वृद्धि सहित) हैं, वह अति सूक्ष्म स्वरूप है। जीवके उपशमादि पांच भावरूप परिणाम हैं और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम हैं तथा घटादिक अनेकरूप परिणाम हैं। द्रव्यकी पर्याय—परिणतिको परिणाम कहते हैं।

क्रियाः—एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्रको गमन करना क्रिया है। वह क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंके होती है; दूसरे चार द्रव्योंके क्रिया नहीं होती।

परत्वः—जिसे बहुत समय लगे उसे परत्व कहते हैं।

अपरत्वः—जिसे थोड़ा समय लगे उसे अपरत्व कहते हैं।

इन सभी कार्योंका निमित्तकारण कालद्रव्य है। वे कार्य कालको बताते हैं।

(३) प्रश्नः—परिणाम आदि चार भेद वर्तनाके ही हैं इसलिये एक वर्तना कहना चाहिये ?

उत्तरः—काल दो तरहका है, निश्चयकाल और व्यवहारकाल उनमें जो वर्तना है सो तो निश्चयकालका लक्षण है और जो परिणाम आदि चार भेद हैं सो व्यवहारकालके लक्षण हैं। यह दोनों प्रकारके काल इस सूत्रमें बताये हैं।

(४) व्यवहारकाल—जीव पुद्गलके परिणामसे प्रगट होता है। व्यवहारकालके तीन भेद हैं भूत, भविष्यत्, और वर्तमान। लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक एक भिन्न भिन्न असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं, वह परमार्थ काल—निश्चयकाल है। वह कालाणु परिणति सहित रहता है।

(५) उपकारके सूत्र १७ से २२ तकका सिद्धान्त।

कोई द्रव्य परद्रव्यकी परिणतिरूप नहीं वर्तता, स्वयं अपनी परिणतिरूप ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है। परद्रव्य तो बाह्य निमित्तमात्र है, कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमें प्रवेश नहीं करता (अर्थात् निमित्त परका कुछ कर नहीं सकता) ये सूत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और कालके परके साथके निमित्त संबंध बतानेवाले लक्षण वहाँ पर कहे हैं।

(६) प्रश्नः—"काल वर्तानेवाला है" ऐसा कहनेसे उसमें क्रियावानपना प्राप्त होता है ? (अर्थात् काल पर द्रव्यको परिणमाता है, क्या ऐसा उसका अर्थ हो जाता है?)

उत्तरः—वह दूषण नहीं आता। निमित्तमात्रमें सहकारी हेतुका कथन (उपदेश) किया जाता है, जैसे यह कथन किया जाता है कि जाड़ोंमें कंडोंकी अग्नि शिष्यको पढ़ाती है; वहां शिष्य स्वयं पढ़ता है किन्तु अग्नि (ताप) उपस्थित रहती है इसलिये उपचारसे यह कथन किया जाता है कि 'अग्नि पढ़ाती है।' इसी तरह पदार्थोंके वर्तनमें कालका प्रेरक हेतुत्व कहा है वह उपचारसे हेतु कहा जाता है। और अन्य पांचों द्रव्य भी वहाँ उपस्थित है किन्तु उनको वर्तनामें निमित्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें उस तरहका हेतुत्व नहीं है।

अब पुद्गल द्रव्यका लक्षण कहते हैं

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

अर्थः—[**स्पर्श रस गन्ध वर्णवन्तः**] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले [**पुद्गलाः**] पुद्गल द्रव्य हैं।

टीका

(१) सूत्रमें 'पुद्गलाः' यह शब्द बहुवचनमें है, इससे यह कहा है कि बहुतसे पुद्गल हैं और प्रत्येक पुद्गलमें चार लक्षण हैं, किसीमें भी चारसे कम नहीं हैं, ऐसा समझाया गया है।

(२) सूत्र १९ वें, २० वेंमें पुद्गलोंका जीवके साथका निमित्तत्व बताया था और यहां पुद्गलका तद्भूत (उपादान) लक्षण बताते हैं। जीवका तद्भूत लक्षण उपयोग अध्याय २ सूत्र आठमें बताया गया था और यहां पुद्गलके तद्भूत लक्षण कहे हैं।

(३) इन चार गुणोंकी पर्यायोंके भेद निम्नप्रकार हैं:—स्पर्श गुणकी आठ पर्याय हैं १-स्निग्ध, २-रूक्ष, ३-शीत, ४-उष्ण, ५-हलका, ६-भारी, ७-मृदु और ८-कर्कश।

रस गुणकी पांच पर्यायें हैं १—खट्टा, २—मीठा, ३—कडुवा, ४—कषायला और ५—चर्परा। इन पांचोंमेंसे परमाणुमें एक कालमें एक रस पर्याय प्रगट होती है।

गंध गुणकी दो पर्यायें हैं:—१—सुगन्ध और २—दुर्गन्ध। इन दोनोंमेंसे एक कालमें एक गन्ध पर्याय प्रगट होती है।

वर्ण गुणकी पाँच पर्यायें हैं—१-काला, २-नीला, ३-पीला, ४-लाल और ५-सफेद। इन पांचोंमेंसे परमाणुके एक कालमें एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।

इस तरह चार गुणके कुल २० भेद—पर्याय हैं। प्रत्येक पर्यायके दो, तीन, चारसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

(४) कोई कहता है कि 'पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्निके परमाणुओंमें जातिभेद है' किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है। पुद्गल सब एक जातिका है। चारों गुण प्रत्येकमें होते हैं और पृथ्वी आदि अनेकरूपसे उसका परिणाम है। पाषाण और लकड़ीरूपसे जो पृथ्वी है वह अग्निरूपसे परिणमन करती है। अग्नि, काजल, राखादि पृथ्वीरूपमें परिणमते हैं। चन्द्रकांत मणि पृथ्वी है उसे चन्द्रमाके सामने रखने पर वह जलरूपमें परिणमन करती है। जल, मोती, नमक आदि पृथ्वीरूपसे उत्पन्न होते हैं। जौ नामका अनाज (जो पृथ्वीकी जातिका है) खानेसे वायु उत्पन्न होती है, क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु पुद्गल द्रव्यके ही विकार हैं (पर्याय हैं)।

(५) प्रश्नः—इस अध्यायके ५वें सूत्रमें पुद्गलका लक्षण रूपित्व कहा है तथापि इस सूत्रमें पुद्गलका लक्षण क्यों कहा ?

उत्तरः—इस अध्यायके चौथे सूत्रमें द्रव्योंकी विशेषता बतानेके लिए नित्य, अवस्थित और अरूपी कहा था और उसमें पुद्गलोंको अमूर्तिकत्व प्राप्त होता था, उसके निराकरणके लिए पांचवां सूत्र कहा था और यह सूत्र तो पुद्गलोंका स्वरूप बतानेके लिए कहा है।

(६) इस अध्यायके पांचवें सूत्रकी टीका यहां पढ़नी चाहिये।

(७) विदारणादि कारणसे जो टूट-फूट होती है तथा संयोगके कारणसे मिलना होता है—उसे पुद्गलके स्वरूपको जाननेवाले सर्वज्ञदेव पुद्गल कहते हैं। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ५५)

(८) **प्रश्नः**—हरा रंग कुछ रंगोंके मेलसे बनता है, इसलिए रंगके जो पांच भेद बताये हैं वे मूल भेद कैसे रह सकते हैं?

उत्तरः—मूल सत्ताकी अपेक्षासे ये भेद नही कहे गये किन्तु परस्परके स्थूल अन्तरकी अपेक्षासे कहे हैं। रसादिके सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिये। रंगादिकी नियत संख्या नहीं है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ १५८)

अब पुद्गलकी पर्याय बतलाते हैं

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अर्थः—उक्त लक्षणवाले पुद्गल [**शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योतवन्तः च**] शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतादिवाले होते हैं, अर्थात् ये भी पुद्गलकी पर्यायें हैं।

टीका

(१) इन अवस्थाओंमेंसे कितनी तो परमाणु और स्कन्ध दोनोंमें होती हैं और कई स्कन्धमें ही होती हैं।

(२) शब्द दो तरहका है—१-भाषात्मक और २-अभाषात्मक। इनमेंसे भाषात्मक दो तरहका है; १-अक्षरात्मक और २-अनक्षरात्मक। उनमें अक्षरात्मक भाषा संस्कृत और देशभाषारूप है। वह दोनों शास्त्रोंको प्रगट करनेवाली और मनुष्यके व्यवहारका कारण है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रियसे लेकर चार इन्द्रियवालों तथा कितनेक पंचेन्द्रिय जीवोंके होती है और अतिशय रूप ज्ञानको प्रकाशित करनेमें कारण केवली भगवानकी दिव्य ध्वनि—ये सभी अनक्षरात्मक भाषा हैं। यह पुरुषनिमित्तक है, इसलिये प्रायोगिक है।

अभाषात्मक शब्द भी दो भेदरूप हैं। एक प्रायोगिक दूसरा वैस्रसिक। जिस शब्दके उत्पन्न होनेमें पुरुष निमित्त हो वह प्रायोगिक है और जो पुरुषको विना अपेक्षाके स्वभावरूप उत्पन्न हो वह वैस्रसिक है, जैसे मेघ-गर्जनादि। प्रायोगिक भाषा चार तरहकी है—१-तत, २-वितत, ३-घन और ४-सुषिर। जो चमड़ेके ढोल, नगाड़े आदिसे उत्पन्न हो वह तत है। तारवाली वीणा, सितार, तम्बूरादिसे उत्पन्न होनेवाली भाषाको वितत कहते हैं। घण्टा आदिके वजानेसे उत्पन्न होनेवाली भाषा घन कहलाती है और जो बांसुरी शंखादिकसे उत्पन्न हो उसे सुषिर कहते हैं।

जो कानसे सुना जाय उसे शब्द कहते हैं। जो मुखसे उत्पन्न हो सो भाषात्मक शब्द है। जो दो वस्तुके आघातसे उत्पन्न हो उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होनेमें प्राणी तथा जड़ पदार्थ दोनों निमित्त हैं। जो केवल जड़ पदार्थोंके आघातसे उत्पन्न हो उसे वैस्रसिक कहते हैं, जिसके प्राणियोंका निमित्त होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं।

मुखसे निकलनेवाला जो शब्द अक्षर, पद, वाक्यरूप है उसे साक्षर भाषात्मक कहते हैं, उसे वर्णात्मक भी कहते हैं।

तीर्थंकर भगवानके सर्व प्रदेशोंसे जो निरक्षर ध्वनि निकलती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहा जाता है,—ध्वन्यात्मक भी कहा जाता है।

बंधः—दो तरहका है—१-वैस्रसिक और दूसरा प्रायोगिक। पुरुषकी अपेक्षासे रहित जो बंध होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। यह वैस्रादिक दो तरहका है १-आदिमान २-अनादिमान। उसमें स्निग्ध रूक्षादिके कारणसे जो विजली, उल्कापात, वादल, आग, इन्द्रधनुष आदि होते हैं उसे आदिमान वैस्रसिक-बंध कहते हैं। पुद्गलका अनादिमान बंध महास्कन्ध आदि हैं। (अमूर्तिक पदार्थोंमें भी वैस्रसिक अनादिमान बंध उपचारसे कहा जाता है। यह धर्म, अधर्म तथा आकाशका है एवं अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थका अनादिमान बंध-धर्म, अधर्म, आकाश और जगद्व्यापी महास्कन्धका है)।

जो पुरुषकी अपेक्षा सहित हो वह प्रायोगिक बन्ध है। उसके दो भेद हैं—१-अजीव विषय, २-जीवाजीव विषय। लाखका लकड़ीका जो बन्ध है सो अजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है। जीवके जो कर्म और नोकर्म बन्ध हैं सो जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बंध हैं।

सूक्ष्मः—दो तरहका है—१-अंत्य, २-आपेक्षिक। परमाणु अंत्य सूक्ष्म है। आंवलेसे वेर सूक्ष्म है, वह आपेक्षिक सूक्ष्म है।

स्थूलः—दो तरहका है (१) अन्त्य, (२) आपेक्षिक। जो जगद्व्यापी महास्कन्ध है सो अन्त्य स्थूल है, उससे बड़ा दूसरा कोई स्कन्ध नहीं है; बेर, आंवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं।

संस्थानः—आकृतिको संस्थान कहते हैं। उसके दो भेद हैं (१) इत्थंलक्षण संस्थान और (२) अनित्यंलक्षण संस्थान। उनमें गोल, त्रिकोण, चौरस, लम्बा, चौड़ा, परिमंडल ये इत्यंलक्षण संस्थान हैं। बादल आदि जिसकी कोई आकृति नहीं वह अनित्यंलक्षण संस्थान है।

भेदः—छह तरहका है। (१) उत्कर, (२) चूर्ण, (३) खण्ड, (४) चूर्णिका, (५) प्रतर और (६) अनुचटन। आरे आदिसे लकड़ी आदिका विदारण करना सो उत्कर है। जौ, गेहूं, बाजरा आदिका आटा चूर्ण है। घड़े आदिके टुकड़े खण्ड हैं। उड़द, मूंग, चना, चोला आदि दालको चूर्णिका कहते हैं। तप्तायमान लोहेको घन इत्यादिसे पीटने पर जो स्फुलिंग (चिन्गारियां) निकलते हैं उसे अनुचटन कहते हैं।

अन्धकारः—जो प्रकाशका विरोधी है सो अन्धकार है।

छायाः—प्रकाश (उजेले) को ढकनेवाली छाया है। वह दो प्रकारकी है (१) तद्वर्णपरिणति (२) प्रतिबिम्बस्वरूप। रंगीन कांचमेंसे देखनेपर जैसा कांचका रंग हो वैसा ही दिखाई देता है यह तद्वर्णपरिणति कहलाती है। और दर्पण, फोटो आदिमें जो प्रतिबिम्ब देखा जाता उसे प्रतिबिम्ब स्वरूप कहते हैं।

आतापः—सूर्य विमानके द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है उसे आताप कहते हैं।

उद्योतः—चन्द्रमा, चन्द्रकान्त मणि, दीपक आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

सूत्रमें जो 'च' शब्द कहा है उसके द्वारा प्रेरणा, अभिघात (मारना) आदि जो पुद्गलके विकार हैं उनका समावेश किया गया है।

उपरोक्त भेदोंमें 'सूक्ष्म' तथा 'संस्थान' (ये दो भेद) परमाणु और स्कन्ध दोनोंमें होते हैं और अन्य सब स्कन्धके प्रकार हैं।

(३) दूसरी तरहसे पुद्गलके छह भेद हैं १–सूक्ष्म–सूक्ष्म, २–सूक्ष्म, ३–सूक्ष्मस्थूल, ४–स्थूलसूक्ष्म, ५–स्थूल और ६–स्थूलस्थूल।

१–सूक्ष्म–सूक्ष्मः—परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है।

२–सूक्ष्मः—कार्माणवर्गणा सूक्ष्म है।

३-सूक्ष्म-स्थूलः—स्पर्श, रस, गंध और शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं। क्योंकि ये आंखसे दिखाई नहीं देते इसलिये सूक्ष्म हैं और चार इन्द्रियोंसे जाने जाते हैं इसलिये स्थूल हैं।

४-स्थूल-सूक्ष्मः—छाया, परछांई, प्रकाश आदि स्थूलसूक्ष्म हैं। क्योंकि वह आंखसे दिखाई देते हैं इसलिये स्थूल हैं और उसे हाथसे पकड़ नहीं सकते इसलिये सूक्ष्म हैं।

५-स्थूलः—जल, तेल आदि सब स्थूल हैं। क्योंकि छेदन-भेदनसे ये अलग हो जाते हैं और इकट्ठे करनेसे मिल जाते हैं।

६-स्थूल-स्थूलः-पृथ्वी, पर्वत, काष्ठ आदि स्थूल-स्थूल हैं। वे पृथक् करनेसे पृथक् तो हो जाते हैं किन्तु फिर मिल नहीं सकते।

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है किन्तु इन्द्रिय ग्राह्य होनेकी उसमें योग्यता है। इसीतरह सूक्ष्म स्कन्धको भी समझना चाहिये।

(४) शब्दको आकाशका गुण मानना भूल है, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है, इसलिये शब्द आकाशका गुण नहीं हो सकता। शब्दका मूर्तिकत्व साक्षात् है क्योंकि शब्द कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण होता है, हस्तादिसे तथा दीवाल आदिसे रोका जाता है और हवा आदि मूर्तिक वस्तुसे उसका तिरस्कार होता है, दूर जाता है। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसलिये मूर्तिक है। यह प्रमाणसिद्ध है। पुद्गलस्कन्धके परस्पर भिड़नेसे टकरानेसे शब्द प्रगट होता है ॥ २४ ॥

अब पुद्गलके भेद बतलाते हैं

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थः—पुद्गल द्रव्य [अणवः स्कन्धाः च] अणु और स्कन्धके भेदसे दो प्रकारके हैं।

टीका

(१) **अणुः**—जिसका विभाग न हो सके ऐसे पुद्गलको अणु कहते हैं। पुद्गल मूल (Simple) द्रव्य है।

स्कन्धः—दो तीनसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके पिण्डको स्कन्ध कहते हैं।

(२) स्कन्ध पुद्गल द्रव्यकी विशेषता है। स्पर्श गुणके कारणसे वे स्कन्धरूपसे परिणमते हैं। स्कन्धरूप कब होता है यह इस अध्यायके २६, ३३, ३६ और ३७ वें सूत्रमें कहा है और वह कब स्कन्धरूपमें नहीं होता यह सूत्र ३४, ३५ में बताया है।

(३) ऐसी विशेषता अन्य किसी द्रव्यमें नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्य अमूर्तिक हैं। यह सूत्र मिलापके सम्बन्धमें द्रव्योंका अनेकान्तत्व बतलाता है।

(४) परमाणु स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त है, क्योंकि वह एक-प्रदेशी अविभागी है ॥ २५ ॥

अब स्कन्धोंकी उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थः—परमाणुओंके [**भेदसंघातेभ्यः**] भेद (अलग होनेसे) संघात (मिलनेसे) अथवा भेद संघात दोनोंसे [**उत्पद्यन्ते**] पुद्‌गल स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है।

टीका

(१) पिछले सूत्रोंमें (पूर्वोक्त सूत्रोंमें) पुद्‌गलद्रव्यकी विशिष्टता बतलाते हुए अणु और स्कन्ध ये दो भेद बताए; तब प्रश्न यह उठता है कि स्कन्धोंकी उत्पत्ति किस तरह होती है ? उसके स्पष्टरूपसे तीन कारण बतलाए हैं। सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न करते हुए बहुवचन (संघातेभ्यः) प्रयोग किया है, इससे भेद-संघातका तीसरा प्रकार व्यक्त होता है।

(२) **दृष्टान्तः**—१०० परमाणुओंका स्कन्ध है, उसमेंसे दस परमाणु अलग हो जानेसे ९० परमाणुओंका स्कन्ध बना; यह भेदका दृष्टान्त है। उसमें (सौ परमाणुके स्कन्धमें) दस परमाणुओंके मिलनेसे एक सौ दस परमाणुओंका स्कन्ध हुआ; यह संघातका दृष्टान्त है। उसीमें ही एक साथ दस परमाणुओंके अलग होने और पन्द्रह परमाणुओंके मिल जानेसे एक सो पांच परमाणुओंका स्कन्ध हुआ, यह भेद संघातका उदाहरण है ॥ २६ ॥

अब अणुकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थः—[**अणुः**] अणुकी उत्पत्ति [**भेदात्**] भेदसे होती है ॥ २७ ॥

दिखाई देने योग्य स्थूल स्कन्धकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थः—[**चाक्षुषः**] चक्षुइन्द्रियसे देखनेयोग्य स्कन्ध [**भेदसंघाताभ्याम्**] भेद और संघात दोनोंके एकत्र रूप होनेसे उत्पन्न होता है, अकेले भेदसे नहीं।

टीका

(१) प्रश्नः—जो चक्षुइन्द्रियके गोचर न हो ऐसा स्कन्ध चक्षुगोचर कैसे होता है ?

उत्तरः—जिस समय सूक्ष्म स्कन्धका भेद हो उसी समय चक्षुइन्द्रियगोचर स्कन्धमें वह संघातरूप हो तो वह चक्षुगोचर हो जाता है। सूत्रमें 'चाक्षुषः' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ चक्षुइन्द्रियगोचर होता है। चक्षुइन्द्रियगोचर स्कन्ध अकेले भेदसे या अकेले संघातसे नहीं होता।

(देखो राजवार्तिक सूत्र २८ की टीका, पृष्ठ ३९१, अर्थप्रकाशिका पृष्ठ २१०)

(2) Marsh-gas treated with chlorine gives Methyl Chloride and Hydrochloric acid the formula is:—$CH_4 + cl_2 = CH_3cl + H + cl$.

अर्थः—सड़े पानीमें उत्पन्न गैसको 'मार्श गैस' कहते हैं। उसकी गन्ध नहीं आती रंग भी मालूम नहीं होता, किन्तु वह जल सकता है। उसे एक क्लोरीन नामक गैस जो हरिताभ पीले रंगका है उसके साथ मिलाने पर वह नेत्र इन्द्रियसे दिखाई देनेवाला एक तीसरा एसिड पदार्थ होता है, उसे मैथीलक्लोराइड हाइड्रोक्लोरिक एसिड कहते हैं। (इंग्लिश तत्त्वार्थसूत्रके इस सूत्रके नीचेकी टीका)

(३) ओक्सीजन और हाइड्रोजन दो वायु हैं, दोनों नेत्र इन्द्रियसे अगोचर स्कन्ध हैं। दोनोंके मिलाप होनेपर नेत्र-इन्द्रिय-गोचर जल हो जाता है। इसलिये नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध होनेके लिए जिसमें मिलाप हो वह नेत्रइन्द्रियगोचर होना हो चाहिये ऐसा नियम नहीं है और सूत्रमें भी नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध चाहिए ही ऐसा कथन नहीं है। सूत्रमें सामान्य कथन है ॥ २८ ॥

इस तरह छहों द्रव्योंके विशेष लक्षणोंका कथन किया जा चुका।

अब द्रव्योंका सामान्य लक्षण कहते हैं

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थः—[द्रव्यलक्षणम्] द्रव्यका लक्षण [सत्] सत् (अस्तित्व) है।

टीका

(१) वस्तुस्वरूपके बतलानेवाले ५ महासूत्र इस अध्याय में दिये गये हैं। वे २९-३०-३२-३८ और ४२ वें सूत्र हैं। उनमें भी यह सूत्र मूल नींवरूप है, क्योंकि किसी वस्तु के विचार

अब सत्‌का लक्षण बताते हैं

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थः—[उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं] जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हो [सत्] सो सत् है।

टीका

(१) जगत्‌में सत्‌के सम्बन्धसे कई असत् मान्यतायें चल रहीं हैं। कोई 'सत्'को सर्वथा कूटस्थ—जो कभी न बदले ऐसा मानते हैं; कोई ऐसा कहते हैं कि सत् ज्ञानगोचर नहीं है, इसलिए 'सत्'का यथार्थ त्रिकाली अबाधित स्वरूप इस सूत्रमें कहा है।

(२) प्रत्येक वस्तुका स्वरूप 'स्थायी रहते हुई बदलता है' उसे इंगलिशमें Permanancy with a change (बदलनेके साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह यों भी कहते हैं कि-No Substance is destroyed, every substance changes its from. (कोई वस्तु नाश नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है)।

(३) **उत्पादः**—चेतन अथवा अचेतन द्रव्यमें नवीन अवस्थाका प्रगट होना सो उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद होने पर पूर्वकालसे चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नहीं सकती।

व्ययः—स्वजाति यानी मूल स्वभावके नष्ट हुए बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्यमें पूर्व अवस्थाका विनाश (उत्पादके समय ही) होना सो व्यय है।

ध्रौव्यः—अनादि अनन्तकाल तक सदा बना रहनेवाला मूल स्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नहीं होता उसे ध्रौव्य कहते हैं (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ६ से ८)

(४) सर्वार्थसिद्धिमें ध्रौव्यकी व्याख्या इस सूत्रकी टीकामें पृष्ठ १०५ में संस्कृतमें निम्नप्रकार दी है:—

"अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः।"

अर्थः—जो अनादि पारिणामिक स्वभावके द्वारा व्यय तथा उत्पादके अभावसे ध्रुव रहता है—स्थिर रहता है वह ध्रुव है।

(५) इस सूत्रमें 'सत्' का अनेकांत रूप बतलाया है। यद्यपि त्रिकालापेक्षासे सत् ध्रुव है तो भी समय समय पर नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट

होती है अर्थात् द्रव्यमें समा जाती है, वर्तमान कालकी अपेक्षासे अभावरूप होता है—इस तरह कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व द्रव्यका अनेकांतपन है ।

(६) इस सूत्रमें पर्यायका भी अनेकांतपन बतलाया है । जो उत्पाद है सो अस्तिरूप पर्याय है और जो व्यय है सो नास्तिरूप पर्याय है । स्वकी पर्याय स्वसे होती है परसे नहीं होती ऐसा 'उत्पाद' से बताया । स्व पर्यायकी नास्ति—अभाव भी स्वसे ही होता है, परसे नहीं होता । "प्रत्येक द्रव्यका उत्पाद-व्यय स्वतंत्र उस द्रव्यसे है" ऐसा बताकर द्रव्य, गुण तथा पर्यायकी स्वतंत्रता बतलाई-परका असहायकपन बतलाया ।

(७) धर्म (शुद्धता) आत्मामें द्रव्यरूपसे त्रिकाल भरपूर है, अनादिसे जीवके पर्याय रूपमें धर्म प्रगट नहीं हुआ, किंतु जीव जब पर्यायमें धर्म व्यक्त करे तब व्यक्त होता है, ऐसा उत्पाद शब्दका प्रयोग बताया और उसी समय विकारका व्यय होता है ऐसा व्यय शब्दको कहकर बताया । उन अविकारी भावके प्रगट होने और विकारीभावके व्ययका लाभ त्रिकाल मौजूद रहनेवाले ऐसे ध्रुव द्रव्यके प्राप्त होता है ऐसा ध्रौव्य शब्द अन्तमें देकर बतलाया है ।

(८) **प्रश्नः**—"युक्त" शब्द एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका पृथक्त्व बतलाता है—जैसे—दण्डयुक्त दंडी । ऐसा होनेसे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यका द्रव्यसे भिन्न होना समझा जाता है अर्थात् द्रव्यके उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यका द्रव्यमें अभावका प्रसंग आता है उसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तरः—'युक्त' शब्द जहां अभेदकी अपेक्षा हो वहां भी प्रयोग किया जाता है जैसे—सार युक्त स्तम्भ । यहां युक्त शब्द अभेदनयसे कहा है । यहां युक्त शब्द एकमेकतारूप अर्थमें समझना ।

(९) सत् स्वतंत्र और स्व सहायक है अतः उत्पाद और व्यय भी प्रत्येक द्रव्यमें स्वतंत्ररूपसे होते हैं । श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसार गा० १०७ में पर्यायको भी सत्पना कहा है—"सद्द्रव्यं सच्च गुणः सच्चेव च पर्याय इति विस्तारः ।"

प्रश्नः—जीवमें होनेवाली विकारी पर्याय पराधीन कही जाती है इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—पर्याय भी एक समय स्थायी अनित्य सत् होनेसे विकारी पर्याय भी जीव जब स्वतन्त्ररूपसे अपने पुरुषार्थके द्वारा करे तब होती है । यदि वैसा न माना जाय तो द्रव्यका लक्षण 'सत्' सिद्ध न हो और इसलिए द्रव्यका नाश हो जाय । जीव स्वयं स्वतन्त्ररूपसे अपने भावमें परके आधीन होता है इसलिए विकारी पर्यायको पराधीन कहा जाता

है। किन्तु ऐसा मानना न्यायसंगत नहीं है कि 'परद्रव्य जीवको आधीन करता है इसलिये विकारी पर्याय होती है।'

प्रश्नः—क्या यह मान्यता ठीक है कि "जब द्रव्यकर्मका बल होता है तब कर्म जीवको आधीन कर लेते हैं क्योंकि कर्ममें महान शक्ति है ?"

उत्तरः—नहीं, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्यका प्रभाव और शक्ति उसके क्षेत्रमें रहती है। जीवमें कर्मकी शक्ति नहीं जा सकती इसलिए कर्म जीवको कभी भी आधीन नहीं कर सकता। यह नियम श्री समयसार नाटकमें दिया गया है, वह उपयोगी होनेसे यहाँ दिया जाता है:—

१—अज्ञानियोंके विचारमें रागद्वेषका कारण:—

— दोहा —

कोऊ मूरख यों कहै, राग द्वेष परिनाम।
पुद्‌गलकी जोरावरी, वरतै आतमराम ॥६२॥

ज्यौं ज्यौं पुद्‌गल बल करै, धरिधरि कर्मज भेष।
रागद्वेषकौ परिनमन, त्यौं त्यौं होइ विशेष ॥६३॥

अर्थः—कोई कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मामें राग-द्वेष भाव पुद्‌गलकी जबरदस्तीसे होता है ॥ ६२ ॥ पुद्‌गल कर्मरूप परिणमनके उदयमें जितना जितना बल करता है उतनी उतनी बाहुल्यतासे रागद्वेष परिणाम होते हैं। ६३ ॥

— अज्ञानियोंको सत्य मार्गका उपदेश —

— दोहा —

इहिविध जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोई।
सो नर राग विरोधसौं, कबहूं भिन्न न होई ॥६४॥

सुगुरु कहै जगमें रहै, पुद्‌गल संग सदीव।
सहज शुद्ध परिनमनिकौ, औसर लहै न जीव ॥६५॥

तातैं चिदभावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यातमें, समकितमैं सिव भाउ ॥६६॥

(देखो समयसार नाटक पृष्ठ २७६-२७७ सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार, सोनगढ़से प्रकाशित)

अर्थः—ऊपर जो रीति कही है वह तो विपरीत पक्ष है। जो कोई उसे ग्रहण करता है या श्रद्धान करता है उस जीवके राग-द्वेष और मोह कभी पृथक् होते ही नहीं। श्रीगुरु कहते हैं कि जीवके पुद्गलका साथ सदा (अनादिसे) रहता है तो फिर सहज शुद्ध परिणमनका अवसर जीवको कभी मिले ही नहीं। इसलिये चैतन्यका भाव करनेमें चेतन-राजा ही समर्थ है; वह मिथ्यात्वदशामें स्वसे राग-द्वेषरूप होता है और सम्यक्त्वदशामें—शिव भाउ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है।

२—जीवको कर्मका उदय कुछ असर नहीं कर सकता अर्थात् निमित्त-उपादानको कुछ नहीं कर सकता। इन्द्रियोंके भोग, लक्ष्मी, सगे सम्बन्धी या मकान आदिके सम्बन्धमें भी यही नियम है। वह नियम श्री समयसार नाटकके सर्वविशुद्धि द्वारमें निम्नरूपसे दिया है:-

—सवैया—

कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ?
पुद्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनिको भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है ॥
गुरु कहै छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनिको सदा असहाई परिनौन है।
कोऊ दरव काहूको न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥६१॥

अर्थः—शिष्य कहता है-हे स्वामी ! राग-द्वेष परिणामका मूल प्रेरक कौन है सो आप कहो, पुद्गल कर्म या इन्द्रियोंके भोग या धन या घरके मनुष्य या मकान ? श्रीगुरु समाधान करते हैं कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें सदा असहाय परिणमते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कभी भी प्रेरक नहीं है। राग-द्वेषका कारण मिथ्यात्वरूपी मदिरा का पान है।

(१०) पंचाध्यायी अ० १ गा० ८९ में भी वस्तुकी हरएक अवस्था-(पर्याय भी) "स्वतः सिद्ध" एवं 'स्वसहाय' है, ऐसा कहा है—

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थिति भंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥८९॥

अर्थः—जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह "स्वतः परिणमनशील" भी है,

इसलिये यहाँ पर यह सत् नियमसे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है। इसप्रकार किसी भी वस्तुकी कोई भी अवस्था, किसी भी समय, परके द्वारा नहीं की जा सकती, वस्तु सदा स्वतः परिणमनशील होनेसे अपनी पर्याय यानी अपने हरएक गुणके वर्तमान (अवस्थाविशेष) का वह स्वयं ही सृष्टा-रचयिता है ॥ ३० ॥

अब नित्यका लक्षण कहते हैं

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थः—[**तद्भावाव्ययं**] तद्भावसे जो अव्यय है-नाश नहीं होना सो [**नित्यम्**] नित्य है।

टीका

(१) जो पहले समयमें हो वही दूसरे समयमें हो उसे तद्भाव कहते हैं; वह नित्य होता है—अव्यय=अविनाशी होता है।

(२) इस अध्यायके चौथे सूत्रमें कहा है कि द्रव्यका स्वरूप नित्य है। उसकी व्याख्या इस सूत्रमें दी गई है।

(३) प्रत्यभिज्ञानके हेतुको तद्भाव कहते हैं। जैसे कि द्रव्यको पहले समयमें देखनेके बाद दूसरे आदि समयोंमें देखनेसे "यह वही है जिसे मैंने पहले देखा था" ऐसा जो जोड़-रूप ज्ञान है वह द्रव्यका द्रव्यत्व बतलाता है, परन्तु यह नित्यता कथंचित् है क्योंकि यह सामान्य स्वरूपकी अपेक्षासे होती है। पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्य अनित्य है। इसतरह जगतमें समस्त द्रव्य नित्यानित्यस्वरूप है। यह प्रमाण दृष्ट है।

(४) आत्मामें सर्वथा नित्यता माननेसे मनुष्य, नरकादिरूप संसार तथा संसारसे सर्वथा छूटनेरूप मोक्ष नहीं बन सकता। सर्वथा नित्यता माननेसे संसार स्वरूपका वर्णन और मोक्ष-उपायका कथन करनेमें विरोध आता है, इसलिये सर्वथा नित्य मानना न्याय-संगत नहीं है ॥ ३१ ॥

अब वस्तुके दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करनेकी रीति बतलाते हैं

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थः—[**अर्पितानर्पितसिद्धेः**] प्रधानता और गौणतासे पदार्थोंकी सिद्धि होती है।

टीका

(१) प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, यह सिद्धान्त इस सूत्रमें स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म हैं; तथापि वे वस्तुको वस्तुपनेमें निष्पन्न (सिद्ध) करनेवाले हैं, इसीलिये वे प्रत्येक द्रव्यमें होते ही हैं। उनका कथन मुख्य गौणरूपसे होता है, क्योंकि सभी धर्म एक नहीं कहे जा सकते। जिस समय जिस धर्मको सिद्ध करना हो उस समय उसकी मुख्यता ली जाती है। उस मुख्यता-प्रधानताको 'अर्पित' कहा जाता है, और उस समय जिस धर्मको गौण रखा हो उसे अनर्पित कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि अनर्पित किया हुआ धर्म यद्यपि उस समय कहनेमें नहीं आया तो भी वह धर्म रहते ही हैं।

(२) जिस समय द्रव्यको द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा है उसी समय वह पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। सिर्फ उस समय 'अनित्यता' कही नहीं गई किन्तु गर्भित रखी है। इसी प्रकार जब पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्यको अनित्य कहा है उसी समय वह द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है, सिर्फ उस समय नित्य कही नहीं है; क्योंकि दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते।

(३) अर्पित और अनर्पितके द्वारा अनेकान्तस्वरूपका कथन—

अनेकान्तकी व्याख्या निम्न प्रमाण है—

"एक वस्तुमें वस्तुत्वकी निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका एक ही साथ प्रकाशित होना सो अनेकान्त है।" जैसे कि जो वस्तु सत् है वही असत् है अर्थात् जो अस्ति है वही नास्ति है, जो एक है वही अनेक है, जो नित्य है वही अनित्य है इत्यादि। (स० सार सर्व विशुद्धज्ञानाधिकार पृ० ५६५)

अर्पित और अनर्पितका स्वरूप समझनेके लिये यहां कितने ही दृष्टान्तोंकी जरूरत है, वे यहां दिये जाते हैं—

(१) 'जीव चेतन है' ऐसा कहनेसे 'जीव अचेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वयं गर्भित रूपसे आ गया। इसमें 'जीव चेतन है' यह कथन अर्पित हुआ और 'जीव अचेतन नहीं है' यह कथन अनर्पित हुआ।

(२) 'अजीव जड़ है' ऐसा कहनेसे 'अजीव चेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वयं गर्भित रूपसे आ गया, इसमें पहला कथन अर्पित है और उसमें 'अजीव चेतन नहीं है' यह भाव अनर्पित-गौणरूपसे आ गया, अर्थात् बिना कहे भी उसमें गर्भित है ऐसा समझ लेना चाहिये।

असंयमी होता है, यद्यपि उस समय चारित्रमोहके कर्म भी झड़ जाते हैं तो भी जीवके विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्म स्वयं बांधता है, इसलिये पुराने चारित्र—मोहकर्मपर उदयका आरोप आता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(२०) 'कर्मके उदयसे जीव ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकमें जाता है क्योंकि आनुपूर्वी कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन भी आ गया कि 'जीवकी क्रियावती शक्तिकी उस समयकी वैसी योग्यता है इसलिये जीव ऊर्ध्वलोकमें, अधोलोकमें और तिर्यग्लोकमें जाता है, उस समय उसे अनुकूल आनुपूर्वी नामकर्मका उदय संयोगरूपसे होता है। कर्म परद्रव्य है इसलिये वह जीवको किसी जगह नहीं ले जा सकता' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

उपरोक्त दृष्टांत ध्यानमें रखकर शास्त्रमें कैसा भी कथन किया हो उसका निम्नलिखित अनुसार अर्थ करना चाहिये—

पहले यह निश्चय करना चाहिये कि शब्दार्थके द्वारा यह कथन किस नयसे किया है। उसमें जो कथन जिस नयसे किया हो वह कथन अर्पित है ऐसा समझना। और सिद्धान्तके अनुसार उसमें गौणरूपसे जो दूसरे भाव गर्भित हैं, यद्यपि वे भाव जो कि वहां शब्दोंमें नहीं कहे तो भी ऐसा समझ लेना चाहिये कि वे गर्भितरूपसे कहे हैं, यह अनर्पित कथन है। इसप्रकार अर्पित और अनर्पित दोनों पहलुओंको समझकर यदि जीव अर्थ करे तो ही जीवको प्रमाण और नयका सत्य ज्ञान हो। यदि दोनों पहलुओंको यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणमा है इसलिये उसका ज्ञान अप्रमाण और कुनयरूप है। प्रमाणको सम्यक् अनेकांत भी कहा जाता है।

जहाँ-जहाँ निमित्त और औदयिकभावकी सापेक्षताका कथन हो, वहाँ औदयिकभाव जीवका स्वतन्त्र होनेसे-निश्चयसे निरपेक्ष ही है सापेक्ष नहीं है, इस मुख्य बातका स्वीकार होना चाहिये। एकान्त सापेक्ष माननेसे शास्त्रका सच्चा अर्थ नहीं होगा।

(४) अनेकांतका प्रयोजन

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसा निजपदकी प्राप्ति करानेके अतिरिक्त अन्य दूसरे हेतुसे उपकारी नहीं है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सकता है इस मान्यतामें आनेवाले दोषोंका वर्णन

जगतमें छहों द्रव्य अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाह रूपसे रहे हुये हैं, वे स्वयं नियमें

अन्तर्मग्न रहते हुये अपने अनन्त धर्मोंके चक्रको चूमते हैं,—स्पर्श करते हैं तो भी वे परस्परमें एक दूसरेको स्पर्श नहीं करते। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको स्पर्श करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाय और यदि पररूप हो जाय तो निम्नलिखित दोष आवें:—

१—संकर दोष

दो द्रव्य एकरूप हो जायें तो संकर दोष आता है।

"सर्वेषाम् युगपत्प्राप्तिः संकरः"—जो अनेक द्रव्योंके एकरूपताकी प्राप्ति है सो संकर दोष है। जीव अनादिसे अज्ञान दशामें शरीरको, शरीरकी क्रियाको, द्रव्य इन्द्रियोंको, भाव इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको स्वसे एकरूप मानता है यह ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष है। इस सूत्रमें कहे हुये अनेकान्त स्वरूपको समझने पर—अर्थात् जीव जीवरूपसे है कर्मरूपसे नहीं इसलिये जो कर्म, इन्द्रियां, शरीर, जीवकी विकारी और अपूर्ण दशा है सो ज्ञेय है किन्तु वह जीवका स्वरूप (-ज्ञान) नहीं है ऐसा समझकर भेदविज्ञान प्रगट करे तब ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष दूर होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही संकर दोष टलता—दूर होता है।

जीव जितने अंशोंमें मोहकर्मके साथ युक्त होकर दुःख भोगता है वह भाव्य भावक संकर दोष है। उस दोषको दूर करनेका प्रारम्भ सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर होता है और अकषायज्ञानस्वभावका अच्छी तरह आलम्बन करनेसे सर्वथा कषायभाव दूर होनेपर वह संकर दोष सर्वथा दूर होता है।

२—व्यतिकर दोष

यदि जीव जड़का कुछ कार्य करे और जड़ कर्म या शरीर जीवका कुछ भला-बुरा करे तो जीव जड़रूप हो जाय और जड़ चेतनरूप हो जाय तथा एक जीवके दूसरे जीव कुछ भला-बुरा करें तो एक जीव दूसरे जीवरूप हो जाय। इस तरह एकका विषय दूसरेमें चला जायगा, इसके व्यतिकर दोष आवेगा—"परस्परविषयगमनं व्यतिकरः।"

जड़कर्म हलका हो और मार्ग दे तो जीवके धर्म हो और जड़कर्म बलवान हो तो जीव धर्म नहीं कर सकता—ऐसा माननेमें संकर और व्यतिकर दोनों दोष आते हैं।

जीव मोक्षका—धर्मका पुरुषार्थ न करे और अशुभभावमें रहे तब उसे बहुकर्मी जीव कहा जाता है, अथवा यों कहा जाता है कि—'उसके कर्मका तीव्र उदय है इसलिये वह धर्म नहीं करता। उस जीवका लक्ष स्वसन्मुख नहीं है किन्तु परवस्तु पर है, इतना बतानेके लिये वह व्यवहार कथन है। परन्तु ऐसे उपचार कथनको सत्यार्थ माननेसे दोनों दोष आते

हैं कि जड़ कर्म जीवको नुकसान करता है या जीव जड़कर्मका क्षय करता है। और ऐसा माननेमें दो द्रव्यके एकत्वकी मिथ्या श्रद्धा होती है।

३—अधिकरण दोष

यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता, उसे हला-चला सकता या दूसरे जीवका कुछ कर सकता तो वह दोनों द्रव्योंका अधिकरण (स्वक्षेत्ररूप आधार) एक हो जाय और इससे 'अधिकरण' दोष आवेगा।

४—परस्पराश्रय दोष

जीव स्वकी अपेक्षासे सत् है और कर्म परवस्तु है उस अपेक्षासे जीव असत् है, तथा कर्म उसकी अपनी अपेक्षासे सत् है और जीवकी अपेक्षासे कर्म असत् है। ऐसा होनेपर भी जीव कर्मको बाँधे छोड़े उसका क्षय करे वैसे ही कर्म कमजोर हों तो जीव धर्म कर सकता है—ऐसा माननेमें 'परस्पराश्रय' दोष है। जीव कर्म इत्यादि समस्त द्रव्य सदा स्वतंत्र हैं और स्वयं स्वसे स्वतन्त्ररूपसे कार्य करते हैं ऐसा माननेसे 'परस्पराश्रय' दोष नहीं आता।

५—संशय दोष

जीव अपने रागादि विकार भावको जान सकता है, स्वद्रव्यके आलम्बनसे रागादि दोषका अभाव हो सकता है परन्तु उसे टालनेका प्रयत्न नहीं करता और जो जड़कर्म और उसके उदय हैं उसको नहीं देख सकता तथापि ऐसा माने कि 'कर्मका उदय पतला पड़े, कमजोर हो, कर्मके आवरण हटे तो धर्म या सुख हो सकता है; जड़कर्म बलवान हो तो जीव गिर जाय, अधर्मी या दुःखी होजाय, (जो ऐसा माने) उसके संशय-(-भय) दूर नहीं होता अथवा निज आत्माश्रित निश्चय रत्नत्रयसे धर्म होगा या पुण्यसे-व्यवहार करते करते धर्म होगा ? ऐसा संशय दूर किये बिना जीव स्वतन्त्रताकी श्रद्धा और सच्चा पुरुषार्थ नहीं कर सकता और विपरीत अभिप्राय रहितपनेके सच्चे पुरुषार्थ बिना, किसी जीवको कभी धर्म या सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। कोई भी द्रव्य दूसरोंका कुछ कर सकता है या नहीं ऐसी मान्यतामें संशय दोष आता है वह सच्ची समझसे दूर करना चाहिये।

६—अनवस्था दोष

जीव अपने परिणामका ही कर्ता है और अपना परिणाम उसका धर्म है। सर्व द्रव्योंके अन्य द्रव्योंके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है, इसलिये अजीवके साथ जीवके कार्य-कारणत्व सिद्ध नहीं होता। यदि एक द्रव्य दूसरेका कार्य करे, दूसरा तीसरेका कार्य करे-ऐसी परम्परा मानने पर अनन्त द्रव्य हैं उनमें कौन द्रव्य किस द्रव्यका कार्य करे

इसका कोई नियम नहीं रहेगा और इसलिये अनवस्था दोष आवेगा। परन्तु यदि ऐसा नियम स्वीकार करें कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही कार्य करता है परका कार्य नहीं कर सकता तो वस्तुकी यथार्थ व्यवस्था ज्योंकी त्यों बनी रहती और उसमें कोई अनवस्था दोष नहीं आता।

७—अप्रतिपत्ति दोष

प्रत्येक द्रव्यका द्रव्यत्व-क्षेत्रत्व-कालत्व (-पर्यायत्व) और भावत्व (-गुण) जिस प्रकारसे है उसी प्रकारसे उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। जीव क्या कर सकता और क्या नहीं कर सकता, वैसे ही जड़ द्रव्य क्या कर सकते और क्या नहीं कर सकते-इसका ज्ञान न करना और तत्त्वज्ञान करनेका प्रयत्न नहीं करना सो अप्रतिपत्ति दोष है।

८—विरोध दोष

यदि ऐसा मानें कि एक द्रव्य स्वयं स्वसे सत् है और वही द्रव्य परसे भी सत् है तो 'विरोध' दोष आता है। क्योंकि जीव जैसे अपना कार्य करे वैसे पर द्रव्यका-कर्म अर्थात् पर जीव आदिका—भी कार्य करे तो विरोध दोष लागू होता है।

९—अभाव दोष

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करे तो उस द्रव्यका नाश हो और एक द्रव्यका नाश हो तो क्रम क्रमसे सर्व द्रव्योंका नाश होगा, इस तरह उसमें 'अभाव' दोष आता है।

इन समस्त दोषोंको दूरकरो वस्तुका अनेकांत स्वरूप समझनेके लिये आचार्य भगवानने यह सूत्र कहा है।

अर्पित (मुख्य) और अनर्पित (गौण) का विशेष

समझमें तथा कथन करनेके लिये किसी समय उपादानको मुख्य किया जाता है और किसी समय निमित्तको, (कभी निमित्तकी मुख्यतासे कार्य नहीं होता मात्र कथनमें मुख्यता होती है) किसी समय द्रव्यको मुख्य किया जाता है तो किसी समय पर्यायको, किसी समय निश्चयको मुख्य कहा जाता है और किसी समय व्यवहारको। इस तरह जब एक पहलूको मुख्य करके कहा जावे तब दूसरे गौण रहनेवाले पहलुओंका यथायोग्य ज्ञान कर लेना चाहिये। यह मुख्य और गौणता ज्ञानकी अपेक्षासे समझनी चाहिये।

—परन्तु सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे हमेशा द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके उपदेश दिया जाता है द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतामें कभी भी व्यवहारकी मुख्यता नहीं होती; वहाँ पर्यायदृष्टिके भेदको

गौण करके उसे व्यवहार कहा है। भेद—दृष्टिमें रुकने पर निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागीके विकल्प रहा करता है; इसलिये जबतक रागादिक दूर न हों तबतक भेदको गौण कर अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया जाता है। द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे व्यवहार, पर्याय या भेद हमेशा गौण रखा जाता है, उसे कभी मुख्य नहीं किया जाता ॥ ३२ ॥

(श्री समयसार गाथा ७ भावार्थ पेराग्राफ दूसरा)

अब परमाणुओंमें बंध होनेका कारण बतलाते हैं

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थः—[स्निग्धरूक्षत्वात्] चिकने और रूखेके कारण [बंधः] दो, तीन इत्यादि परमाणुओंका बंध होता है।

टीका

(१) पुद्गलमें अनेक गुण हैं किन्तु उनमेंसे स्पर्श गुणके अतिरिक्त दूसरे गुणोंका पर्यायोंसे बन्ध नहीं होता, वैसे ही स्पर्शकी आठ पर्यायोंमेंसे भी स्निग्ध और रूक्ष नामके पर्यायोंके कारणसे ही बन्ध होता है और दूसरे छह प्रकारके पर्यायोंसे बन्ध नहीं होता, ऐसा यहाँ बताया है। किस तरहकी स्निग्ध और रूक्ष अवस्था हो तब बन्ध हो यह ३६ वें सूत्रमें कहेंगे और किस तरहके हों तब बन्ध नहीं होता यह ३४-३५ वें सूत्रमें कहेंगे। बन्ध होनेपर किस जातिका परिणमन होता है यह ३७ वें सूत्रमें कहा जायगा।

(२) बन्ध—अनेक पदार्थोंमें एकत्वका ज्ञान करानेवाले सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं।

(३) बन्ध तीन तरहका होता है—१-स्पर्शोंके साथ पुद्गलोंका बन्ध, २-रागादिके साथ आत्माका बन्ध, और ३-अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक बन्ध। (प्रवचनसार गाथा १७७) उसमेंसे पुद्गलोंका बन्ध इस सूत्रमें बताया है।

(४) स्निग्ध और रूक्षत्वके जो अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसे गुण* कहते हैं। एक, दो, तीन, चार, पांच, छह इत्यादि तथा संख्यात, असंख्यात या अनन्त स्निग्ध गुण रूपसे तथा रूक्ष गुणरूपसे एक परमाणु और प्रत्येक परमाणु स्वतः स्वयं परिणमता है।

(५) स्निग्ध स्निग्धके साथ, रूक्ष रूक्षके साथ तथा एक दूसरेके साथ बन्ध होता है।

---

* यहां द्रव्य-गुण-पर्यायमें आनेवाला गुण नहीं समझना परन्तु गुणका अर्थ 'स्निग्ध-रूक्षत्वकी शक्तिका नाप करनेका साधन' समझना चाहिये।

बंध कब नहीं होता ?

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थः—[**जघन्यगुणानाम्**] जघन्य गुण सहित परमाणुओंका [**न**] बन्ध नहीं होता।

टीका

(१) गुणकी व्याख्या सूत्र ३३ की टीका में दी गई है। 'जघन्य गुण परमाणु' अर्थात् जिस परमाणुमें स्निग्धता या रूक्षताका एक अविभागी अंश हो उसे जघन्यगुण सहित परमाणु कहते हैं। जघन्यगुण अर्थात् एक गुण समझना।

(२) परम चैतन्यस्वभावमें परिणति रखनेवालेके परमात्मस्वरूपके भावनारूप धर्म-ध्यान और शुक्लध्यानके बलसे जब जघन्य चिकनेके स्थानमें राग क्षीण हो जाता है तब जैसे जल और रेतीका बन्ध नहीं होता वैसे ही जघन्य स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसीके साथ बन्ध नहीं होता। (प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७२, श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका, हिन्दी पुस्तक पृष्ठ २२७) जल और रेतीके दृष्टांतमें जैसे जीवोंके परमानन्दमय स्वसंवेदन गुणके बलसे राग-द्वेष हीन हो जाता है और कर्मके साथ बन्ध नहीं होता उसीप्रकार जिस परमाणुमें जघन्य स्निग्ध या रूक्षता होती है उसके किसीसे बन्ध नहीं होता।

(हिन्दी प्रवचनसार गाथा ७३ पृ० २२८)

(३) श्री प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७१ से ७६ तक तथा गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६१४ तथा उसके नीचेकी टीकामें यह बतलाया है कि पुद्गलोंमें बन्ध कब नहीं होता और कब होता है, अतः वह बाँचना।

(४) चौंतीसवें सूत्रका सिद्धांत

(१) द्रव्यमें अपने साथ जो एकत्व है वह बन्धका कारण नहीं होता किंतु अपनेमें-निजमें च्युतिरूपद्वैत-द्वित्व हो तब बन्ध होता है। आत्मा एकभावस्वरूप है, परन्तु मोह-राग-द्वेषरूप परिणमनसे द्वैतभावरूप होता है और उससे बन्ध होता है। (देखो प्रवचनसार गाथा १७५ की टीका) आत्मा अपने त्रिकाली स्वरूपसे शुद्ध चैतन्य मात्र है। यदि पर्यायमें वह त्रिकाली शुद्ध चैतन्यके प्रति लक्ष्य करके अन्तर्मुख हो तो द्वैतपन नहीं होता, बन्ध नहीं होता अर्थात् मोह-राग-द्वेषमें नहीं रुकता। आत्मा मोह-राग-द्वेषमें अटकता है वही बन्ध है। अज्ञानतापूर्वकका राग-द्वेष ही वास्तवमें स्निग्ध और रूक्षत्वके स्थानमें होनेसे बन्ध है (देखो प्रवचनसार गाथा १७६ की टीका) इसप्रकार जब आत्मामें द्वित्व हो तब बन्ध होता है और उसका निमित्त पाकर द्रव्यबन्ध होता है।

टीका

(१) गुण-द्रव्यकी अनेक पर्यायें बदलने पर भी जो द्रव्यसे कभी पृथक् नहीं हो, निरन्तर द्रव्यके साथ सहभावी रहे वह गुण कहलाता है।

(२) जो द्रव्यके पूरे हिस्सेमें तथा उसकी सभी हालतोंमें रहे उसे गुण कहते हैं। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न ११३) (३) जो द्रव्यमें शक्तिकी अपेक्षासे भेद किया जावे वह गुण शब्दका अर्थ है (तत्त्वार्थसार—अध्याय ३, गाथा ६ पृष्ठ १३१) सूत्रकार गुणकी व्याख्या ४१ वें सूत्रमें देंगे।

(३) पर्याय—१-क्रमसे होनेवाली वस्तुकी—गुणकी अवस्थाको पर्याय कहते हैं; २-गुणके विकारको (विशेष कार्यको) पर्याय कहते हैं; (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न १४८) ३-द्रव्यमें जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले वह पर्याय कहलाती है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ९ पृष्ठ १३१)

सूत्रकार पर्यायकी व्याख्या ४२ वें सूत्रमें देंगे।

(४) पहले सूत्र २९-३० में कहे हुए लक्षणसे यह लक्षण पृथक् नहीं है, शब्दभेद है, किन्तु भावभेद नहीं। पर्यायमें उत्पाद-व्ययकी और गुणसे ध्रौव्यकी प्रतीति हो जाती है।

(५) गुणको अन्वय, सहवर्ती पर्याय या अक्रमवर्ती पर्याय भी कहा जाता है तथा पर्यायको व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती कहा जाता है। द्रव्यका स्वभाव गुण-पर्यायरूप है, ऐसा सूत्रमें कहकर द्रव्यका अनेकांतत्व सिद्ध किया है।

(६) द्रव्य-गुण और पर्याय वस्तुरूपसे अभेद-अभिन्न है। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षासे द्रव्य, गुण और पर्यायमें भेद है परन्तु प्रदेशसे अभेद है; ऐसा वस्तुका भेदाभेद स्वरूप समझना।

(७) सूत्रमें 'वत्' शब्दका प्रयोग किया है, वह कथंचित् भेदाभेदपना सूचित करता है।

(८) जो गुणके द्वारा यह बतलावे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे द्रव्यान्तर है' उसे विशेष गुण कहते हैं। उसके द्वारा द्रव्यका विधान किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो द्रव्योंकी संकरता-एकताका प्रसंग हो और एक द्रव्य बदलकर दूसरा हो जाय तो व्यतिकर दोषका प्रसंग होगा। इसलिये इन दोषोंसे रहित वस्तुका स्वरूप जैसाका तैसा समझना ॥३८॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च ॥ ३९ ॥

अर्थः—[कालः] काल [च] भी द्रव्य है ।

टीका

(१) 'च' का अन्वय इस अध्यायके दूसरे सूत्र 'द्रव्याणि' के साथ है ।

(२) काल उत्पाद-व्यय-ध्रुव तथा गुण-पर्याय सहित है इसलिये वह द्रव्य है ।

(३) काल द्रव्योंकी संख्या असंख्यात है । वे रत्नोंकी राशिकी तरह एक दूसरेसे पृथक् लोकके समस्त प्रदेशों पर स्थित हैं । वह प्रत्येक कालाणु जड़, एक प्रदेशी और अमूर्तिक है । उसमें स्पर्श गुण नहीं है इसलिये एक दूसरेके साथ मिलकर स्कन्ध रूप नहीं होता । कालमें मुख्य रूपसे या गौणरूपसे प्रदेश-समूहकी कल्पना नहीं हो सकती, इसलिये उसे अकाय भी कहते हैं । वह निष्क्रिय है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें नहीं जाता ।

(४) सूत्र २२ वें वर्तना मुख्य कालका लक्षण कहा है और उसी सूत्रमें व्यवहार कालका लक्षण परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व कहा है । इस व्यवहार कालके अनन्त समय है ऐसा अब इसके बादके सूत्रमें कहते हैं ॥ ३९ ॥

व्यवहारकालका प्रमाण बताते हैं

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थः—[सः] वह काल द्रव्य [अनन्त समयः] अनन्त समय वाला है । कालकी पर्याय यह समय है । यद्यपि वर्तमानकाल एक समयमात्र ही है तथापि भूत-भविष्यकी अपेक्षासे उसके अनन्त समय हैं ।

टीका

(१) समयः—मन्दगतिसे गमन करनेवाले एक पुद्गल परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमें जितना समय लगता है वह एक समय है । यह कालकी पर्याय होनेसे व्यवहार है । आवलि, (समयोंके समूहसे ही जो हो) घड़ी, घंटा आदि व्यवहारकाल है । व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है ।

निश्चयकालद्रव्यः—लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह कालाणुके

स्थित होनेका ३९ वें सूत्रकी टीकामें कहा है; वह प्रत्येक निश्चयकालद्रव्य है। उसका लक्षण वर्तना है; यह सूत्र २२ में कहा जा चुका है।

(२) एक समयमें अनन्त पदार्थोंकी परिणति-पर्याय-जो अनन्त संख्यामें है; उसके एक कालाणुकी पर्याय निमित्त होती है, इस अपेक्षासे एक कालाणुको उपचारसे 'अनन्त' कहा जाता है। मुख्य अर्थात् निश्चयकालाणु द्रव्यकी संख्या असंख्यात है।

(३) समय सबसे छोटेसे छोटा काल है, उसका विभाग नहीं हो सकता ॥४०॥

इस तरह छह द्रव्योंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दो सूत्रों द्वारा गुणका और पर्यायका लक्षण बताकर यह अधिकार पूर्ण हो जायगा।

गुणका लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थः—[**द्रव्याश्रयाः**] जो द्रव्यके आश्रयसे हों और [**निर्गुणाः**] स्वयं दूसरे गुणोंसे रहित हों [**गुणाः**] वे गुण हैं।

टीका

(१) ज्ञानगुण जीवद्रव्यके आश्रित रहता है तथा ज्ञानमें और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उसमें गुण रहे तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं होता। 'आश्रयाः' शब्द भेद-अभेद दोनों बतलाता है।

(१) **प्रश्नः**—पर्याय भी द्रव्यके आश्रित रहती है और गुण रहित है इसलिये पर्यायमें भी गुणत्व आ जायगा और इसीसे इस सूत्रमें अतिव्याप्ति दोष लगेगा।

उत्तरः—'द्रव्याश्रयाः' पद होनेसे जो नित्य द्रव्यके आश्रित रहता है, उसकी बात है। वह गुण है, पर्याय नहीं है। इसीलिये 'द्रव्याश्रयाः' पदसे पर्याय उसमें नहीं आती। पर्याय एक समयवर्ती ही है।

कोई गुण दूसरे गुणके आश्रित नहीं है और एक गुण दूसरे गुणकी पर्यायका कर्ता नहीं हो सकता है।

(२) इस सूत्रका सिद्धांत

प्रत्येक गुण अपने द्रव्यके आश्रित रहता है इसलिये एक द्रव्यका गुण दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, तथा दूसरे द्रव्यको प्रेरणा, असर या मदद नहीं कर सकता, परद्रव्य निमित्तरूपसे होता है परन्तु एक द्रव्य परद्रव्यमें अकिंचित्कर है (समयसार गाथा २६७

की टीका) प्रेरणा, सहाय, मदद, उपकार आदिका कथन उपचारमात्र है अर्थात् निमित्तका मात्र ज्ञान करानेके लिये है॥ ४१ ॥

परिणामका लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थः—[**तद्भावः**] जो द्रव्यका स्वभाव (निजभाव, निजतत्त्व) है [**परिणामः**] सो परिणाम है।

टीका

(१) द्रव्य जिस स्वरूपसे होता है तथा जिस स्वरूपसे परिणमता है वह तद्भाव परिणाम है।

(२) **प्रश्नः**-कोई ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—नहीं, गुण और द्रव्य कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है अर्थात् भिन्नाभिन्न है। संज्ञा-संख्या-लक्षण-विषयादि भेदसे भिन्न है वस्तुरूपसे प्रदेशरूपसे अभिन्न है, क्योंकि गुण-द्रव्यका ही परिणाम है।

(३) समस्त द्रव्योंके अनादि और आदिमान परिणाम होता है। प्रवाहरूपसे अनादि परिणाम है। पर्याय उत्पन्न होती है—नष्ट होती इसलिये वह सादि है। धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इन चार द्रव्योंके अनादि तथा आदिमान परिणाम आगमगम्य हैं तथा जीव और पुद्गलके अनादि परिणाम आगमगम्य हैं, किन्तु उसके आदिमान परिणाम कथंचित् प्रत्यक्ष भी हैं।

(४) गुणको सहवर्ती अथवा अक्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है और पर्यायको क्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है।

(५) क्रमवर्ती पर्यायका स्वरूप नियमसार गाथा १४ की टीकामें कहा है "जो सब तरफसे भेदको प्राप्त करे सो पर्याय है।"

द्रव्य-गुण और पर्याय—ये वस्तुके तीन भेद कहे हैं, परन्तु नय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही कहे हैं, तीसरा 'गुणार्थिक' नय नहीं कहा, इसका क्या कारण है ? तथा गुण क्या नयका विषय है ? इसका खुलासा पहले प्रथम अध्यायके सूत्र ६ की टीकामें दिया है।

(४) [illegible]

सूत्र ४१ में जो [illegible] है [illegible] प्रत्येक द्रव्य अपने भावसे परिणमता है [illegible] कि प्रत्येक द्रव्य अपना काम कर सकता है [illegible] नहीं कर सकता [illegible]

उपसंहार

इन पांचवें अध्यायमें [illegible] करते हुए, [illegible] भी यहां बताया गया है। [illegible] साथ लागू होनेके कारण [illegible]

( ) छहों द्रव्योंके [illegible] (२) द्रव्योंकी संख्या और उनके नाम, (३) [illegible] (४) [illegible] (५) [illegible] सिद्धांत और (६) अस्तिकाय।

(१) छहों द्रव्योंको लागू होनेवाला [illegible]

(१) द्रव्यका लक्षण अस्तित्व (होनेरूप-विद्यमान) सत् है (सूत्र २९) (२) विद्यमान- (सत्‌का) का लक्षण यह है कि [illegible] प्रत्येक समयमें जुनी अवस्थाको दूर (व्यय) कर नई अवस्था उत्पन्न करना। (सूत्र ३०) (३) द्रव्य अपने गुण और अवस्था वाला होता है, गुण द्रव्यके आश्रित रहता है और गुणमें गुण नहीं होता। वह निजका जो भाव है उस भावसे परिणमता है (सूत्र ३८, ४१) (४) द्रव्यके निजभावका नाश नहीं होता इसलिये नित्य है और परिणमन करता है इसलिये अनित्य है। (सूत्र ३१, ४२)

(२) द्रव्योंकी संख्या और उनके नाम

(१) जीव अनेक हैं (सूत्र ३), प्रत्येक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं (सूत्र ८) वह लोकाकाशमें ही रहता है (सूत्र १२), जीवके प्रदेश संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं इसलिये लोकके असंख्यातवें भागसे लेकर समस्त लोकके अवगाह रूपसे है (सूत्र १, १५), लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही जीवके प्रदेश हैं। एक जीवके, धर्मद्रव्यके और अधर्मद्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या समान है (सूत्र ८); परन्तु जीवके अवगाह और धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्यके अवगाहमें अन्तर है। धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं जब कि जीवके प्रदेश संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं। (सूत्र १३, १६)

(२) जीवको विकारी अवस्थामें, सुख-दुःख तथा जीवन-मरणमें पुद्गल द्रव्य निमित्त है; जीव द्रव्य भी परस्पर उन कार्योंमें निमित्त होता है। संसारी जीवके संयोग रूपसे कार्मणादि शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास होता है। (सूत्र १९, २०, २१)।

(३) जीव क्रियावान है, उसकी क्रियावती शक्तिकी पर्याय कभी गतिरूप और कभी स्थितिरूप होती है जब गतिरूप होती है तब धर्मद्रव्य और जब स्थितिरूप होती है तब अधर्मद्रव्य निमित्त है। (सूत्र १७)

(४) जीव द्रव्यसे नित्य है, उसकी संख्या एक सदृश रहनेवाली है और वह अरूपी है (सूत्र ४)।

नोटः—छहों द्रव्योंका जो स्वरूप ऊपर नं० (१) में चार पहलुओंसे बतलाया है वही स्वरूप प्रत्येक जीवद्रव्यके लागू होता है। अ० २ सूत्र ८ में जीवका लक्षण उपयोग कहा जा चुका है।

(४) अजीवका स्वरूप

जिनमें ज्ञान नहीं है ऐसे अजीव द्रव्य पांच हैं—१-एक धर्म, २-एक अधर्म, ३-एक आकाश, ४-अनेक पुद्गल तथा ५-असंख्यात कालाणु (सूत्र १, ३९)। अब पाँच उपविभागों द्वारा उन पाँचों द्रव्योंका स्वरूप कहा जाता है।

(अ) धर्मद्रव्य

धर्मद्रव्य एक, अजीव, बहुप्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६) वह नित्य, अवस्थित, अरूपी और हलन-चलन रहित है (सूत्र ४, ७)। इसके लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेश हैं और वह समस्त लोकाकाश में व्याप्त है (सूत्र ८, १३) वह स्वयं हलन-चलन करनेवाले जीव तथा पुद्गलोंको गतिमें निमित्त है (सूत्र १७) उसे अवकाश देनेमें आकाश निमित्त है और परिणमनमें काल निमित्त है (सूत्र १८, २२) अरूपी (सूक्ष्म) होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाशमें एक समान (एक दूसरेको व्याघात पहुँचाये बिना) व्याप्त हो रहे हैं (सूत्र १३)।

(ब) अधर्म द्रव्य

उपरोक्त समस्त बातें अधर्मद्रव्यके भी लागू होती हैं इतनी विशेषता है। कि धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलोंको गतिमें निमित्त है तब अधर्मद्रव्य गमनपूर्वक ठहरे हुये जीव-पुद्गलोंको स्थितिमें निमित्त है।

समय जिस पहलू (अर्थात् धर्म)को ज्ञानमें लिया जावे उसे 'अर्पित' कहा जाता है और उसी समय जो पहलू अर्थात् धर्म ज्ञानमें गौण रहे हों वह 'अनर्पित' कहलाते हैं। इस तरह समस्त स्वरूपकी सिद्धि-प्राप्ति-निश्चित-ज्ञान हो सकता है। उस निखिल पदार्थके ज्ञानको प्रमाण और एक धर्मके ज्ञानको नय कहते हैं, और 'स्यात् अस्ति-नास्ति'के भेदों द्वारा उसी पदार्थके ज्ञानको 'सप्तभंगी'स्वरूप कहा जाता है।

(६) अस्तिकाय

छह द्रव्योंमेंसे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये पांच अस्तिकाय हैं (सूत्र १, २, ३); और काल अस्ति है (सूत्र २, ३९) किंतु काय-बहुप्रदेशी नहीं है (सूत्र १)

(७) जीव और पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि १-२

(१) 'जीव' एक पद है और इसीलिये वह जगत्की किसी वस्तुको-पदार्थको बतलाता है, इसलिये अपनेको यह विचार करना है कि वह क्या है? इसके विचारनेमें अपनेको एक मनुष्यका उदाहरण लेना चाहिये जिससे विचार करनेमें सुगमता हो।

(२) हमने एक मनुष्यको देखा, वहाँ सर्व प्रथम हमारी दृष्टि उसके शरीर पर पड़ेगी तथा यह भी ज्ञात होगा कि वह मनुष्य ज्ञान सहित पदार्थ भी है। ऐसा जो निश्चित किया कि शरीर है वह इन्द्रियोंसे निश्चित किया किंतु उस मनुष्यके ज्ञान है जो निश्चय किया वह इन्द्रियोंसे निश्चित् नहीं किया, क्योंकि अरूपी ज्ञान इन्द्रियगम्य नहीं है किन्तु उस मनुष्यके वचन या शरीरकी चेष्टा परसे निश्चय किया गया है। उनमेंसे इन्द्रियों द्वारा शरीरका निश्चय किया, इस ज्ञानको अपन इन्द्रियजन्य कहते हैं और उस मनुष्यमें ज्ञान होनेका जो निश्चय किया सो अनुमानजन्य ज्ञान है।

(३) इसप्रकार मनुष्यमें हमें दो भेद मालूम हुए—१-इन्द्रियजन्य ज्ञानसे शरीर, २-अनुमानजन्य ज्ञानसे ज्ञान। फिर चाहे किसी मनुष्यके ज्ञान अल्पमात्रामें प्रगट हो या किसीके ज्यादा—विशेष ज्ञान प्रगट हो। हमें यह निश्चय करना चाहिये कि उन दोनों बातोंके जानने पर वे दोनों एक ही पदार्थके गुण हैं या भिन्न भिन्न पदार्थोंके वे गुण हैं?

(४) जिस मनुष्यको हमने देखा उसके सम्बन्धमें निम्न प्रकारसे दृष्टांत दिया जाता है—

(१) उस मनुष्यके हाथमें कुछ लगा और शरीरमेंसे खून निकलने लगा।

(२) उस मनुष्यने रक्त निकलता हुआ जाना और वह रक्त तुरन्त ही बन्द हो जाय तो ठीक, ऐसी तीव्र भावना भायी।

(३) किन्तु उसी समय रक्त ज्यादा निकलने लगा और कई उपाय किये, कन्तु उसके वन्द होनेमें वहुत समय लगा।

(४) रक्त वन्द होनेके वाद हमें जल्दी आराम हो जाय ऐसी उस मनुष्यने निरन्तर भावना करना जारी रखी।

(५) किन्तु भावनाके अनुसार परिणाम निकलनेके वदलेमें वह भाग सड़ता गया।

(६) उस मनुष्यको शरीरमें ममत्वके कारण वहुत दुःख हुआ और उसे उस दुःखका अनुभव भी हुआ।

(७) दूसरे सगे-सम्वन्धियोंने यह जाना कि उस मनुष्यको दुःख होता है, किन्तु वे उस मनुष्यके दुःख-अनुभवका कुछ भी अंश न ले सके।

(८) अंतमें उसने हाथके सड़े हुए भागको कटवाया।

(९) वह हाथ कटा तथापि उस मनुष्यका ज्ञान उतना ही रहा और विशेष अभ्याससे ज्यादा वढ़ गया और वाकी रहा हुआ शरीर वहुत कमजोर होता गया तथा वजनमें भी घटता गया।

(१०) शरीर कमजोर हुआ तथापि उसके ज्ञानाभ्यासके वलसे धैर्य रहा और शांति वढ़ी।

५—हमें यह जानना चाहिये कि ये दस वातें क्या सिद्ध करती हैं। मनुष्यमें विचार शक्ति (Reasoning Faculty) है और वह तो प्रत्येक मनुष्यके अनुभवगम्य है। अव विचार करने पर निम्न सिद्धांत प्रगट होते हैं:—

(१) शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, क्योंकि उस ज्ञान धारण करनेवाली वस्तुने 'खून तत्क्षण ही वन्द हो जाय तो ठीक' इच्छा की तथापि खून वंद नहीं हुआ; इतना ही नहीं किन्तु इच्छासे विरुद्ध शरीरकी और खूनकी अवस्था हुई। यदि शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों एक ही ; ऐसा न हो।

(२) यदि वह दोनों वस्तुयें एक ही होती तो जव ज्ञान करनेवालेने इच्छा की उसी समय खून वन्द हो जाता।

(३) यदि वह दोनों एक ही वस्तु होती तो रक्त तुरन्त ही वन्द हो जाता, इतना ही नहीं किन्तु ऊपर नं० (४-५) में वताये गये माफिक भावना करनेके कारण शरीरका

(१) अनेक रजकणोंके एकमेकरूप होनेपर उनमेंसे नया जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता असत्य है क्योंकि रजकण सदा ज्ञान रहित जड़ हैं इसीलिये ज्ञान रहित कितने भी पदार्थोंका संयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नहीं होता। जैसे अनेक अंधकारोंके एकत्रित करने पर उनमेंसे प्रकाश नहीं होता उसी तरह अजीवमेंसे जीवकी उत्पत्ति नहीं होती।

(२) ऐसी मान्यता असत्य है कि जीवका स्वरूप क्या है वह अपनेको मालूम नहीं होता; क्योंकि ज्ञान क्या नहीं जानता? ज्ञानकी रुचि बढ़ानेपर आत्माका स्वरूप बराबर जाना जा सकता है। इसलिये यह विचारसे गम्य है (Reasoning—दलीलगम्य) है ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

(३) कोई ऐसा मानते हैं कि जीव और शरीर ईश्वरने बनाये, किन्तु यह मान्यता असत्य है, क्योंकि दोनों पदार्थ अनादि-अनन्त हैं, अनादि-अनन्त पदार्थोंका कोई कर्ता हो ही नहीं सकता।

८—उपरोक्त पैरा ४ के पैरेमें जो १० वां उप पैरा दिया है उस परसे यह सिद्ध होता है कि जीव शरीरका कुछ कर सकता है अथवा शरीर जीवका कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता मिथ्या है। इस विषयका सिद्धांत इस अध्यायके सूत्र ४१ की टीकामें भी दिया है।

(८) उपादान-निमित्त संबंधी सिद्धांत

जीव, पुद्गलके अतिरिक्त दूसरे चार द्रव्योंकी सिद्धि करनेसे पहले हमें उपादान-निमित्तके सिद्धांतको और उसकी सिद्धिको समझ लेना आवश्यक है। उपादान अर्थात् वस्तुकी सहज शक्ति-निजशक्ति और निमित्तका अर्थ है संयोगरूप परवस्तु।

इसका दृष्टांत—एक मनुष्यका नाम देवदत्त है; इसका अर्थ है कि देवदत्त स्वयं स्वसे स्व-रूप है किन्तु वह यज्ञदत्त इत्यादि किसी दूसरे पदार्थरूप नहीं है, ऐसा समझनेसे दो पदार्थ भिन्नरूपसे सिद्ध होते हैं, १-देवदत्त स्वयं, २-यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ। देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें दो कारण हुये—(१) देवदत्त स्वयं (२) यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ जो जगत्में सद्भावरूप हैं किन्तु उनका देवदत्तमें अभाव। इन दो कारणोंमें देवदत्तका स्वयंका अस्तित्व निजशक्ति होनेसे मूलकारण अर्थात् उपादानकारण है और जगत्के यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंका अपने-अपनेमें सद्भाव और देवदत्तमें अभाव वह देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें निमित्तकारण है। यदि इस तरह न माना जाये और यज्ञदत्त आदि अन्य किसी पदार्थका देवदत्तमें सद्भाव माना जावे तो वह भी देवदत्त हो जायगा। ऐसा होनेसे देवदत्तकी स्वतंत्र सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी।

पुनश्च, यदि यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंकी सत्ता ही–सद्भाव ही न माने तो देवदत्तका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक मनुष्यको दूसरेसे भिन्न बतानेके लिये उसे देवदत्त कहा; इसलिये देवदत्तकी सत्तारूपमें देवदत्त मूल उपादानकारण और जिससे उसे पृथक् बतलाया वैसे अन्य पदार्थ सो निमित्तकारण है–इससे ऐसा नियम भी सिद्ध हुआ कि निमित्तकारण उपादानके लिये अनुकूल होता है किन्तु प्रतिकूल नहीं होता। देवदत्तके देवदत्तपनेमें परद्रव्य उसके अनुकूल हैं, क्योंकि वे देवदत्त नहीं होते। यदि वे देवदत्तरूपसे हो जायें तो प्रतिकूल हो जायें और ऐसा होनेपर दोनोंका (देवदत्त और परका) नाश हो जाए।

इसतरह दो सिद्धांत निश्चित हुए—(१) प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी जो स्वसे अस्ति है सो उपादानकारण है और परद्रव्य-गुण-पर्यायकी जो उसमें नास्ति है सो निमित्तकारण है; निमित्तकारण तो मात्र आरोपित कारण है, यथार्थ कारण नहीं है; तथा वह उपादान-कारणको कुछ भी नहीं करता। जीवके उपादानमें जिस जातिका भाव हो उस भावको अनुकूलरूप होनेका निमित्तमें आरोप किया जाता है। सामने सत् निमित्त हो तथापि कोई जीव यदि विपरीत भाव करे तो उस जीवके विरुद्धभावमें भी उपस्थित वस्तुको अनुकूल निमित्त बनाया–ऐसा कहा जाता है। जैसे कोई जीव तीर्थंकर भगवानके समवशरणमें गया और दिव्यध्वनिमें वस्तुका जो यथार्थस्वरूप कहा गया वह सुना, परन्तु उस जीवके गलेमें बात नहीं उत्तरी अर्थात् स्वयं समझा नहीं, इसलिये वह विमुख हो गया, तो कहा जाता है कि उस जीवने अपने विपरीत भावके लिये भगवानकी दिव्यध्वनिको अनुकूल निमित्त बनाया।

(६) उपरोक्त सिद्धाँतके आधारसे जीव, पुद्गलके अतिरिक्त चार द्रव्योंकी सिद्धि

दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंमें चार बातें देखनेमें आती हैं; (१) ऐसा देखा जाता है कि वह पदार्थ ऊपर, नीचे, यहाँ, वहाँ है, (२) वही पदार्थ अभी, फिर, जब, तब, तभीसे अभीतक—इसतरह देखा जाता है, (३) वही पदार्थ स्थिर, स्तब्ध, निश्चल इसतरहसे देखा जाता है और (४) वही पदार्थ हिलता–डुलता, चंचल, अस्थिर देखा जाता है। यह चार बातें पदार्थोंको देखनेपर स्पष्ट समझमें आती हैं, तो भी इन विषयों द्वारा पदार्थोंकी किंचित् आकृति नहीं बदलती। उन उन कार्योंका उपादानकारण तो वह प्रत्येक द्रव्य है, किंतु उन चारों प्रकारकी क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी होनेसे उस क्रियाके सूचक निमित्तकारण पृथक् ही होते हैं।

इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखना कि किसी पदार्थमें पहली, दूसरी और तीसरी

अथवा पहली, दूसरी और चौथी कभी एक साथ देखी जाती हैं। किन्तु तीसरी, चौथी और पहली अथवा तीसरी, चौथी और दूसरी यह सब कभी एक साथ नहीं होतीं।

अब हमें एक-एकके बारेमें क्रमशः देखना चाहिये।

५. आकाशकी सिद्धि—१

जगतकी प्रत्येक वस्तुको [illegible] होता है [illegible] लम्बाई-चौड़ाई होती है यानी उसे अपना अवगाहन होता है। यह अवगाहन अपना उपादानकारण हुआ और उसमें निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु होती है।

निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि उसके साथ उपादान वस्तु अवगाहनमें एकरूप न हो जाय। उपादान स्वयं अवगाहनरूप है अर्थात् अवगाहनमें जो परद्रव्य निमित्त है उससे वह विभिन्नरूपमें कायम रहे, अर्थात् परमार्थसे प्रत्येक द्रव्य स्व-स्वके अवगाहनमें ही है।

पुनश्च, वह वस्तु जगतके समस्त पदार्थोंको एक साथ निमित्तकारण चाहिये, क्योंकि जगतके समस्त पदार्थ अनादि हैं और सभीके अपना-अपना क्षेत्र है, वह उसका अवगाहन है। अवगाहनमें निमित्त होनेवाली वस्तु समस्त अवगाहन लेनेवाले द्रव्योंसे बड़ी चाहिये। जगतमें ऐसी एक वस्तु अवगाहनमें निमित्तकारणरूप है, उसे 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है।

और फिर जगतमें सूक्ष्म, स्थूल ऐसे दो प्रकारके तथा रूपी और अरूपी ऐसे दो प्रकारके पदार्थ हैं। उन उपादानरूप पदार्थोंके निमित्तरूपसे अनुकूल कोई परद्रव्य होना चाहिये और उसका उपादानमें अभाव चाहिये; और फिर अबाधित अवगाहन देनेवाला पदार्थ अरूपी ही हो सकता है। इस तरह आकाश एक, सर्व व्यापक, सबसे बड़ा, अरूपी और अनादि द्रव्यरूप सिद्ध होता है।

यदि आकाश द्रव्यको न माना जावे तो द्रव्यमें स्व क्षेत्रत्व नहीं रहेगा और ऊपर-नीचे-यहां-वहां ऐसा निमित्तका ज्ञान करानेवाला स्थान नहीं रहेगा। अल्पज्ञानवाले मनुष्यको निमित्त द्वारा ज्ञान कराये बिना वह उपादान और निमित्त दोनोंका यथार्थ ज्ञान नहीं कर सकता, इतना ही नहीं किन्तु यदि उपादानको न मानें तो निमित्तको भी नहीं मान सकेंगे और निमित्तको न मानें तो वह उपादानको नहीं मान सकेंगे। दोनोंको यथार्थ रूपसे माने बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस तरह उपादान और निमित्त दोनोंको शून्यरूपसे अर्थात् नही होने रूपसे मानना पड़ेगा और इस तरह समस्त पदार्थोंको शून्यत्व प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा बन ही नहीं सकता।

ब. कालकी सिद्धि—४

द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था रूपसे होता है, उसे वर्तना कहते हैं। इस वर्तनामें उस वस्तुकी निज शक्ति उपादानकारण है, क्योंकि यदि निजमें वह शक्ति न हो तो स्वयं न परिणमे। पहिले यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्यके लिये दो कारण स्वतंत्र रूपसे होते हैं; इसीलिये निमित्तकारण संयोगरूपसे होना चाहिये। अतः उस वर्तनामें निमित्तकारण एक वस्तु है उस वस्तुको 'काल द्रव्य' कहा जाता है और फिर निमित्त अनुकूल होता है। सबसे छोटा द्रव्य एक रजकण है, इसलिये उसे निमित्तकारण भी एक रजकण बराबर चाहिये। अतः यह सिद्ध हुआ कि कालाणु एकप्रदेशी है।

प्रश्नः—यदि काल द्रव्यको अणुप्रमाण न मानें और बड़ा मानें तो क्या दोष लगेगा?

उत्तरः—उस अणुके परिणमन होनेमें छोटेसे छोटा समय न लगकर अधिक समय लगेगा और परिणमन शक्तिके अधिक समय लगेगा तो निज-शक्ति न कहलायेगी। पुनश्च अल्पसे अल्प काल एक समय जितना न होनेसे काल द्रव्य बड़ा हो तो उसकी पर्याय बड़ी होगी। इस तरह दो समय, दो घंटे, क्रमशः न होकर एक साथ होंगे जो बन नहीं सकते। एक-एक समय करके कालको बड़ा मानें तो ठीक है किन्तु एक साथ लम्बा काल (अधिक समय) नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो किसी भी समयकी गिनती न हो सके।

प्रश्नः—यह सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य एकप्रदेशी है उससे बड़ा नहीं, परन्तु ऐसा किसलिये मानना कि कालाणु समस्त लोकमें हैं?

उत्तरः—जगतमें आकाशके एक-एक प्रदेश पर अनेक पुद्गल परमाणु और उतने ही क्षेत्रको रोकनेवाले सूक्ष्म अनेक पुद्गल स्कंध हैं और उनके परिणमनमें निमित्तकारण प्रत्येक आकाशके प्रदेशमें एक-एक कालाणु होना सिद्ध होता है।

प्रश्नः—एक आकाशके प्रदेशमें अधिक कालाणु स्कंधरूप माननेमें क्या विरोध आता है?

उत्तरः—जिसमें स्पर्श गुण हो उसीमें स्कंधरूप बन्ध होता है और वह तो पुद्गल द्रव्य है। कालाणु पुद्गल द्रव्य नहीं, अरूपी है; इसलिये उसका स्कन्ध ही नहीं होता।

क. अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकायकी सिद्धि ५–६

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें क्रियावतीशक्ति होनेसे उनके हलन-चलन होता है, किन्तु वह हलन-चलन रूप क्रिया निरन्तर नहीं होती। वे किसी समय स्थिर होते

और किसी समय गतिरूप होते हैं; क्योंकि स्थिरता या हलन-चलनरूप क्रिया गुण नहीं है किन्तु क्रियावती शक्तिकी पर्याय है। उस क्रियावती शक्तिकी स्थिरतारूप परिणमनका मूल-कारण द्रव्य स्वयं है, उसका निमित्तकारण उससे अन्य चाहिये। यह पहले बताया गया है कि जगतमें निमित्तकारण होता ही है। इसीलिये जो स्थिरतारूप परिणमनका निमित्तकारण है उस द्रव्यको अधर्मद्रव्य कहते हैं। क्रियावती शक्तिके हलन-चलनरूप परिणमनका मूलकारण द्रव्य स्वयं है और हलन-चलनमें जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। हलन-चलनका निमित्तकारण अधर्मद्रव्यसे विपरीत चाहिये और वह धर्मद्रव्य है।

(१०) इन छह द्रव्योंके एक ही जगह होनेकी सिद्धि

हमने पहले जीव-पुद्गलकी सिद्धि करनेमें मनुष्यका दृष्टान्त लिया था उस परसे यह सिद्धि सरल होगी।

(१) जीव ज्ञानगुण धारक पदार्थ है।

(२) यह शरीर यह सिद्ध करता है कि शरीर संयोगी, जड़, रूपी पदार्थ है; यह भी उसी जगह है; इसका मूल अनादि-अनन्त पुद्गल द्रव्य है।

(३) वह मनुष्य आकाशके किसी भागमें हमेशा होता है, इसीलिये उसी स्थान पर आकाश भी है।

(४) उस मनुष्यकी एक अवस्था दूर होकर दूसरी अवस्था होती है। इस अपेक्षासे उसी स्थानपर काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

(५) उस मनुष्यके जीवके असंख्यात प्रदेशमें समय समय पर एक क्षेत्रावगाह रूपसे नोकर्म वर्गणाएँ और नवीन-नवीन कर्म बँधकर वहां स्थिर होते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर अधर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

(६) उस मनुष्यके जीवके असंख्यात प्रदेशके साथ प्रतिसमय अनेक परमाणु आते जाते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर धर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

इस तरह छहों द्रव्योंका एक क्षेत्रमें अस्तित्व सिद्ध हुआ।

(११) अन्य प्रकारसे छह द्रव्योंके अस्तित्वकी सिद्धि

१-२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य

जो स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं ऐसे शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकड़ी इत्यादिमें ज्ञान नहीं है अर्थात् वे अजीव हैं; इन पदार्थोंको तो अज्ञानी भी देखता है। उन पदार्थोंमें

वृद्धि-ह्रास होता रहता है अर्थात् वे मिल जाते हैं और बिछुड़ जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंको पुद्गल कहा जाता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्यके गुण हैं; इसीलिये पुद्गल द्रव्य काला-सफेद, सुगन्ध-दुर्गन्ध, खट्टा-मीठा, हलका-भारी, इत्यादि रूपसे जाना जाता है, यह सब पुद्गलकी ही अवस्थायें हैं। जीव तो काला-सफेद, सुगन्धित-दुर्गन्धित, इत्यादि रूपसे नहीं है; जीव तो ज्ञानवाला है। शब्द सुनाई देता है या बोला जाता है वह भी पुद्गलकी ही हालत है। उन पुद्गलोंसे जीव अलग है। जगतमें किसी अचेत मनुष्यको देखकर कहा जाता है कि इसका चेतन कहां चला गया? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है, वह तो जानता नहीं, किंतु जाननेवाला ज्ञान कहां चला गया? अर्थात् जीव कहां गया? इसमें जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंकी सिद्धि हुई।

३—आकाशद्रव्य

लोग अव्यक्तरूपसे यह तो स्वीकार करते हैं कि 'आकाश' नामका द्रव्य है। दस्तावेजोंमें ऐसा लिखते हैं कि "अमुक मकान इत्यादि स्थानका आकाशसे पाताल पर्यन्त हमारा हक है" अर्थात् यह निश्चय हुआ कि आकाशसे पातालरूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाशसे पाताल पर्यन्त कोई वस्तु ही न हो तो ऐसा क्यों लिखा जाता है कि 'आकाशसे पाताल तकका हक (-दावा) है? वस्तु है इसलिये उसका हक माना जाता है। आकाशसे पाताल तक अर्थात् सर्वव्यापी रही हुई वस्तुको 'आकाश द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञान रहित और अरूपी है, उसमें रङ्ग, रस वगैरह नहीं हैं।

४—कालद्रव्य

जीव, पुद्गल और आकाश द्रव्यको सिद्ध किया; अब यह सिद्ध किया जाता है कि 'काल' नामकी एक वस्तु है। लोग दस्तावेज कराते और उसमें लिखाते हैं कि "यावत् चन्द्रदिवाकरौ जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तब तक हमारा हक है।" इसमें काल द्रव्यको स्वीकार किया। इसी समय ही हक है ऐसा नहीं किन्तु काल जैसा बढ़ता जाता है उस समस्त कालमें हमारा हक है; इसप्रकार कालको स्वीकार करता है। "हमारा वैभव भविष्यमें ऐसा ही बना रहे"—इस भावनामें भी भविष्यत कालको भी स्वीकार किया, और फिर ऐसा कहते हैं कि 'हम तो सात पैढ़ीसे सुखी हैं, वहां भी भूतकाल स्वीकार करता है। भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल ये समस्त भेद निश्चय कालद्रव्यकी व्यवहार पर्यायके हैं। यह काल द्रव्य भी अरूपी है और उसमें ज्ञान नहीं है।

इस तरह जीव, पुद्गल, आकाश और काल द्रव्यकी सिद्धि हुई। अब धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य शेष रहे।

५—धर्मद्रव्य

जीव इस धर्म द्रव्यको भी अव्यक्तरूपसे स्वीकार करता है। छहों द्रव्योंके अस्तित्वको स्वीकार किये विना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आना, जाना, रहना इत्यादि सभीमें छहों द्रव्योंकी अस्ति सिद्ध हो जाती है। चार द्रव्य तो सिद्ध हो चुके हैं अब बाकीके दो द्रव्य सिद्ध करना हैं। यह कहनेमें धर्म द्रव्य सिद्ध हो जाता है कि 'एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया।' एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया इसका क्या अर्थ है? यानि जीव और शरीरके परमाणुओंकी गति हुई, एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलनेके कार्यमें किस द्रव्यको निमित्त कहेंगे? क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त-कारण होते ही हैं। यह विचार करते हैं कि जीव और पुद्गलोंको एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आनेमें निमित्त कौनसा द्रव्य है? प्रथम तो 'जीव और पुद्गल ये उपादान हैं' उपादान स्वयं निमित्त नहीं कहलाता। निमित्त तो उपादानसे भिन्न होता है, इसलिये जीव या पुद्गल ये क्षेत्रांतरके निमित्त नहीं। कालद्रव्य तो परिणमनमें निमित्त है अर्थात् पर्याय बदलनेमें निमित्त है किंतु कालद्रव्य क्षेत्रांतरका निमित्त नहीं है; आकाश द्रव्य समस्त द्रव्योंको रहनेके लिये स्थान देता है। जब ये पहले क्षेत्रमें थे तब भी जीव और पुद्गलोंको आकाश निमित्त था और दूसरे क्षेत्रमें भी वही निमित्त है, इसलिये आकाशको भी क्षेत्रांतरका निमित्त नहीं कह सकते। तो फिर यह निश्चित होता है कि क्षेत्रांतररूप जो कार्य हुआ उसका निमित्त इन चार द्रव्योंके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करनेमें कोई एक द्रव्य निमित्तरूपसे है किन्तु वह कौनसा द्रव्य है इसका जीवने कभी विचार नहीं किया, इसीलिये उसकी खबर नहीं है। क्षेत्रांतर होनेमें निमित्तरूप जो द्रव्य है उस द्रव्यको 'धर्मद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

६—अधर्मद्रव्य

जिस तरह गति करनेमें धर्म द्रव्य निमित्त है उसी तरह स्थितिमें उससे विरुद्ध अधर्म-द्रव्य निमित्तरूप है। "एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें आकर स्थिर रहा" यहां स्थिर रहनेमें निमित्त कौन है? आकाश स्थिर रहनेमें निमित्त नहीं है; क्योंकि आकाशका निमित्त तो रहनेके लिये है, गतिके समय भी रहनेमें आकाश निमित्त था, इसीलिये स्थितिका निमित्त कोई अन्य द्रव्य चाहिये, वह द्रव्य 'अधर्म द्रव्य' है। यह भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

इसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंकी सिद्धि हुई। इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य है ही नहीं, और इन छहमेंसे एक भी न्यून

नहीं है, बराबर छह ही द्रव्य हैं और ऐसा माननेसे ही यथार्थ वस्तुकी सिद्धि होती है। यदि इन छहके अतिरिक्त सातवां कोई द्रव्य हो तो यह बताओ कि उसका क्या कार्य है? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इन छहसे बाहर हो, इसलिये सातवां द्रव्य नहीं है। यदि इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी कम हो तो यह बताओ कि उसका कार्य कौन करेगा? छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य ऐसा नहीं कि जिसके बिना विश्वका नियम चल सके।

छह द्रव्य संबंधी कुछ जानकारी

१—जीव-इस जगतमें अनन्त जीव हैं। ज्ञातृत्व चिह्नके (विशेष गुणके) द्वारा जीव पहचाना जाता है। क्योंकि जीवके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमें ज्ञातृत्व नहीं है। जीव अनन्त हैं, वे सभी एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं। सदैव जाननेवाले हैं।

२—पुद्गल-इस जगतमें अनन्तानन्त पुद्गल हैं। वह अचेतन हैं। स्पर्श, रस, गंध और वर्णके द्वारा पुद्गल पहचाना जाता है, क्योंकि पुद्गल के सिवाय अन्य किसी पदार्थमें स्पर्श, रस, गन्ध या वर्ण नहीं है। जो इन्द्रियोंके द्वारा जाने जाते हैं वे सब पुद्गलके बने हुए स्कन्ध हैं।

३—धर्म-यहां धर्म कहनेसे आत्माका धर्म नहीं; किन्तु 'धर्म' नामका द्रव्य समझना चाहिये। यह द्रव्य एक अखण्ड और समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गलोंके गमन करते समय यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है।

४—अधर्म-यहां अधर्म कहनेसे आत्माका दोष नहीं किन्तु अधर्म नामका द्रव्य समझना चाहिये। यह एक अखण्ड द्रव्य है जो समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गल गमन करके जब स्थिर होते हैं तब यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है।

५—आकाश-यह एक अखण्ड सर्वव्यापक द्रव्य है। समस्त पदार्थोंको स्थान देनेमें यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है। इस द्रव्यके जितने भागमें अन्य पांचों द्रव्य रहते हैं उतने भागको 'लोकाकाश' कहा जाता है और जितना भाग अन्य पांचों द्रव्योंसे रिक्त है उसे 'अलोकाकाश' कहा जाता है। खाली स्थानका अर्थ होता है 'अकेला आकाश'।

६—काल-असंख्य काल द्रव्य हैं। इस लोकके असंख्य प्रदेश हैं; उस प्रत्येक प्रदेशपर एक एक काल द्रव्य रहा हुआ है। असंख्य कालाणु हैं वे सब एक दूसरे से अलग हैं। वस्तुके रूपान्तर (परिवर्तन) होनेमें यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाने जाते हैं। [जीवद्रव्यके अतिरिक्त यह पांचों द्रव्य सदा अचेतन हैं, उनमें ज्ञान, सुख या दुःख कभी नहीं है।]

इन छह द्रव्योंको सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य कोई भी यथार्थ नहीं जान सकता। सर्वज्ञदेवने ही इन छह द्रव्योंको जाना है और उन्होंने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है; इसीलिये सर्वज्ञके सत्यमार्गके अतिरिक्त अन्य किसी मतमें छह द्रव्योंका स्वरूप हो ही नहीं सकता; क्योंकि दूसरे अपूर्ण (अल्पज्ञ) जीव उन द्रव्योंको नहीं जान सकते; इसलिये छह द्रव्योंके स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करना चाहिये।

टोपीके दृष्टान्तसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१) देखो, यह कपड़ेकी टोपी है, यह अनन्त परमाणुओंसे मिलकर बनी है और इसके फट जानेपर परमाणु अलग हो जाते हैं। इसतरह मिलना और बिछुड़ना पुद्गलका स्वभाव है। पुनश्च यह टोपी सफेद है, दूसरी कोई काली, लाल आदि रंगकी भी टोपी होती हैं; रंग पुद्गल द्रव्यका चिह्न है, इसलिये जो दृष्टिगोचर होता है वह पुद्गल द्रव्य है।

(२) 'यह टोपी है पुस्तक नहीं' ऐसा जानने वाला ज्ञान है और ज्ञान जीवका चिह्न है, अतः जीव भी सिद्ध हुआ।

(३) अब यह विचारना चाहिये कि टोपी कहां रही हुई है ? यद्यपि निश्चयसे तो टोपी टोपीमें ही है, किन्तु टोपी टोपीमें ही है यह कहनेसे टोपीका बराबर ख्याल नहीं आ सकता, इसलिये निमित्तरूपसे यह पहचान कराई जाती है कि "अमुक स्थानमें टोपी रही हुई है।" जो स्थान कहा जाता है वह आकाश द्रव्यका अमुक भाग है, अतः आकाश-द्रव्य सिद्ध हुआ।

(४) अब यह टोपी दुहरी मुड़ जाती है, जब टोपी सीधी थी तब आकाशमें थी और जब मुड़ गई तब भी आकाशमें ही है, अतः आकाशके निमित्त द्वारा टोपीका दुहरापन नहीं जाना जा सकता। तो फिर टोपीकी दुहरे होनेकी क्रिया हुई अर्थात् पहले उसका क्षेत्र लम्बा था, अब वह थोड़े क्षेत्रमें रही हुई है—इस तरह टोपी क्षेत्रांतर हुई है और क्षेत्रांतर होनेमें जो वस्तु निमित्त है वह धर्मद्रव्य है।

(५) अब टोपी टेढ़ी मेढ़ी स्थिर पड़ी है। तो यहां स्थिर होनेमें उसे निमित्त कौन है ? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान देनेमें निमित्त है। टोपी चले या स्थिर रहे इसमें आकाशका निमित्त नहीं है। जब टोपीने सीधी दशामेंसे टेढ़ी अवस्थारूप होनेके लिये गमन किया तब धर्मद्रव्यका निमित्त था; तो अब स्थिर रहनेकी क्रियामें उसके विरुद्ध निमित्त चाहिए। गतिमें धर्मद्रव्य निमित्त था तो अब स्थिर रहनेमें अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है।

(६) टोपी पहले सीधी थी इस समय टेढ़ी है और वह अमुक समय तक रहेगी—

ऐसा जाना, वहाँ 'काल' सिद्ध हो गया। भूत, वर्तमान, भविष्य अथवा पुराना-नया, दिवस घंटा इत्यादि जो भेद होतें हैं वे भेद किसी एक मूल वस्तुके विना नहीं हो सकते, अतः भेद-पर्यायरूप व्यवहारकालका आधार-कारण-निश्चय कालद्रव्य सिद्ध हुआ। इसतरह टोपी परसे छह द्रव्य सिद्ध हुए।

इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य न हो तो जगत्का व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल न हो तो टोपी ही न हो। यदि जीव न हो तो टोपीके अस्तित्वका निश्चय कौन करे? यदि आकाश न हो तो यह पहचान नहीं हो सकती कि टोपी कहाँ है? यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न हों तो टोपीमें हुआ फेरफार (क्षेत्रांतर और स्थिरता) मालूम नहीं हो सकता और यदि कालद्रव्य न हो तो पहले जो टोपी सीधी थी वह इस समय टेढ़ी है, ऐसा पहले और पीछे टोपीका अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता, अतः टोपीको सिद्ध करनेके लिये छहों द्रव्योंको स्वीकार करना पड़ता है। जगतकी किसी भी एक वस्तुको स्वीकार करनेसे व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे छहों द्रव्योंका स्वीकार हो जाता है।

मनुष्य-शरीरके दृष्टाँतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१-२) यह शरीर जो दृष्टिगोचर होता है; यह पुद्गलका बना हुआ है और शरीरमें जीव रहा हुआ है। यद्यपि जीव और पुद्गल एक आकाशकी जगहमें रहते हैं तथापि दोनों पृथक् हैं। जीवका स्वभाव जाननेका है और पुद्गलका यह शरीर कुछ जानता नहीं। शरीरका कोई भाग कट जाने पर भी जीवका ज्ञान नहीं कट जाता, जीव पूर्ण ही रहता है, क्योंकि शरीर और जीव सदा पृथक् ही हैं। दोनोंका स्वरूप पृथक् है और दोनोंका काम पृथक् ही है। यह जीव और पुद्गल तो स्पष्ट हैं। (३) जीव और शरीर कहाँ रह रहे हैं? अमुक ठिकाने, पांच फुट जगहमें, दो फुट जगहमें रह रहे हैं, अतः 'जगह' कहनेसे आकाश द्रव्य सिद्ध हुआ।

यह ध्यान रहे कि यह जो कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाशमें रहे हुये हैं वहाँ यथार्थमें जीव, शरीर और आकाश तीनों स्वतंत्र पृथक्-पृथक् ही हैं, कोई एक दूसरेके स्वरूपमें नहीं घुस गया। जीवतो ज्ञानत्व स्वरूपसे ही रहा है, रंग, गंध इत्यादि शरीरमें ही हैं, वे जीव या आकाश आदि किसीमें नहीं हैं, आकाशमें वर्ण-गंध इत्यादि नहीं है तथा ज्ञान भी नहीं, वह अरूपी-अचेतन है; जीवमें ज्ञान है किन्तु वर्ण-गंध इत्यादि नहीं, अर्थात् वह अरूपी चेतन है पुद्गलमें वर्ण-गंध इत्यादि है किन्तु ज्ञान नहीं अर्थात् वह रूपी-अचेतन है। इसतरह तीनों द्रव्य एक दूसरेसे भिन्न-स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र होनेसे

कोई दूसरी वस्तु किसीका कुछ कर नहीं सकती, यदि एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ कुछ करता हो तो वस्तुको स्वतन्त्र कैसे कहा जायगा ?

(४) जीव, पुद्गल और आकाश निश्चित् किये, अब कालका निश्चय करते हैं। ऐसा पूछा जाता है कि "तुम्हारी आयु कितनी है ?" (यहाँ 'तुम्हारी' अर्थात् शरीरके संयोगरूप आयुकी बात समझना) शरीरकी उम्र ४०–५० वर्ष आदिकी कही जाती है और जीव अनादि अनन्त अस्तिरूपसे है। यह कहा जाता है कि यह मेरी अपेक्षा पाँच वर्ष छोटा है, यह पाँच वर्ष बड़ा है, यहाँ शरीरके कदसे छोटे–बड़ेपनकी बात नहीं है किन्तु कालकी अपेक्षासे छोटे–बड़ेपनकी बात है। यदि कालद्रव्यकी अपेक्षा न लें तो यह नहीं कह सकते कि यह छोटा, यह बड़ा, यह बालक, यह युवा या वह वृद्ध है। पुरानी नई अवस्था बदलती रहती है इसी परसे कालद्रव्यका अस्तित्व निश्चित होता है ॥ ४ ॥

कहीं जीव और शरीर स्थिर होता है और कहीं गति करता है। स्थिर होते समय तथा गमन करते समय दोनों समय वह आकाशमें ही है, अर्थात् आकाश परसे उसका गमन या स्थिर रहनेरूप निश्चित नहीं हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहनेरूप दशा इन दोनोंकी पृथक्-पृथक् पहचान करनेके लिये उन दोनों दशामें भिन्न-भिन्न निमित्तरूप ऐसे दो द्रव्योंको पहचानना होगा। धर्मद्रव्यके निमित्त द्वारा जीव पुद्गलका गमन पहचाना जा सकता है और अधर्मद्रव्यके निमित्त द्वारा स्थिरता पहचानी जा सकती है। यदि ये धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो गमन और स्थिरताके भेदको नहीं जाना जा सकता।

यद्यपि धर्म-अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलको कहीं गति या स्थिति करनेमें मदद नहीं करते हैं, परन्तु एक द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यकी अपेक्षाके बिना पहचाना नहीं जा सकता। जीवके भावको पहचाननेके लिये अजीवकी अपेक्षा की जाती है। जो जाने सो जीव-ऐसा कहनेसे ही "ज्ञानत्वसे रहित जो अन्य द्रव्य हैं वे जीव नहीं हैं" इसप्रकार अजीवकी अपेक्षा आ जाती है व ऐसा बताने पर आकाशकी अपेक्षा हो जाती है कि 'जीव अमुक जगह है'। इसप्रकार छहों द्रव्योंमें समझ लेना। एक आत्मद्रव्यका निर्णय करनेपर छहों द्रव्य मालूम होते हैं; यह ज्ञानकी विशालता है और इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वद्रव्योंको जान लेनेका ज्ञानका स्वभाव है। एक द्रव्यको सिद्ध करनेसे छहों द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं; इसमें द्रव्यकी पराधीनता नहीं है; परन्तु ज्ञानकी महिमा है। जो पदार्थ होता है वह ज्ञानमें अवश्य जाना जाता है। पूर्ण ज्ञानमें जितना जाना जाता है इस जगतमें उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। पूर्ण ज्ञानने छह द्रव्य बतलाये हैं, छह द्रव्यसे अधिक अन्य कुछ नहीं है।

कर्मोंके कथनसे छहों द्रव्योंकी सिद्धि

कर्म पुद्गलकी अवस्था है; जीवके विकारी भावके निमित्तसे वह जीवके साथ रहे हुये हैं; कितनेक कर्म बन्धरूपसे स्थिर हुए हैं उनको अधर्मास्तिकायका निमित्त है; प्रतिक्षण कर्म उदयमें आकर झड़ जाते हैं; झड़ जानेमें क्षेत्रांतर भी होता है, उसे धर्मास्तिकायका निमित्त है। यह कहा जाता है कि कर्मकी स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर और कमसे कम अन्तर्मुहूर्तकी है, इसमें कालद्रव्यकी अपेक्षा हो जाती है; बहुतसे कर्म-परमाणु एक क्षेत्रमें रहते हैं, इसमें आकाशद्रव्यकी अपेक्षा है। इस तरह छह द्रव्य सिद्ध हुए।

द्रव्योंकी स्वतन्त्रता

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य (-कर्म) दोनों एकदम पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं और दोनों अपने अपनेमें स्वतन्त्र हैं, कोई एक-दूसरेका कुछ भी नहीं करते। यदि जीव और कर्म एक हो जाँय तो इस जगत्‌में छह द्रव्य ही नहीं रह सकते। जीव और कर्म सदा पृथक् ही हैं। द्रव्योंका स्वभाव अपने अमर्यादित अनन्त गुणोंमें अनादि अनन्त रहकर प्रतिसमय बदलनेका है। सभी द्रव्य अपनी शक्तिसे स्वतन्त्ररूपसे अनादि अनन्त रहकर स्वयं अपनी अवस्था बदलते हैं। जीवकी अवस्था जीव बदलता है, पुद्गलकी हालत पुद्गल बदलता है। पुद्गलका जीव कुछ नहीं करता और न पुद्गल जीवका कुछ करता है। व्यवहारसे भी किसीका परद्रव्यमें कर्तापना नहीं है। घीका घड़के समान व्यवहारसे कर्तापनेका कथन होता है जो सत्यार्थ नहीं है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव

द्रव्यका और द्रव्यकी अवस्थाओंका कोई कर्ता नहीं है। यदि कोई कर्ता हो तो उसने द्रव्योंको किस तरह बनाया? किसमेंसे बनाया? वह कर्ता स्वयं किसका बना? जगत्‌में छहों द्रव्य स्व-स्वभावसे ही हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही नहीं होती। किसी भी प्रयोगसे नये जीवकी या नये परमाणुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; किन्तु जैसा पदार्थ हो वैसा ही रहकर उनमें अपनी अवस्थाओंका रूपांतर होता है। यदि द्रव्य हो तो उसका नाश नहीं होता, जो द्रव्य नहीं वह उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य होता है वह स्वशक्तिसे प्रतिक्षण अपनी अवस्था बदलता ही रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धांतको उत्पाद-व्यय-ध्रुव अर्थात् नित्य रहकर बदलना कहा जाता है।

द्रव्य कोई बनानेवाला नहीं है इसलिये सातवां कोई नया द्रव्य नहीं हो सकता, और

किसी द्रव्यका कोई नाश करनेवाला नहीं है इसलिये इन द्रव्योंमें कभी कमी नहीं होती। शाश्वतरूपसे छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवानने संपूर्ण ज्ञानके द्वारा छह द्रव्य जाने और उनका उपदेशमें दिव्यध्वनि द्वारा निरूपित किये। सर्वज्ञ वीतरागदेव प्रणीत परम सत्यमार्गके अतिरिक्त इन छह द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

द्रव्यकी शक्ति (गुण)

द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति (निज. विशेष गुण) पहले संक्षिप्त रूपमें कही जा चुकी है, एक द्रव्यकी जो विशिष्ट शक्ति है वह अन्य द्रव्यमें नहीं होती। इसीलिये विशिष्ट शक्तिके द्वारा द्रव्यको पहचाना जा सकता है। जैसे कि ज्ञान जीव द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति है। जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें ज्ञान नहीं है, इसीलिए ज्ञानशक्तिके द्वारा जीव पहचाना जा सकता है।

यहाँ अब द्रव्योंकी सामान्य शक्ति सम्बन्धी कुछ कथन किये जाते हैं। जो शक्ति सभी द्रव्योंमें हो उसे सामान्य शक्ति कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये मुख्य सामान्य ६ गुण हैं, ये सभी द्रव्योंमें हैं।

१—अस्तित्वगुणके कारण द्रव्यके अस्तित्वका कभी नाश नहीं होता। ऐसा नहीं है कि द्रव्य अमुक कालके लिये है और फिर नष्ट हो जाता है; द्रव्य नित्य कायम रहनेवाले हैं। यदि अस्तित्व गुण न हो तो वस्तु ही नहीं हो सकती और वस्तु ही न हो तो समझाना किसको ?

२—वस्तुत्व गुणके कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। जैसे घड़ा पानीको धारण करता है उसी तरह द्रव्य स्वयं ही अपने गुण-पर्यायोंका प्रयोजनभूत कार्य करता है। एक द्रव्य किसी प्रकार किसी दूसरेका कार्य नहीं करता और न कर सकता है।

३—द्रव्यत्वगुणके कारण द्रव्य निरन्तर एक अवस्थामेंसे दूसरी अवस्थामें द्रवा करता है—परिणमन किया करता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तित्वरूप है तथापि वह सदा एक सदृश (कूटस्थ) नहीं है; परन्तु निरन्तर नित्य बदलनेवाला-परिणामी है। यदि द्रव्यमें परिणमन न हो तो जीवके संसारदशाका नाश होकर मोक्षदशाकी उत्पत्ति कैसे हो ? शरीरकी बाल्यदशामेंसे युवकदशा कैसे हो ? छहों द्रव्योंमें द्रव्यत्व शक्ति होनेसे सभी स्वतन्त्ररूपसे अपनी अपनी पर्यायमें परिणम रहे हैं; कोई द्रव्य अपनी पर्याय परिणमानेके लिये दूसरे द्रव्यकी सहायता या अपेक्षा नहीं रखता है।

४—प्रमेयत्वगुणके कारण द्रव्य ज्ञात होते हैं। छहों द्रव्योंमें इस प्रमेयशक्तिके होनेसे ज्ञान छहों द्रव्यके स्वरूपका निर्णय कर सकता है। यदि वस्तुमें प्रमेयत्व गुण न हो तो वह

स्वयंको किस तरह बतला सकता है कि 'यह वस्तु है'। जगतका कोई पदार्थ ज्ञान-अगोचर नहीं है; आत्मामें प्रमेयत्व गुण होनेसे आत्मा स्वयं निजको जान सकता है।

५—अगुरुलघुत्व गुणके कारण प्रत्येक वस्तु निज निज स्वरूपसे ही कायम रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणुरूप नहीं हो जाता, परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नहीं हो जाता, जड़ सदा जड़रूपसे और चेतन सदा चेतनरूपसे ही रहता है। ज्ञानका विकास विकार-दशामें चाहे जितना स्वल्प हो तथापि जीवद्रव्य बिलकुल ज्ञानशून्य हो जाय ऐसा कभी नहीं होता। इस शक्तिके कारण द्रव्यका एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे तथा एक द्रव्यके अनेक या-अनन्त गुण अलग-अलग नहीं हो जाते, तथा कोई दो पदार्थ एक रूप होकर तीसरा नई तरहका पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वस्तुका स्वरूप अन्यथा कदापि नहीं होता।

६—प्रदेशत्व गुणके कारण प्रत्येक द्रव्यके अपना अपना आकार अवश्य होता है। प्रत्येक अपने अपने स्वाकारमें ही रहता है। सिद्धदशा होने पर एक जीव दूसरे जीवमें नहीं मिल जाता किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकारमें स्वतन्त्र रूपसे कायम रहता है।

ये छह सामान्यगुण मुख्य हैं, इनके अतिरिक्त भी दूसरे सामान्य गुण हैं। इस तरह गुणों द्वारा द्रव्यका स्वरूप विशेष स्पष्टतासे जाना जा सकता है।

छह कारक (-कारण) [लघु जैन सि० प्रवेशिकासे]

(१) **कर्त्ता**:—जो स्वतन्त्रतासे (-स्वाधीनतासे) अपने परिणामको करे सो कर्त्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनेमें स्वतन्त्र व्यापक होनेसे अपने ही परिणामोंका कर्त्ता है।

(२) **कर्म (-कार्य)**:—कर्ता जिस परिणामको प्राप्त करता है वह परिणाम उसका कर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्य लक्षणवाला प्रत्येक द्रव्यका परिणामरूप कर्म होता है। [उस कर्म (-कार्य)में प्रत्येक द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ, और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस परिणामका कर्ता है।]

(३) **करण**:—उस परिणामका साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधनको करण कहते हैं।

(४) **संप्रदान**:—कर्म (-परिणाम-कार्य) जिसे दिया जाय या जिसके लिये किया जाता है उसे संप्रदान कहते हैं।

(५) **अपादान**:—जिसमेंसे कर्म किया जाता है उस ध्रुव वस्तुको अपादान कहते हैं।

(६) **अधिकरण**:—जिसमें या जिसके आधारसे कर्म किया जाता है उसे अधिकरण कहते हैं।

सर्व द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायमें यह छहों कारक एक साथ होते हैं, इसलिये आत्मा और पुद्गल शुद्धदशामें या अशुद्धदशामें स्वयं ही छहों कारकरूप परिणमन करते हैं और दूसरे किसी कारकों (-कारणों) की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

(पंचास्तिकाय गाथा ६२ सं० टीका)

प्रश्न—कार्य कैसे होता है ?

उत्तरः—'कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां' कारणानुविधायीनि कार्याणि'—कारण जैसे ही कार्य होनेसे कारण जैसा ही कार्य होता है। कार्यको—क्रिया, कर्म, अवस्था, पर्याय, हालत, दशा, परिणाम, परिणमन और परिणति भी कहते हैं [यहाँ कारणको उपादानकारण समझना क्योंकि उपादान कारण ही सच्चा कारण है]

प्रश्नः—कारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—कार्यकी उत्पादक सामग्रीको कारण कहते हैं।

प्रश्नः—उत्पादक सामग्रीके कितने भेद हैं ?

उत्तरः—दो हैं:—उपादान और निमित्त। उपादानको निजशक्ति अथवा निश्चय और निमित्तको परयोग अथवा व्यवहार कहते हैं।

प्रश्नः—उपादानकारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—(१) जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे--घटकी उत्पत्तिमें मिट्टी। (२) अनादिकालसे द्रव्यमें जो पर्यायोंका प्रवाह चला आ रहा है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उपादान कारण है और अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य है। (३) उस समयकी पर्यायकी योग्यता उपादान कारण है और वह पर्याय कार्य है। उपादान सच्चा (-वास्तविक) कारण है।

[नं० १ ध्रुव उपादान द्रव्यार्थिकनयसे है, नं० २-३ क्षणिक उपादान पर्यायार्थिक नयसे है।]

प्रश्नः—योग्यता किसे कहते हैं ?

उत्तरः—(१) "योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति" (न्याय० दि० पृ० २७) योग्यता ही विषयका प्रतिनियामक कारण है [यह कथन ज्ञानकी योग्यता (-सामर्थ्य) के लिये है, परन्तु योग्यताका कारणपना सर्वमें सर्वत्र समान है]

(२) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत ये 'योग्यता' शब्दके अर्थ हैं।

प्रश्नः—निमित्तकारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें अनुकूल होनेका जिसमें आरोप आ सके उस पदार्थको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे-घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकार, दंड, चक्र आदि। (निमित्त सच्चा कारण नहीं है—अकारणवत् है, क्योंकि वह उपचारमात्र अथवा व्यवहारमात्र कारण है)

उपादान कारण और निमित्तकी उपस्थितिका क्या नियम है?

(बनारसी-विलासमें कथित दोहा—)

प्रश्नः—(१) गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवेको आधीन ॥१॥

प्रश्नः—(२) हौं जाने था एक ही, उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानीमांहि जहाज ॥२॥

प्रथम प्रश्नका उत्तर—

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहाँ, तहँ निमित्त व्योहार ॥३॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप नेत्र और ज्ञानमें चरण अर्थात् लीनतारूप क्रिया दोनों मिलकर मोक्षमार्ग जानो। उपादानरूप निश्चयकारण जहाँ हो वहाँ निमित्तरूप व्यवहार-कारण होता ही है ॥३॥

भावार्थः—(१) उपादान निश्चय अर्थात् सच्चा कारण है, निमित्त तो मात्र व्यवहार अर्थात् उपचार कारण है, सच्चा कारण नहीं है, इसलिए तो उसे अकारणवत् कहा है। और उसे उपचार (-आरोप) कारण क्यों कहा कि वह उपादानका कुछ कार्य करता कराता नहीं, तो भी कार्यके समय उसकी उपस्थितिके कारण उसे उपचारमात्र कारण कहा है।

(२) सम्यग्ज्ञान और ज्ञानमें लीनताको मोक्षमार्ग जानो ऐसा कहा उसमें शरीराश्रित उपदेश, उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहारको मोक्षमार्ग न जानो, यह बात आ जाती है।

प्रथम प्रश्न का समाधान—

उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान प्रमाण विधि, विरला बूझे कोय ॥४॥

अर्थः—जहाँ निजशक्तिरूप उपादान तैयार हो वहाँ पर निमित्त होते ही हैं, ऐसी भेदज्ञान प्रमाणकी विधि (–व्यवस्था) है, यह सिद्धांत कोई विरला ही समझता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जहाँ उपादानकी योग्यता हो वहाँ नियमसे निमित्त होता है, निमित्तकी राह देखना पड़े ऐसा नहीं है; और निमित्तको हम जुटा सकते ऐसा भी नहीं है । निमित्तकी राह देखनी पड़ती है या उसे मैं ला सकता हूँ—ऐसी मान्यता परपदार्थमें अभेदबुद्धि अर्थात् अज्ञान सूचक है । **निमित्त और उपादान दोनों असहायरूप हैं, यह तो मर्यादा है ॥४॥**

उपादान बल जहँ तहाँ, नहीं निमित्तको दाव ।
एक चक्रसों रथ चलै, रविको यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

अर्थः—जहाँ देखो वहाँ सदा उपादानका ही बल है, निमित्त होते हैं परन्तु निमित्तका कुछ भी दाव (–बल) नहीं है । जैसे एक चक्रसे सूर्यका रथ चलता है; इस प्रकार प्रत्येक कार्य उपादानकी योग्यता (सामर्थ्य) से ही होता है ॥५॥

भावार्थः—कोई ऐसा समझता है कि—निमित्त उपादानके ऊपर सचमुच असर करते हैं, प्रभाव डालते हैं, सहाय-मदद करते हैं, आधार देते हैं तो वह अभिप्राय गलत है ऐसा यहाँ दोहा ४-५-६-७ में स्पष्टतया कहा है । अपने हितका उपाय समझनेके लिये यह बात बड़ी प्रयोजनभूत है ।

शास्त्रमें जहाँ परद्रव्यको (निमित्तको) सहायक, साधन, कारण, कारक आदि कहा हो तो वह " व्यवहार नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, **उसे ऐसें है नांही निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है ऐसा जानना ।**" (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्र० पृ० २५१)

दूसरे प्रश्नका समाधान—

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन;
ज्यों जहाज परवाहमें, तिरै सहज विन पौन ॥६॥

अर्थः—प्रत्येक वस्तु स्वतंत्रतासे अपनी अवस्थाको (—कार्यको) प्राप्त करती है वहाँ निमित्त कौन ? जैसे जहाज प्रवाहमें सहज ही पवन बिना ही तैरता है ।

भावार्थः—जीव और पुद्गल द्रव्य शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें स्वतंत्रपनेसे ही अपने परिणामको करते हैं; अज्ञानी जीव भी स्वतंत्रपनेसे निमित्ताधीन परिणमन करते हैं, कोई निमित्त उसे आधीन नहीं बना सकता ॥ ६ ॥

उपादान विधि निर्वचन, है निमित्त उपदेश ।
वसे जु जैसे देशमें, करे सु तैसे भेष ॥७॥

अर्थः—उपादानका कथन एक "योग्यता" शब्द द्वारा ही होता है; उपादान अपनी योग्यतासे अनेक प्रकार परिणमन करता है तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न भिन्न कारणपनेका आरोप (-भेष) आता है; उपादानकी विधि निर्वचन होनेसे निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है ।

भावार्थः—उपादान जब जैसे कार्यको करता है तब वैसे कारणपनेका आरोप (-भेष) निमित्तपर आता है। जैसे—कोई वज्रकायवान मनुष्य नर्कगति योग्य मलिन भाव करता है तो वज्रकाय पर नर्कका कारणपनेका आरोप आता है, और यदि जीव मोक्षयोग्य निर्मलभाव करता है तो उसी निमित्तपर मोक्षकारणपनेका आरोप आता है । इस प्रकार उपादानके कार्यानुसार निमित्तमें कारणपनेका भिन्न भिन्न आरोप दिया जाता है । इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्तसे कार्य नहीं होता परन्तु कथन होता है । अतः उपादान सच्चा कारण है, और निमित्त आरोपित कारण है ।

प्रश्नः—पुद्गलकर्म, योग, इन्द्रियोंके भोग, धन, घरके लोग, मकान इत्यादि इस जीवको राग-द्वेष परिणामके प्रेरक हैं ?

उत्तरः—नहीं, छहों द्रव्य, सर्व अपने अपने स्वरूपसे सदा असहाय (-स्वतंत्र) परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसीका प्रेरक कभी नहीं है, इसलिये कोई भी परद्रव्य राग-द्वेषके प्रेरक नहीं हैं परन्तु मिथ्यात्वमोहरूप मदिरापान है वही (अनन्तानुबन्धी) राग-द्वेष का कारण है ।

प्रश्नः—पुद्गलकर्मकी जोरावरीसे जीवको राग-द्वेष करना पड़ते हैं; पुद्गलद्रव्य कर्मोंका भेष धर-धरकर ज्यों-ज्यों बल करते हैं त्यों-त्यों जीवको राग-द्वेष अधिक होते हैं यह बात सत्य है ?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि जगतमें पुद्गलका संग तो हमेशा रहता है, यदि उनकी जोरावरीसे जीवको रागादि विकार हों तो शुद्धभावरूप होनेका कभी अवसर नहीं आ सकता, इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करनेमें चेतन स्वयं समर्थ है ।
(समयसार नाटक सर्वविशुद्धद्वार काव्य ६१ से ६६)

[निमित्तके कहीं प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद कहे हों तो वहाँ वे गमनक्रियावान्

इस तरह पदार्थ ज्ञानके द्वारा शुद्ध दशा करनेका उपाय समझाया जाता है; क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख तो जीवकी शुद्धदशामें ही है, इसलिये जो छह द्रव्य जाने उनमेंसे जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योंके गुण-पर्यायोंके साथ तो जीवको प्रयोजन नहीं है किन्तु जीवके अपने गुण-पर्यायोंके साथ ही प्रयोजन है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके पाँचवें अध्यायकी
गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।
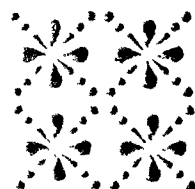
मोक्षशास्त्र-अध्याय छट्ठा

भूमिका

१—पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें सात तत्त्व कहे हैं और यही पहले अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है कि उन तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है। दूसरेसे पांचवें अध्याय पर्यंत जीव और अजीव तत्त्वका वर्णन किया है। इस छट्ठे अध्याय और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्वका स्वरूप समझाया गया है। आस्रवकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, जो यहां लागू होती है।

२—सात तत्त्वोंकी सिद्धि

(बृहद्द्रव्यसंग्रहके ७१–७२ वें पृष्ठके आधारसे)

इस जगतमें जीव और अजीव द्रव्य हैं और उनके परिणमनसे आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व होते हैं। इसप्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

अब यहां शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! (१) यदि जीव तथा अजीव ये दोनों द्रव्य एकांतसे (–सर्वथा) परिणामी ही हों तो उनके संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है, और (२) यदि वे सर्वथा अपरिणामी हों तो जीव और अजीव द्रव्य ऐसे दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। यदि ऐसा है तो आस्रवादि तत्त्व किस तरह सिद्ध होते हैं?

श्रीगुरु उसका उत्तर देते हैं—जीव और अजीव द्रव्य 'कथंचित् परिणामी' होनेसे अवशिष्ट पांच तत्त्वोंका कथन न्याययुक्त सिद्ध होता है।

(१) अब यह कहा जाता है कि 'कथंचित् परिणामित्व'का क्या अर्थ है? जैसे स्फटिक यद्यपि स्वभावसे निर्मल है तथापि जपा-पुष्प आदिके सामीप्यसे अपनी योग्यताके कारणसे पर्यायान्तर परिणति ग्रहण करती है। यद्यपि स्फटिकमणि पर्यायमें उपाधिको ग्रहण करती है तो भी निश्चयसे अपना जो निर्मल स्वभाव है उसे वह नहीं छोड़ती। इसीप्रकार जीवका स्वभाव भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे तो सहज शुद्ध चिदानन्द एकरूप है, परन्तु स्वयं अनादि कर्मबन्धरूप पर्यायके वशीभूत होनेसे वह रागादि परद्रव्य उपाधि पर्यायको ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्यायमें परपर्यायरूपसे (पर द्रव्यके आलंबनसे हुई अशुद्ध पर्यायरूपसे) परिणमता है तथापि निश्चयनयसे शुद्ध स्वरूपको नहीं छोड़ता। ऐसा ही पुद्गल द्रव्यका

भी होता है। इस कारणसे जीव-अजीवका परस्पर सापेक्ष परिणमन होना ही 'कथंचित् परिणामित्व' शब्दका अर्थ है।

(२) इसप्रकार 'कथंचित् परिणामित्व' सिद्ध होने पर जीव और पुद्गलके संयोगकी परिणति (-परिणाम)से बने हुये बाकीके आस्रवादि पांच तत्त्व सिद्ध होते हैं। जीवमें आस्रवादि पांच तत्त्वोंके परिणमनके समय पुद्गलकर्मरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है और पुद्गलमें आस्रवादि पांच तत्त्वोंके परिणमनमें जीवके भावरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है। इसीसे ही सात तत्त्वोंको 'जीव और पुद्गलके संयोगकी परिणतिसे रचित' कहा जाता है। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव और पुद्गलकी एकत्रित परिणति होकर बाकीके पांच तत्त्व होते हैं।

पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्योंको इन पांच तत्त्वोंमें मिलाने पर कुल सात तत्त्व होते हैं, और उसमें पुण्य-पापको यदि अलग गिना जावे तो नव पदार्थ होते हैं। पुण्य और पाप नामके दो पदार्थोंका अन्तर्भाव (समावेश) अभेद नयसे यदि जीव-आस्रव-बन्ध पदार्थमें किया जावे तो सात तत्त्व कहे जाते हैं।

३-सात तत्त्वोंका प्रयोजन

(बृहत्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ७२-७३ के आधारसे)

शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन्! यद्यपि जीव-अजीवके कथंचित् परिणामित्व मानने पर भेद-प्रधान पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सात तत्त्व सिद्ध हो गये, तथापि उनसे जीवका क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? क्योंकि जैसे अभेदनयसे पुण्य-पाप इन दो पदार्थोंका पहले सात तत्त्वोंमें अन्तर्भाव किया है उसी तरहसे विशेष अभेदनयकी विवक्षासे आस्रवादि पदार्थोंका भी जीव और अजीव इन दो ही पदार्थोंमें अन्तर्भाव कर लेनेसे ये दो ही पदार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

श्रीगुरु इस प्रश्नका समाधान करते हैं—कौन तत्त्व हेय हैं और कौन तत्त्व उपादेय हैं इसका परिज्ञान हो, इस प्रयोजनसे आस्रवादि तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है।

अब यह कहते हैं कि हेय और उपादेय तत्त्व कौन हैं? जो अक्षय अनन्त सुख है वह उपादेय है; उसका कारण मोक्ष है; मोक्षका कारण संवर और निर्जरा है; उसका कारण विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावसे निजआत्मतत्त्व स्वरूपके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण-लक्षणस्वरूप निश्चयरत्नत्रय है। उस निश्चय रत्नत्रयकी साधना चाहनेवाले जीवको व्यवहाररत्नत्रय क्या है यह समझकर, विपरीत अभिप्राय छोड़कर पर द्रव्य तथा राग परसे

अपना लक्ष हटाकर निज-आत्माके त्रैकालिक स्वरूपकी ओर अपना लक्ष ले जाना चाहिये अर्थात् स्वसंवेदन-स्वसन्मुख होकर स्वानुभूति प्रगट करना चाहिये । ऐसा करनेसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसके बलसे संवर, निर्जरा तथा मोक्ष प्रगट होता है; इसलिये ये तीन तत्त्व उपादेय हैं।

अब यह बतलाते हैं कि हेय तत्त्व कौन हैं ? आकुलताको उत्पन्न करनेवाले ऐसे निगोद-नरकादि गतिके दुःख तथा इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुये जो कल्पित सुख हैं सो हेय (-छोड़ने योग्य) हैं; उसका कारण स्वभावसे च्युतिरूप संसार है, संसारके कारण आस्रव तथा बन्ध ये दो तत्त्व हैं; पुण्य-पाप दोनों बन्ध तत्त्व हैं; उन आस्रव तथा बन्धके कारण, पहले कहे हुए निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रयसे विपरीत लक्षणके धारक ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। इसीलिये आस्रव और बन्ध तत्त्व हेय हैं।

इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान होनेके लिये ज्ञानीजन सात तत्त्वोंका निरूपण करते हैं।

४. तत्त्वकी श्रद्धा कब हुई कही जाय ?

(१) जैन शास्त्रोंमें कहे हुए जीवके त्रस-स्थावर आदि भेदोंको, गुणस्थान, मार्गणा इत्यादि भेदोंको तथा जीव पुद्गल आदि भेदोंको तथा वर्णादि भेदोंको तो जीव जानता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रोंमें भेदविज्ञानके कारणभूत और वीतरागदशा होनेके कारणभूत वस्तुका जैसा निरूपण किया है वैसा जो नहीं जानता, उसके जीव और अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(२) पुनश्च, किसी प्रसंगसे भेद-विज्ञानके कारणभूत और वीतरागदशाके कारणभूत वस्तुके निरूपणका जाननामात्र शास्त्रानुसार हो, परन्तु निजको निजरूप जानकर उसमें परका अंश भी (मान्यतामें) न मिलाना तथा निजका अंश भी (मान्यतामें) परमें न मिलाना; जहांतक जीव ऐसा श्रद्धान न करे वहांतक उसके जीव और अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(३) जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि बिना निश्चयके (निर्णय रहित) पर्यायबुद्धिसे (-देहदृष्टिसे) ज्ञानत्वमें तथा वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करते हैं, उसीप्रकार जो जीव आत्माश्रित ज्ञानादिमें तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रियामें निजत्व मानता है तो उसके जीव-अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है। ऐसा जीव किसी समय शास्त्रानुसार यथार्थ बात भी कहे परन्तु वहां उसके अन्तरंग निश्चयरूप श्रद्धा नहीं है, इसीलिये जिस तरह नशायुक्त मनुष्य माताको माता कहे तो भी वह समझदार नहीं है, उसी तरह यह जीव भी सम्यग्दृष्टि नहीं है।

(४) पुनश्च, वह [illegible] कथन करता है, परन्तु 'यह आत्मामें ही है' ऐसा भाव [illegible] नहीं होता। और फिर जैसे किसी दूसरेको दूसरेसे भिन्न बतलाता हो वैसे ही यह भी आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्रगट करता है, परन्तु मैं इन शरीरादिसे भिन्न हूं ऐसा भाव उसको नहीं भासता; इसीलिये उसके जीव-अजीवको यथार्थ श्रद्धा नहीं।

(५) पर्यायमें (—वर्तमान दशामें) जीव-पुद्गलके परस्परके निमित्तसे अनेक क्रियाएं होती हैं, उन सबको दो द्रव्योंके मिलापसे हुई मानता है, किन्तु उसके ऐसा भिन्न-भिन्न भाव नहीं भासता कि 'यह जीवकी क्रिया है और यह पुद्गलकी क्रिया है।' ऐसा भिन्न भाव भासे बिना उसको जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीव-अजीवके जाननेका प्रयोजन तो यही था; सो कि इसे हुआ नहीं।

(देखो, देहली सस्ती ग्रन्थमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृ० ३३१)

(६) पहले अध्यायके ३२ वें सूत्रमें 'सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्' कहा है वह समझकर विपरीत अभिप्राय रहित होकर सत्-असत्का भेदज्ञान करना चाहिये; जहां तक ऐसी यथार्थ श्रद्धा न हो वहांतक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। उसमें 'सत्' शब्दसे यह समझनेके लिये कहा है कि जीव स्वयं त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप क्या है और 'असत्' शब्दसे यह बताया है कि जीवमें होनेवाला विकार जीवमेंसे दूर किया जा सकता है, इसलिये वह पर हैं। पर पदार्थ और आत्मा भिन्न होनेसे कोई परका कुछ कर नहीं सकता; आत्माकी अपेक्षासे पर पदार्थ असत् हैं—नास्तिरूप हैं। जब ऐसा यथार्थ समझे तभी जीवके सत्-असत् के विशेषका यथार्थ ज्ञान होता है। जीवके जहां तक ऐसा ज्ञान न हो वहांतक आस्रव दूर नहीं होते; जहां तक जीव आत्मा और आस्रवका भेद नहीं जानता वहांतक उसके विकार दूर नहीं होते। इसीलिये यह भेद समझानेके लिये छट्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रवका स्वरूप कहा है।

यह आस्रव अधिकार है; इसमें प्रथम योगके भेद और उसका स्वरूप कहते हैं:—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥१॥

अर्थः—[**कायवाङ्मनः कर्म**] शरीर, वचन और मनके अवलम्बनसे आत्माके प्रदेशोंका संकल्प होना सो [**योगः**] योग है।

टीका

१—आत्माके प्रदेशोंका सकंप होना सो योग है; सूत्रमें जो योगके तीन भेद कहे हैं

वे निमित्तकी अपेक्षासे हैं। उपादानरूप योगमें तीन भेद नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रकार है। दूसरी तरहसे-योगके दो भेद किये जा सकते हैं—१—भाव योग और २—द्रव्ययोग। कर्म, नोकर्मके ग्रहण करनेमें निमित्तरूप आत्माकी शक्ति-विशेषको भावयोग कहते हैं और उस शक्तिके कारणसे जो आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना सो द्रव्ययोग है (यहां 'द्रव्य'का अर्थ 'आत्मद्रव्यके प्रदेश' होता है)

२—यह आस्रव अधिकार है। जो योग है सो आस्रव है,—ऐसा दूसरे सूत्रमें कहेंगे। इस योगके दो प्रकार हैं—१-कषाययोग और २-अकषाययोग। (देखो सूत्र चौथा)

३—यद्यपि भावयोग एक ही प्रकारका है तो भी निमित्तकी अपेक्षासे उसके १५ भेद होते हैं। जब यह योग मनकी ओर झुकता है तब उसमें मन निमित्त होनेसे, योग और मनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शानेके लिये, उस योगको मनोयोग कहा जाता है। इसी प्रकारसे जब वचनकी ओर झुकाव होता है तब वचनयोग कहा जाता है और जब कायकी ओर झुकाव होता है तब काययोग कहा जाता है। इसमें मनोयोगके ४, वचनयोगके ४ और काययोगके ७ भेद हैं; इस तरह निमित्तकी अपेक्षासे भावयोगके कुल १५ भेद होते हैं।
(जैनसिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न २२०, ४३२, ४३३)

४—आत्माके अनन्तगुणोंमें एक योगगुण है; यह अनुजीवी गुण है। इस गुणकी पर्यायमें दो भेद होते हैं १-परिस्पंदरूप अर्थात् आत्मप्रदेशोंके कंपनरूप और २-आत्मप्रदेशोंकी निश्चलतारूप निष्कंपरूप। प्रथम प्रकार योगगुणकी अशुद्ध पर्याय और दूसरा भेद योगगुणकी शुद्ध पर्याय है।

इस सूत्रमें योगगुणकी कंपनरूप अशुद्ध पर्यायको 'योग' कहा है।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थः—[सः] वह योग [आस्रवः] आस्रव है।

टीका

१—आगे चौथे सूत्रमें यह कहेंगे कि सकषाययोग और अकषाययोग आस्रव अर्थात् आत्माका विकारभाव है।

२—कितने ही जीव कषायका अर्थ क्रोध-मान-माया-लोभ करते हैं, किन्तु यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। मोहके उदयमें युक्त होने पर जीवके मिथ्यात्व क्रोधादि भाव होते हैं,

अहिंसादिकरूप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है, भला मानता है; अब ये दोनों आस्रव होनेसे कर्म-बन्धके कारण हैं, उनमें उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है। सो ही बात समयसार गा० २५४ से २५६ में कही है। सर्व जीवोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख, अपने-अपने कर्मोदयके निमित्तसे होता है तथापि जहां ऐसा मानना कि अन्य जीव अन्य जीवके कार्योंका कर्त्ता होता है, यही मिथ्याध्यवसाय बन्धका कारण है। अन्य जीवके जिलाने या सुखी करनेका जो अध्यवसाय हो सो तो पुण्य-बन्धका कारण है और जो मारने या दुःखी करनेका अध्यवसाय होता है वह पाप-बन्धका कारण है। यह सब मिथ्या-अध्यवसाय हैं, वह त्याज्य है; इसलिये हिंसादिककी तरह अहिंसादिकको भी बन्धके कारणरूप जानकर हेय समझना। हिंसामें जीवके मारनेकी बुद्धि हो किन्तु उसकी आयु पूर्ण हुये विना वह नहीं मरता और अपनी द्वेष परिणतिसे स्वयं ही पापबन्ध करता है, तथा अहिंसामें परकी रक्षा करनेकी बुद्धि हो किन्तु उसकी आयुके अवशेष न होनेसे वह नहीं जीता, मात्र अपनी शुभराग परिणतिसे स्वयं ही पुण्य बांधता है। इस तरह ये दोनों हेय हैं। किन्तु जहां जीव वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारूप होवे वहां ही निर्बन्धता है इसलिये वह उपादेय है।

जहां तक ऐसी दशा न हो वहां तक शुभरागरूप प्रवर्ते परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखना चाहिये कि यह भी बन्धका कारण है—हेय है। यदि **श्रद्धानमें उसे मोक्षका मार्ग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।**

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२६)

३—शुभयोग तथा अशुभयोगके अर्थ

शुभयोग—पंच परमेष्ठीकी भक्ति, प्राणियोंके प्रति उपकारभाव, रक्षाभाव, सत्य बोलनेका भाव, परधन हरण न करनेका भाव,—इत्यादि शुभ परिणामसे निर्मित योगको शुभयोग कहते है।

अशुभयोग—जीवोंकी हिंसा करना, असत्य बोलना, परधन हरण करना, ईर्ष्या करना,—इत्यादि भावोंरूप अशुभ परिणामसे बने हुये योगको अशुभयोग कहते हैं।

४—आस्रवमें शुभ और अशुभ भेद क्यों?

प्रश्नः—आत्माको पराधीन करनेमें पुण्य और पाप दोनों समान कारण हैं—सोनेकी सांकल और लोहेकी सांकलकी तरह पुण्य और पाप दोनों आत्माको स्वतंत्रताका अभाव करनेमें समान हैं, तो फिर उसमें शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद क्यों कहे हैं?

उत्तरः—उनके कारणसे मिलनेवाली इष्ट-अनिष्ट गति, जाति इत्यादिकी रचनाके भेदका ज्ञान करानेके लिये उसमें भेद कहे हैं—अर्थात् संसारकी अपेक्षासे भेद हैं, धर्मकी अपेक्षासे भेद नहीं, अर्थात् दोनों प्रकारके भाव 'अधर्म' हैं। प्रवचनसार गाथा ७७ में कहा है कि—इसप्रकार पुण्य और पापमें भेद (–अन्तर) नहीं है, ऐसा जो जीव नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसारमें परिभ्रमण करता है।

५—शुभ तथा अशुभ दोनोंसे सात या आठ कर्म बँधते हैं तथापि यहाँ ऐसा क्यों नहीं कहा ?

प्रश्नः—रागी जीवके आयुके अतिरिक्त सातों कर्मका निरन्तर आस्रव होता है तथापि इस सूत्रमें शुभपरिणामको पुण्यास्रवका ही कारण और अशुभ परिणामको पापास्रवका ही कारण क्यों कहा ?

उत्तरः—यद्यपि संसारी रागी जीवके सातों कर्मका निरन्तर आस्रव होता है, तथापि संक्लेश (–अशुभ) परिणामसे देव, मनुष्य और तिर्यंच आयुके अतिरिक्त १४८ प्रकृतियोंकी स्थिति बढ़ जाती है और मंद (शुभ) परिणामसे उन समस्त कर्मोंकी स्थिति घट जाती है और उपरोक्त तीन आयुकी स्थिति बढ़ जाती है।

और फिर तीव्र कषायसे शुभ प्रकृतिका रस तो घट जाता है और असातावेदनीयादिक अशुभ प्रकृतिका रस अधिक हो जाता है। मंद कषायसे पुण्य-प्रकृतिमें रस बढ़ता है और पाप-प्रकृतिमें रस घटता है; इसलिये स्थिति तथा रस (–अनुभाग) की अपेक्षासे शुभ परिणामको पुण्यास्रव और अशुभ परिणामको पापास्रव कहा है।

६—शुभ-अशुभ कर्मोंके बँधनेके कारणसे शुभ-अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं

प्रश्नः—शुभ परिणामके कारणसे शुभयोग और अशुभ परिणामके कारणसे अशुभयोग है, ऐसा माननेके स्थानपर यह माननेमें क्या बाधा है कि शुभ-अशुभ कर्मोंके बन्धके निमित्तसे शुभ-अशुभ भेद होता है ?

उत्तरः—यदि कर्मके बन्धके अनुसार योग माना जायगा तो शुभयोग ही न रहेगा, क्योंकि शुभयोगके निमित्तसे ज्ञानावरणादि अशुभ कर्म भी बँधते हैं; इसलिये शुभ-अशुभ कर्म बँधनेके कारणसे शुभ-अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं। परन्तु ऐसा मानना न्याय-संगत है कि मंद कषायके कारणसे शुभयोग और तीव्र कषायके कारणसे अशुभयोग है।

७—शुभभावसे पापकी निर्जरा नहीं होती

प्रश्नः—यह तो ठीक है कि शुभभावसे पुण्यका बँध होता है, किन्तु ऐसा माननेमें क्या दोष है कि उससे पापकी निर्जरा होती है ?

उत्तरः—इस सूत्रमें कही हुई तत्त्वदृष्टिसे देखने पर यह मान्यता भूल भरी है। शुभभावसे पुण्यका बन्ध होता है, बन्ध संसारका कारण है, और जो संवर पूर्वक निर्जरा है सो धर्म है। यदि शुभभावसे पापकी निर्जरा मानें तो वह (शुभभाव) धर्म हुआ और धर्मसे बन्ध कैसे होगा ? इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि शुभभावसे पुराने पापकर्मकी निर्जरा होती है (-आत्मप्रदेशसे पापकर्म खिर जाते हैं); निर्जरा शुद्धभावसे ही होती है अर्थात् तत्त्वदृष्टिके बिना संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती। विशेष समाधानके लिये देखो अ० ७ सू० १ की टीकामें शास्त्राधार।

८—तीसरे सूत्रका सिद्धान्त

शुभभाव और अशुभभाव दोनों कषाय हैं, इसीलिये वे संसारके ही कारण हैं। शुभभाव बढ़ते-बढ़ते उससे शुद्धभाव नहीं हो सकता। जब शुद्धके अभेद आलम्बनसे शुभको दूर करे तब शुद्धता हो। जितने अंशमें शुद्धता प्रगट होती है उतने अंशमें धर्म है। ऐसा मानना ठीक है कि शुभ या अशुभमें धर्मका अंश भी नहीं है। ऐसी मान्यता किये बिना सम्यग्दर्शन कभी नहीं होता। कितनेक ऐसा मानते हैं कि—जो शुभयोग है सो संवर है; यह यथार्थ नहीं है,—ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमें स्पष्टरूपसे दोनों योगोंको आस्रव कहा है ॥ ३ ॥

अब इसका खुलासा करते हैं कि आस्रव सर्व संसारियोंके समान फलका कारण होता है या इसमें विशेषता है

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थः—[**सकषायस्य साम्परायिकस्य**] कषायसहित जीवके संसारके कारणरूप कर्मका आस्रव होता है और [**अकषायस्य ईर्यापथस्य**] कषायरहित जीवके स्थितिरहित कर्मका आस्रव होता है।

टीका

१—कषायका अर्थ मिथ्यादर्शन—क्रोधादि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके मिथ्यादर्शन-

रूप कषाय नहीं होती; इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवोंके लागू होनेवाला कषायका अर्थ 'चारित्रमें अपनी कमजोरीसे होनेवाले क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि' ऐसा समझना। मिथ्यादर्शनका अर्थ है आत्माके स्वरूपकी मिथ्या मान्यता-विपरीत मान्यता।

२—साम्परायिक आस्रवः—यह आस्रव संसारका ही कारण है। मिथ्यात्व-भावरूप आस्रव अनन्त संसारका कारण है। मिथ्यात्वका अभाव होनेके बाद होनेवाला आस्रव अल्प संसारका कारण है।

३-ईर्यापथ आस्रवः—यह आस्रव स्थिति और अनुभागरहित है और यह अकषायी जीवोंके ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें होता है। चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिये वहां आस्रव है ही नहीं।

४-कर्मबन्धके चार भेद

कर्मबन्धके चार भेद हैं:—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग। इनमें पहले दो प्रकारके भेदोंका कारण योग है और अंतिम दो भेदोंका कारण कषाय है। कषाय संसारका कारण है और इसीलिये जहांतक कषाय हो वहांतकके आस्रवको साम्परायिक आस्रव कहते हैं; और कषाय दूर होनेके बाद अकेला योग रहता है। कषाय रहित योगसे होनेवाले आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। आत्माके उस समयका प्रगट होनेवाला जो भाव है सो भाव-ईर्यापथ है और द्रव्यकर्मका जो आस्रव है सो द्रव्य-ईर्यापथ है। इसी तरह भाव और द्रव्य ऐसे दो भेद साम्परायिक आस्रवमें भी समझ लेना। ११ से १३ वें गुणस्थान पर्यन्त ईर्यापथ आस्रव होता है, उससे पहलेके गुणस्थानोंमें साम्परायिक आस्रव होता है।

जिस प्रकार वड़का फल आदि वस्त्रके कषायके रंगमें निमित्त होते हैं उसी तरह मिथ्यात्व, क्रोधादिक आत्माको कर्म-रङ्ग लगनेका निमित्त हैं, इसीलिये उन भावोंको कषाय कहा जाता है। जैसे कोरे घड़ेको रज लगकर चली जाती है उसी तरह कषायरहित आत्माके कर्म-रज लगकर उसी समय चली जाती है,—इसीको ईर्यापथ आस्रव कहा जाता है।

साम्परायिक आस्रवके ३९ भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थः—[इन्द्रियाणि पंच] स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, [कषायाः चतुः] क्रोधादि चार कषाय, [अव्रतानि पंच] हिंसा इत्यादि पांच अव्रत और [क्रियाः पंचविंशतिः] पच्चीस

आदि पच्चीस प्रकारकी क्रियायें [**संख्याः भेदाः**] इस तरह कुल ३९ भेद [**पूर्वस्य**] पहले (साम्परायिक) आस्रवके हैं, अर्थात् इन सर्व भेदोंके द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है।

टीका

१-इन्द्रियः—दूसरे अध्यायके १५ से १९ वें सूत्रमें इन्द्रियका विषय आ चुका है। पुद्गल-इन्द्रियां परद्रव्य हैं, उनसे आत्माको लाभ या हानि नहीं होती; मात्र भावेन्द्रियके उपयोगमें वह निमित्त होते हैं। इन्द्रियका अर्थ होता है भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इन्द्रियका विषय; ये तीनों ज्ञेय हैं; ज्ञायक आत्माके साथ उनके जो एकत्वकी मान्यता है सो (मिथ्यात्व-भाव) ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष है। (देखो, श्री समयसार गाथा ३१ टीका)

कषायः—राग-द्वेषरूप जो आत्माकी प्रवृत्ति है सो कषाय है। यह प्रवृत्त तीव्र और मंदके भेदसे दो प्रकारकी होती है।

अव्रतः-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच प्रकारके अव्रत हैं।

२—क्रियाः—आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दरूप जो योग है सो क्रिया है; इसमें मन, वचन और काय निमित्त होता है। यह क्रिया सकषाय योग में दसवें गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन या कायकी कोई भी क्रिया आत्माकी नहीं है, और न आत्माको लाभकारक या हानिकारक है। जब आत्मा सकषाय योगरूपसे परिणमे और नवीन कर्मोंका आस्रव हो तब आत्माका सकषाययोग उन पुद्गल-आस्रवमें निमित्त है और पुद्गल स्वयं उस आस्रवका उपादानकारण है; भावास्रवका उपादानकारण आत्माकी उस-उस अवस्थाकी योग्यता है और निमित्त पुराने कर्मोंका उदय है।

३-पच्चीस प्रकारकी क्रियाओंके नाम और उनके अर्थ

(१) सम्यक्त्व क्रियाः—चैत्य, गुरु और प्रवचन (-शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्योंसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है, इसीलिये यह सम्यक्त्व क्रिया है। यहां मन, वचन, कायकी जो क्रिया होती है वह सम्यक्त्वी जीवके शुभभावमें निमित्त है; वे शुभभावको धर्म नहीं मानते, इसीलिये उस मान्यताकी दृढ़ताके द्वारा उनके सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है; इसलिये यह मान्यता आस्रव नहीं, किन्तु जो सकषाय (शुभभाव सहित) योग है सो भाव-आस्रव है; वह सकषाय योग द्रव्यकर्मके आस्रवमें मात्र निमित्तकारण है।

(२) मिथ्यात्वक्रियाः-कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रके पूजा, स्तवनादिरूप मिथ्यात्वके कारणवाली क्रियायें हैं सो मिथ्यात्वक्रिया है।

(३) प्रयोगक्रियाः—हाथ, पैर इत्यादि चलानेके भावरूप इच्छारूप जो क्रिया है सो प्रयोगक्रिया है।

(४) समादान क्रियाः—संयमीका असंयमके सन्मुख होना।

(५) ईर्यापथ क्रियाः—समादान क्रियासे विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढ़ानेके लिये साधु जो क्रिया करते हैं वह ईर्यापथ क्रिया है। ईर्यापथ पांच समितिरूप है; उसमें जो शुभभाव है सो ईर्यापथ क्रिया है। [समितिका स्वरूप ९ वें अध्यायके ५ वें सूत्र में कहा जायगा।]

अब पाँच क्रियायें कही जाती हैं; इसमें पर हिंसाके भावकी मुख्यता है

(६) प्रादोषिक क्रियाः—क्रोधके आवेशसे द्वेषादिकरूप बुद्धि करना सो प्रादोषिक क्रिया है।

(७) कायिकी क्रियाः—उपर्युक्त दोष उत्पन्न होने पर हाथसे मारना, मुखसे गाली देना, इत्यादि प्रवृत्तिका जो भाव है सो कायिकी क्रिया है।

(८) अधिकरणिकी क्रियाः—हिंसाके साधनभूत बन्दूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना सो सब अधिकरणिकी क्रिया है।

(९) परिताप क्रियाः—दूसरेको दुःख देनेमें लगना।

(१०) प्राणातिपात क्रियाः—दूसरेके शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वासको नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रिया है।

नोटः—यह व्यवहार-कथन है, इसका अर्थ ऐसा समझना कि जीव जब [illegible] इसप्रकारके अशुभ भाव करता है, तब इस क्रियामें बताई गई पर वस्तुयें स्वयं बाह्य निमित्त-रूपसे होती हैं। ऐसा नहीं मानना कि जीव परपदार्थोंका कुछ कर सकता है या परपदार्थ जीवका कुछ कर सकते हैं।

अब ११ से १५ तककी ५ क्रियायें कहते हैं। इनका सम्बन्ध इन्द्रियोंके भोगोंके साथ है

(११) दर्शन क्रियाः—सौन्दर्य देखनेकी इच्छा है सो दर्शनक्रिया है।

(१२) स्पर्शन क्रियाः—किसी चीजके स्पर्श करनेकी जो इच्छा है सो स्पर्शनक्रिया है (इसमें अन्य इन्द्रियों सम्बन्धी वाञ्छाका समावेश समझना चाहिये)।

(१३) प्रात्ययिकी क्रियाः—इन्द्रियके भोगोंकी वृद्धिके लिये नवीन-नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) समंतानुपात क्रियाः—स्त्री, पुरुष तथा पशुओंके उठने-बैठनेके स्थानको मलमूत्रसे खराब करना सो समंतानुपात क्रिया है।

(१५) अनाभोग क्रियाः—बिना देखी या बिना शोधी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना-उठाना सो अनाभोग क्रिया है।

अब १६ से २० तककी पांच क्रियायें कहते हैं, ये उच्च धर्माचरणमें धक्का पहुँचानेवाली हैं

(१६) स्वहस्त क्रियाः—जो काम दूसरेके योग्य हो उसे स्वयं करना सो स्वहस्त क्रिया है।

(१७) निसर्ग क्रियाः—पापके साधनोंके लेने-देनेमें सम्मति देना।

(१८) विदारण क्रियाः—आलस्यके वश हो अच्छे काम न करना और दूसरेके दोष प्रगट करना सो विदारण क्रिया है।

(१९) आज्ञाव्यापादिनी क्रियाः—शास्त्रकी आज्ञाका स्वयं पालन न करना और [illegible]ति विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

(२०) अनाकांक्षा क्रियाः—उन्मत्तपना या आलस्यके वश हो प्रवचन (शास्त्रों) में [illegible]ई आज्ञाओंके प्रति आदर या प्रेम न रखना सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब अंतिम पाँच क्रियायें कहते हैं, इनके होनेसे धर्म धारण करनेमें विमुखता रहती है

(२१) आरम्भ क्रियाः—हानिकारक कार्योंमें रुकना, छेदना, तोड़ना, भेदना या [illegible] कोई वैसा करे तो हर्षित होना सो आरंभ क्रिया है।

(२२) परिग्रह क्रियाः—परिग्रहका कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायोंमें लगे रहना सो [illegible] है।

(२३) माया क्रियाः—[illegible] ज्ञानादि गुणोंको छिपाना।

(२४) मिथ्यादर्शन क्रियाः—मिथ्यादृष्टियोंकी तथा मिथ्यात्वसे परिपूर्ण कार्योंकी [illegible]

(२५) अप्रत्याख्यान क्रियाः—जो त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना सो अप्रत्याख्यान क्रिया है। (प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है, विषयोंके प्रति आसक्तिका त्याग करनेके बदले उनमें आसक्ति करना सो अप्रत्याख्यान है)

नोटः—नं० १० की क्रियाके नीचे जो नोट है वह नं० ११ से २५ तककी क्रियामें भी लागू होता है।

नं० ६ से २५ तककी क्रियाओंमें आत्माका अशुभभाव है। अशुभभावरूप जो सकषाय योग है सो पाप-आस्रवका कारण है, परन्तु जड़ मन, वचन या शरीरकी क्रिया है सो किसी आस्रवका कारण नहीं। भावास्रवका निमित्त पाकर जड़ रजकणरूप कर्म जीवके साथ एक-क्षेत्रावगाहरूपसे बँधते हैं। इन्द्रिय, कषाय तथा अव्रत कारण है और क्रिया उनका कार्य है ॥५॥

आस्रवमें विशेषता-(हीनाधिकता) का कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थः—[**तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यः**] तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेषसे [**तद्विशेषः**] आस्रवमें विशेषता-हीनाधिकता होती है।

टीका

तीव्रभावः—अत्यन्त बढ़े हुए क्रोधादिके द्वारा जो तीव्ररूप भाव होता है वह तीव्रभाव है।

मंदभावः—कषायोंकी मंदतासे जो भाव होता है उसे मंदभाव कहते हैं।

ज्ञातभावः—जानकर इरादापूर्वक करनेमें आनेवाली प्रवृत्ति ज्ञातभाव है।

अज्ञातभावः—बिना जाने असावधानीसे प्रवृत्ति करना सो अज्ञातभाव है।

अधिकरणः—जिस द्रव्यका आश्रय लिया जाय सो अधिकरण है।

वीर्यः—द्रव्यकी स्वशक्तिविशेषको वीर्य (-बल) कहते हैं ॥६॥

अब अधिकरणके भेद बतलाते हैं

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थः—[**अधिकरणं**] अधिकरण [**जीवाऽजीवाः**] जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य हैं

दो भेद रूप है; इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मामें जो कर्मास्रव होता है उसमें दो प्रकारका निमित्त होता है; एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त ।

टीका

१–यहां अधिकरणका अर्थ निमित्त होता है । छट्ठे सूत्रमें आस्रवकी तारतम्यताके कारणमें 'अधिकरण' एक कारण कहा है । उस अधिकरणके प्रकार बतानेके लिये इस सूत्रमें यह बताया है कि जीव–अजीव कर्मास्रवमें निमित्त हैं ।

२—जीव और अजीवके पर्याय अधिकरण हैं ऐसा बतानेके लिये सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न कर बहुवचनका प्रयोग किया है । जीव–अजीव सामान्य अधिकरण नहीं किन्तु जीव-अजीवके विशेष (–पर्याय) अधिकरण होते हैं । यदि जीव--अजीवके सामान्यको अधिकरण कहा जाय तो सर्व जीव और सर्व अजीव अधिकरण हों । किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि जीव–अजीवकी विशेष—पर्यायविशेष ही अधिकरणस्वरूप होती है ॥ ७ ॥

जीव–अधिकरणके भेद

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत–कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थः—[**आद्यं**] पहला अर्थात् जीव अधिकरण–आस्रव [**संरम्भ समारम्भारम्भ योग, कृतकारितानुमतकषायविशेषैः च**] संरम्भ–समारम्भ–आरम्भ, मन–वचन–कायरूप तीन योग, कृत–कारित--अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायोंकी विशेषतासे [**त्रिः त्रिः त्रिः चतुः**] ३×३×३×४ [**एकशः**] १०८ भेदरूप हैं ।

टीका

संरम्भादि तीन भेद हैं, उन प्रत्येकमें मन--वचन--काय ये तीन भेद लगानेसे नव भेद हुये; इन प्रत्येक भेदमें कृत-कारित--अनुमोदना ये तीन भेद लगानेसे २७ भेद हुये और इन प्रत्येकमें क्रोध-मान–माया–लोभ ये चार भेद लगानेसे १०८ भेद होते हैं । ये सब भेद जीवाधिकरण आस्रवके हैं ।

सूत्रमें च शब्द अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायके चार भेद बतलाता है ।

अनन्तानुबन्धी कषायः— जिस कषायसे जीव अपना स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न

कर सके उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं अर्थात् जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घाते उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहा जाता है; उसके साथ जिस कषायका बन्ध होता है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषायः—जिस कषायसे जीव एकदेशरूप संयम (—सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत) किंचित् मात्र भी प्राप्त न कर सके उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यान कषायः—जीव जिस कषायसे सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल संयमको ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषायः—जिस कषायसे जीवका संयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभावमें-शुद्धोपयोगमें पूर्णरूपसे लीन न हो सके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

संरम्भः—किसी भी विकारी कार्यके करनेके संकल्प करनेको संरम्भ कहा जाता है। (संकल्प दो तरहका है १—मिथ्यात्वरूप संकल्प, २—अस्थिरतारूप संकल्प)

समारम्भः—उस निर्णयके अनुसार साधन मिलानेके भावको समारम्भ कहा जाता है।

आरम्भः—उस कार्यके प्रारम्भ करनेको आरम्भ कहा जाता है।

कृतः—स्वयं करनेके भावको कृत कहते हैं।

कारितः—दूसरेसे करानेके भावको कारित कहते हैं।

अनुमतः— जो दूसरे करें उसे भला समझना सो अनुमत है ॥ ८ ॥

अजीवाधिकरण आस्रवके भेद बतलाते हैं

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

अर्थः—[**परम्**] दूसरा अजीवाधिकरण आस्रव [**निर्वर्तना द्वि**] दो प्रकारकी निर्वर्तना, [**निक्षेप चतुः**] चार प्रकारके निक्षेप [**संयोग द्वि**] दो प्रकारके संयोग और [**निसर्गाः त्रिभेदाः**] तीन प्रकारके निसर्ग ऐसे कुल ११ भेदरूप है।

टीका

निर्वर्तनाः—[illegible] रचना करना—निपजाना सो निर्वर्तना है, इसके दो भेद हैं—१—[illegible] कुचेष्टा उत्पन्न करना सो देहदुःप्रयुक्त निर्वर्तना है और २—[illegible]

रचना करना सो उपकरण निर्वर्तना है। अथवा दूसरी तरहसे दो भेद इस तरह होते हैं:—१—पांच प्रकारके शरीर, मन, वचन, श्वासोछ्वासका उत्पन्न करना सो मूलगुण निर्वर्तना है और २—काष्ट, मिट्टी, इत्यादिसे चित्र आदिकी रचना करना सो उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेपः—वस्तुको रखनेको (-धरनेको) निक्षेप कहते हैं, उसके चार भेद हैं:—१-विना देखे वस्तुका रखना सो अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है; २-यत्नाचार रहित होकर वस्तुको रखना सो दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है, ३-भयादिकसे या अन्य कार्य करनेकी जल्दीमें पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीरादिके मैलको रखना सो सहसानिक्षेपाधिकरण है और ४—जीव है या नहीं ऐसा विना देखे और विना विचार किए शीघ्रतासे पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीरके मैलको रखना और जहां वस्तु रखनी चाहिये वहां न रखना सो अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

संयोगः—मिलाप होना सो संयोग है। उसके दो भेद हैं, १—भक्तपान संयोग और २—उपकरण संयोग। एक आहार-पानीको दूसरे आहार-पानीके साथ मिला देना सो भक्तपान संयोग है; और ठंडी पुस्तक, कमण्डलु, शरीरादिकको धूपसे गरम हुई पीछी आदिसे पोंछना तथा शोधना सो उपकरण संयोग है।

निसर्गः—प्रवर्तनको निसर्ग कहते हैं, उसके तीन भेद हैं: १—मनको प्रवर्ताना सो मन निसर्ग है, २—वचनोंको प्रवर्ताना सो वचन निसर्ग है और ३—शरीरको प्रवर्ताना सो काय निसर्ग है।

नोट:—जहां-जहां परके करने-करानेकी बात कही है वहां-वहां व्यवहार-कथन समझना। जीव परका कुछ कर नहीं सकता तथा पर पदार्थ जीवका कुछ कर नहीं सकते, किन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दिखानेके लिये इस सूत्रका कथन है॥ ९॥

यहां तक सामान्य आस्रवके कारण कहे; अब विशेष आस्रवके कारण वर्णित करते हैं, उसमें प्रत्येक कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं—

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवका कारण

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

अर्थः—[**तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्यां तराया सादनोपघाताः**] ज्ञान और दर्शनके सम्बन्धमें करनेमें आये हुये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये [**ज्ञानदर्शनावरणयोः**] ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मास्रवके कारण हैं।

टीका

१. प्रदोषः–मोक्षका कारण अर्थात् मोक्षका उपाय तत्त्वज्ञान है, उसका कथन करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा न करते हुये अन्तरङ्गमें जो दुष्ट परिणाम होना सो प्रदोष है।

निह्नवः–वस्तुस्वरूपके ज्ञानादिका छुपाना-जानते हुये भी ऐसा कहना कि मैं नहीं जानता सो निह्नव है।

मात्सर्यः–वस्तुस्वरूपके जानते हुये भी यह विचारकर किसीको न पढ़ाना कि 'यदि मैं इसे कहूँगा तो वह पंडित हो जायगा' सो मात्सर्य है।

अंतरायः–यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें विघ्न करना सो अन्तराय है।

आसादनः–परके द्वारा प्रकाश होने योग्य ज्ञानको रोकना सो आसादन है।

उपघातः–यथार्थ प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना अथवा प्रशंसा योग्य ज्ञानको दूषण लगाना सो उपघात है।

इस सूत्रमें 'तत्' का अर्थ ज्ञान-दर्शन होता है।

उपरोक्त छह दोष यदि ज्ञानावरण सम्बन्धी हों तो ज्ञानावरणके निमित्त हैं और दर्शनावरण सम्बन्धी हों तो दर्शनावरणके निमित्त हैं।

२—इस सूत्रमें जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मके आस्रवके छह कारण कहे हैं उनके बाद ज्ञानावरणके लिये विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १३ से १६ वीं गाथामें निम्नप्रकार दिये हैं:—

१६—सर्वज्ञ भगवानके शासनके प्रचारमें वाधा डालना ।

१७—वहुश्रुत ज्ञानियोंका अपमान करना ।

१८—तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेमें शठता करना ।

३—यहां यह तात्पर्य है कि जो काम करनेसे अपने तथा दूसरेके तत्त्वज्ञानमें वाधा आवे या मलिनता हो वे सव ज्ञानावरणकर्मके आस्रवके कारण हैं । जैसे कि एक ग्रन्थके असावधानीसे लिखने पर किसी पाठको छोड़ देना अथवा कुछका कुछ लिख देना सो ज्ञानावरणकर्मके आस्रवका कारण होता है । (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ २००-२०१)

४—और फिर दर्शनावरणके लिये इस सूत्रमें कहे गये छह कारणोंके पश्चात् अन्य विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १७-१८-१९ वीं गाथामें निम्नप्रकार दिये हैं:-

७—किसीकी आंख निकाल लेना (८) वहुत सोना (९) दिनमें सोना (१०) नास्तिकपनकी भावना रखना (११) सम्यग्दर्शनमें दोष लगाना (१२) कुतीर्थवालोंकी प्रशंसा करना (१३) तपस्वियों (दिगम्वर मुनियों) को देखकर ग्लानि करना—ये सव दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं ।

५. **शंकाः**—नास्तिकपनेकी वासना आदिसे दर्शनावरणका आस्रव कैसे होगा, उनसे तो दर्शनमोहका आस्रव होना संभव है, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे विपरीत कार्योंके द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है न कि दर्शन-उपयोग ?

समाधानः—जैसे वाह्य इन्द्रियोंसे मूर्तिक पदार्थोंका दर्शन होता है वैसे ही विशेषज्ञानियोंके अमूर्तिक आत्माका भी दर्शन होता है। जैसे सर्व ज्ञानोंमें आत्मज्ञान अधिक पूज्य है वैसे ही वाह्य पदार्थोंके दर्शन करनेसे अन्तर्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन अधिक पूज्य है । इसीलिये आत्मदर्शनमें वाधक कारणोंको दर्शनावरण कर्मके आस्रवका कारण मानना अनुचित नहीं है । इसप्रकार नास्तिकपनेकी मान्यता आदि जो कारण लिखे हैं वे दोष दर्शनावरण कर्मके आस्रवके हेतु हो सकते हैं । (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ २०१-२०२)

यद्यपि आयुकर्मके अतिरिक्त अन्य सात कर्मोंका आस्रव प्रति समय हुआ करता है तथापि प्रदोषादिभावोंके द्वारा जो ज्ञानावरणादि खास-विशेष कर्मका वन्ध होना वताया है वह स्थितिवन्ध और अनुभागवन्धकी अपेक्षासे समझना अर्थात् प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध तो सव कर्मोंका हुआ करता है किन्तु उस समय ज्ञानावरणादि खास कर्मका स्थिति और अनुभागवन्ध विशेष-अधिक होता है ॥१०॥

असाता वेदनीयके आस्रवके कारण

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्म-परोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थः—[**आत्मपरोभयस्थानानि**] अपनेमें, परमें और दोनोंके विषयमें स्थित [**दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनानि**] दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये [**असद्वेद्यस्य**] असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१. दुःखः—पीड़ारूप परिणामविशेषको दुःख कहते हैं।

शोकः—अपनेको लाभदायक मालूम होनेवाले पदार्थका वियोग होनेपर विकलता होना सो शोक है।

तापः—संसारमें अपनी निंदा आदि होनेपर पश्चाताप होना।

आक्रन्दनः—पश्चातापसे अश्रुपात करके रोना सो आक्रन्दन है।

वधः—प्राणों का वियोग करनेको वध कहते हैं।

परिदेवनः—संक्लेश परिणामोंके कारणसे ऐसा रुदन करना कि जिससे सुननेवालेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक, ताप आदि दुःखके ही भेद हैं तथापि दुःखकी जातियाँ बतानेके लिये ये दो भेद बताये हैं।

२—स्वयंको, परको या दोनोंको एकसाथ दुःख-शोकादि उत्पन्न करना सो असाता-वेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है।

प्रश्नः—यदि दुःखादिक निजमें, परमें, या दोनोंमें स्थित होनेसे असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है तो अर्हन्त मतके माननेवाले जीव केशलोंच, अनशन-तप, आतपस्थान इत्यादि दुःखके निमित्त स्वयं करते हैं और दूसरोंको भी वैसा उपदेश देते हैं, तो इसीलिये उनके भी असातावेदनीय कर्मका आस्रव होगा?

उत्तरः—नहीं, यह दूषण नहीं है। यह विशेष कथन ध्यानमें रखना कि यदि अन्तरंग क्रोधादिक परिणामोंके आवेशपूर्वक खुदको, दूसरोंको या दोनोंको दुःखादि देनेका भाव

हो तो ही वह असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है। भावार्थ यह है कि अन्तरंग क्रोधादिके वश होनेसे आत्माके जो दुःख होता है वह दुःख केशलोंच, अनशन तप या आतापयोग इत्यादि धारण करनेमें सम्यग्दृष्टि मुनिके नहीं होता, इसलिये उनके इससे असातावेदनीयका आस्रव नहीं होता, वह तो उनका शरीरके प्रति वैराग्यभाव है।

यह बात दृष्टांत द्वारा समझायी जाती है:—

दृष्टांतः-जैसे कोई दयाके अभिप्रायवाला-दयालु और शल्यरहित वैद्य संयमी पुरुषके फोड़ेको काटने या चीरनेका काम करता है और उस पुरुषको दुःख होता है तथापि उस बाह्य निमित्तमात्रके कारण पापबन्ध नहीं होता, क्योंकि वैद्यके भाव उसे दुःख देनेके नहीं हैं।

सिद्धांतः—वैसे ही संसार सम्बन्धी महादुःखसे उद्विग्न हुये मुनि संसार सम्बन्धी महादुःखका अभाव करनेके उपायके प्रति लग रहे हैं, उनके संक्लेश परिणामका अभाव होनेसे, शास्त्रविधान करनेमें आये हुये कार्योंमें स्वयं प्रवर्तनेसे या दूसरोंको प्रवर्तानेसे पापबन्ध नहीं होता, क्योंकि उनका अभिप्राय दुःख देनेका नहीं; इसलिये वह असातावेदनीयके आस्रवके कारण नहीं हैं।

३-इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य निमित्तोंके अनुसार आस्रव या बन्ध नहीं होता, किन्तु जीव स्वयं जैसा भाव करे उस भावके अनुसार आस्रव और बन्ध होता है। यदि जीव स्वयं विकारभाव करे तो बन्ध हो और विकारभाव न करे तो बन्ध नहीं होता ॥११॥

सातावेदनीयके आस्रवके कारण

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थः— [**भूतव्रत्यनुकंपा**] प्राणियोंके प्रति और व्रतधारियोंके प्रति अनुकम्पा-दया [**दान-सरागसंयमादियोगः**] दान, सराग संयमादिके योग, [**क्षांतिः शौचमिति**] क्षमा और शौच, अर्हन्तभक्ति इत्यादि [**सद्वेद्यस्य**] सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१. भूत=चारों गतियोंके प्राणी।

व्रती=जिन्होंने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत या महाव्रत धारण किये हों ऐसा जीव; इन दोनों पर अनुकम्पा—दया करना सो भूतव्रत्यनुकम्पा है।

प्रश्नः—जब कि 'भूत' कहने पर उसमें समस्त जीव आ गये तो फिर 'व्रती' बतलानेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तरः—सामान्य प्राणियोंसे व्रती जीवोंके प्रति अनुकम्पाकी विशेषता बतलानेके लिये यह कहा गया है; व्रती जीवोंके प्रति भक्तिपूर्वक भाव होना चाहिये।

दान=दुःखित, भूखे आदि जीवोंके उपकारके लिये धन, औषधि, आहारादिक देना तथा व्रती सम्यग्दृष्टि सुपात्र जीवोंको भक्तिपूर्वक दान देना सो दान है।

सरागसंयम=सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रके धारक मुनिके जो महाव्रतरूप शुभभाव है संयमके साथ वह राग होनेसे सराग संयम कहा जाता है। राग कुछ संयम नहीं; जितना वीतरागभाव है वह संयम है।

२. प्रश्नः—चारित्र दो तरहके बताये गए हैं—एक वीतराग चारित्र और दूसरा सराग चारित्र; और चारित्र बन्धका कारण नहीं है तो फिर यहां सराग संयमको आस्रव और बन्धका कारण क्यों कहा है ?

उत्तरः—जहां सराग संयमको बन्धका कारण कहा वहां ऐसा समझना कि वास्तवमें चारित्र (संयम) बन्धका कारण नहीं, किन्तु जो राग है वह बन्धका कारण है। जैसे—चावल दो तरहके है—एक तो भूसे सहित और दूसरा भूसे रहित; वहां भूसा चावलका स्वरूप नहीं है किन्तु चावलमें वह दोष है। अब यदि कोई सयाना पुरुष भूसे सहित चावलका संग्रह करता हो तो उसे देखकर कोई भोला मनुष्य भूसेको ही चावल मानकर उसका संग्रह करे तो वह निरर्थक खेद-खिन्न ही होगा। वैसे ही चारित्र (संयम) दो प्रकार है—एक सराग तथा दूसरा वीतराग। वहां ऐसा समझना कि जो राग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं किन्तु चारित्रमें वह दोष है। अब यदि कोई सम्यग्ज्ञानी पुरुष प्रशस्त रागसहित चारित्रको धारण करे तो उसे देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त रागको ही चारित्र मानकर उसे धारण करे तो वह निरर्थक खेद-खिन्न ही होगा। (देखो, आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृष्ठ [illegible]

वहां जिस अंशसे वीतराग हुआ है उसके द्वारा तो संवर है और जिस अंशसे सराग रहा है उसके द्वारा बन्ध है। सो एक भावसे तो दो कार्य बनते हैं किन्तु एक प्रशस्त रागहीसे पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना वह भ्रम है। अपने मिश्र भावमें ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है कि 'यह सरागता है और यह वीतरागता है।' इसलिये वे अवशिष्ट सरागभावको हेयरूप श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टिके ऐसी परीक्षा न होनेसे सरागभावमें संवरके भ्रम द्वारा प्रशस्त--रागरूप कार्यको उपादेय मानता है।

(देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४-३३५)

इस तरह सराग-संयममें जो महाव्रतादि पालन करनेका शुभभाव है वह आस्रव होनेसे वन्धका कारण है किन्तु जितना निर्मल चारित्र प्रगट हुआ है वह बन्धका कारण नहीं है।

३—इस सूत्रमें 'आदि' शब्द है उसमें संयमासंयम, अकामनिर्जरा, और बालतपका समावेश होता है।

संयमासंयमः—सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत।

अकामनिर्जराः—पराधीनतासे—(अपनी विना इच्छाके) भोग-उपभोगका निरोध होने पर संक्लेशता रहित होना अर्थात् कषायकी मन्दता करना सो अकामनिर्जरा है।

बालतपः—मिथ्यादृष्टिके मंद कषायसे होनेवाला तप।

४—इस सूत्रमें 'इति' शब्द है उसमें अरहन्तका पूजन, बाल, वृद्ध या तपस्वी मुनियोंकी वैयावृत्य करनेमें उद्यमी रहना, योगकी सरलता और विनयका समावेश हो जाता है।

योगः—शुभ परिणाम सहित निर्दोष क्रियाविशेषको योग कहते हैं।

क्षांतिः—शुभ परिणामकी भावनासे क्रोधादि कषायमें होनेवाली तीव्रताके अभावको क्षांति (क्षमा) कहते हैं।

शौचः—शुभ परिणाम पूर्वक जो लोभका त्याग है सो शौच है। वीतरागी निर्विकल्प क्षमा और शौचको 'उत्तम क्षमा' और 'उत्तम शौच' कहते हैं, वह आस्रवका कारण नहीं है।

अब अनन्त संसारके कारणीभूत दर्शनमोहके आस्रवके कारण कहते हैं

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

अर्थः—[**केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः**] केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवका अवर्णवाद करना सो [**दर्शनमोहस्य**] दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

१. अवर्णवाद—जिसमें जो दोष न हो उसमें उस दोषका आरोपण करना सो अवर्णवाद है।

केवलित्व, मुनित्व और देवत्व ये आत्माकी ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके स्वरूप हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये पांचों पद निश्चयसे आत्मा ही हैं (देखो, योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा १०४, परमात्मप्रकाश पृष्ठ ३६३, ३६४) इसलिये उनका स्वरूप समझनेमें यदि भूल हो और उनमें न हो ऐसा दोष कल्पित किया जाय तो आत्माका स्वरूप न समझे और मिथ्यात्वभावका पोषण हो। धर्म आत्माका स्वभाव है इसलिये धर्म-सम्बन्धी झूठी दोष-कल्पना करना सो भी महान् दोष है।

२—श्रुतका अर्थ है शास्त्र, वह जिज्ञासु जीवोंके आत्माका स्वरूप समझनेमें निमित्त है, इसीलिये मुमुक्षुओंको सच्चे शास्त्रोंके स्वरूपका भी निर्णय करना चाहिये।

३-केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप

(१) भूख और प्यास यह पीड़ा है, उस पीड़ासे दुःखी हुए जीव ही आहार लेनेकी इच्छा करते हैं। भूख और प्यासके कारण दुःखका अनुभव होना सो आर्तध्यान है। केवली भगवानके सम्पूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख होता है तथा उनके परम शुक्लध्यान रहता है। इच्छा तो वर्तमानमें रहनेवाली दशाके प्रति द्वेष और परवस्तुके प्रति रागका अस्तित्व सूचित करती है। केवली भगवानके इच्छा ही नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि केवली भगवान अन्नका आहार (कवलाहार) करते हैं यह न्याय-विरुद्ध है। केवली भगवानके [illegible] प्रगट हुआ होनेसे उनके भूख और प्यासकी पीड़ा ही नहीं होती, और [illegible] बिना इच्छा [illegible]-आहार [illegible] होनेसे इच्छा ही नहीं होती, और बिना इच्छा [illegible] आहार [illegible] है—लोभ है, इसलिये केवली भगवानके आहार [illegible] अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है। यह [illegible] अनन्त संसारका कारण है।

(२) आत्माकी वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट [illegible] कोई दर्द (रोग) हो और उसकी दवा लेनी [illegible] और दवा [illegible] है* दवा लेनेकी [illegible]

* [illegible]

अस्तित्व सूचित करता है, अनन्तसुखके स्वामी केवली भगवानके आकुलता, विकल्प, लोभ, इच्छा या दुःख होनेकी कल्पना अर्थात् केवली भगवानको सामान्य छद्मस्थकी तरह मानना न्याय-विरुद्ध है। यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझे तो आत्माकी समस्त दशाओंका स्वरूप ध्यानमें आ जाय। भगवान छद्मस्थ मुनिदशामें करपात्र (हाथमें भोजन करनेवाले) होते हैं और आहारके लिये स्वयं जाते हैं, किन्तु यह अशक्य है कि केवलज्ञान होनेके बाद रोग हो, दवाकी इच्छा उत्पन्न हो और वह लानेके लिये शिष्यको आदेश दें। केवलज्ञान होने पर शरीरकी दशा उत्तम होती है और शरीर परम औदारिक रूपमें परिणमित हो जाता है। उस शरीरमें रोग होता ही नहीं। यह अबाधित सिद्धान्त है कि 'जहां तक राग हो वहां तक रोग हो, परन्तु भगवानको राग नहीं है इसी कारण उनके शरीरको रोग भी कभी होता ही नहीं। इसलिये इससे विरुद्ध मानना सो अपने आत्मस्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवलीभगवन्तोंका अवर्णवाद है।

(३) किसी भी जीवके गृहस्थदशामें केवलज्ञान प्रगट होता है ऐसा मानना सो बड़ी भूल है। गृहस्थ दशा छोड़े बिना भावसाधुत्व आ ही नहीं सकता, भावसाधुत्व हुए बिना भी केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है? भावसाधुत्व छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें होता है और केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें होता है इसलिये गृहस्थदशामें कभी भी किसी जीवके केवलज्ञान नहीं होता। इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(४) छद्मस्थ जीवोंके जो ज्ञान--दर्शन--उपयोग होता है वह ज्ञेय-सन्मुख होनेसे होता है, इस दशामें एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ प्रवृत्ति करता है, ऐसी प्रवृत्ति के बिना छद्मस्थ जीवका ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता; इसीसे पहले चार ज्ञान पर्यन्तके कथनमें उपयोग शब्दका प्रयोग उसके अर्थके अनुसार (--'उपयोग' के अन्वयार्थके अनुसार) कहा जा सकता है; परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन तो अखण्ड अविच्छिन्न है; उसको ज्ञेय-सन्मुख नहीं होना पड़ता अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शनको एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ नहीं लगाना पड़ता। केवली भगवानके केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ ही होते हैं। फिर भी ऐसा मानना सो मिथ्या मान्यता है कि "केवली भगवानके तथा सिद्ध भगवानके जिस समय ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता।'- ऐसा मानना कि "केवली भगवानको तथा सिद्ध भगवानको केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद जो अनन्तकाल है उसके अर्धकालमें ज्ञानके कार्य बिना और अर्धकाल दर्शनके कार्य बिना व्यतीत करना पड़ता है" ठीक है क्या? नहीं, यह मान्यता

भी न्याय-विरुद्ध ही है, इसलिये ऐसी खोटी (-मिथ्या) मान्यता रखना सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(५) चतुर्थ गुणस्थान—(सम्यग्दर्शन) साथ ले जाने वाला आत्मा पुरुषपर्यायमें ही जन्मता है स्त्रीरूपमें कभी भी पैदा नहीं होता; इसीलिये स्त्रीरूपसे कोई तीर्थंकर नहीं हो सकता, क्योंकि तीर्थंकर होनेवाला आत्मा सम्यग्दर्शन सहित ही जन्मता है और इसीलिये वह पुरुष ही होता है। यदि ऐसा मानें कि किसी कालमें एक स्त्री तीर्थंकर हो तो भूत और भविष्यकी अपेक्षासे (-चाहे जितने लम्बे समयमें हो तथापि) अनन्त स्त्रियां तीर्थंकर हों और इसी कारण यह सिद्धांत भी टूट जायगा कि सम्यग्दर्शन सहित आत्मा स्त्रीरूपमें पैदा नहीं होता; इसलिये स्त्रीको तीर्थंकर मानना सो मिथ्या मान्यता है और ऐसा माननेवालेने आत्माकी शुद्ध दशाका स्वरूप नहीं जाना। वह यथार्थमें अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(६) किसी भी कर्मभूमिकी स्त्रीके प्रथमके तीन उत्तम संहननका उदय ही नहीं होता; *जब जीवके केवलज्ञान हो तब पहला ही संहनन होना है ऐसा केवलज्ञान और पहले संहननके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। स्त्रीके पांचवें गुणस्थानसे ऊपरकी अवस्था प्रगट नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि स्त्रीके शरीरवाला जीवको उसी भवमें केवलज्ञान होना है सो अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका तथा साधुसंघका अवर्णवाद है।

(७) भगवानकी दिव्यध्वनि को देव, मनुष्य, तिर्यंच [illegible] और अपनी-अपनी भाषामें अपने ज्ञानकी योग्यतानुसार समझते हैं; उस निरक्षर ध्वनिको [illegible] ध्वनि भी कहा है। श्रोताओंके कर्णप्रदेशतक यह ध्वनि न पहुंचे [illegible] अनक्षर ही है और जब वह श्रोताओंके कर्णमें प्राप्त हो तब अक्षररूप होती है। [illegible] गाथा [illegible] टीका) [illegible]

तालु, ओठ आदिके द्वारा केवली भगवानकी [illegible] किन्तु सर्वांगसे वाणी खिरती है; इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्धस्वरूपका और उपचारसे भगवानका अवर्णवाद है।

(८) साधुके [illegible]

वैयावृत्य आदि [illegible]

केवलज्ञान [illegible]

* [illegible]

वीतरागको सरागी माना, और ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है कि किसी भी द्रव्यस्त्रीके केवलज्ञान उत्पन्न होता है। 'कर्मभूमिकी महिलाके प्रथम तीन संहनन होते ही नहीं और चौथा संहनन हो तब वह जीव ज्यादासे ज्यादा सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है' (देखो, गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २९-३२) इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त-केवली भगवानका अवर्णवाद है।

(९) कुछ लोगोंका ऐसा मानना है कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, सो यह मान्यता भूलसे भरी हुई है। आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है, ज्ञान क्या नहीं जानता ? ज्ञान सबको जानता है ऐसी उसमें शक्ति है। और वीतराग विज्ञानके द्वारा वह शक्ति प्रगट कर सकता है। पुनश्च, कोई ऐसा मानते हैं कि केवलज्ञानी आत्मा सर्वद्रव्य, उसके अनन्तगुण और उसकी अनन्त पर्यायोंको एक साथ जानता है तथापि उसमेंसे कुछ जाननेमें नहीं आता— जैसे कि एक बच्चा दूसरेसे कितना बड़ा, कितने हाथ लम्बा, एक घर दूसरे घरसे कितने हाथ दूर है इत्यादि बातें केवलज्ञानमें मालूम नहीं होती।' सो यह मान्यता सदोष है। इसमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानों का अवर्णवाद है। भाविकालमें होनहार, सर्व द्रव्यकी सर्व पर्यायें भी केवलज्ञानीके वर्तमान ज्ञानमें निश्चितरूपसे प्रतिभासित हैं, ऐसा न मानना वह भी केवलीको न मानना है।

(१०) ऐसा मानना कि केवली तीर्थंकर भगवानने ऐसा उपदेश किया है कि 'शुभ रागसे धर्म होता है, शुभ व्यवहार करते करते निश्चय धर्म होता है' सो यह उनका अवर्णवाद है। "शुभभावके द्वारा धर्म होता है इसीलिये भगवानने शुभभाव किये थे। भगवानने तो दूसरोंका भला करनेमें अपना जीवन अर्पण कर दिया था" इत्यादि रूपसे भगवानकी जीवन-कथा कहना या लिखना सो अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनंत केवली भगवानों का अवर्णवाद है।

(११) प्रश्नः—यदि भगवानने परका कुछ नहीं किया तो फिर जगदुद्धारक, तरण-तारण, जीवन-दाता, बोधि-दाता इत्यादि उपनामोंसे क्यों पहचाने जाते हैं ?

उत्तरः—ये सब नाम उपचारसे हैं। जब भगवानको दर्शनविशुद्धिकी भूमिकामें अनिच्छकभावसे धर्मराग हुआ, तब तीर्थंकर नामकर्म बँध गया। तत्त्वस्वरूप यों है कि भगवानको तीर्थंकर प्रकृति बंधते समय जो शुभभाव हुआ था उसे उन्होंने उपादेय नहीं माना था, किन्तु उस शुभभाव और उस तीर्थंकर नामकर्म-दोनोंका अभिप्रायमें निषेध ही था। इसीलिये वे रागको नष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। अन्तमें राग दूर कर वीतराग हुये, फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ और स्वयं दिव्यध्वनि प्रगट हुई; योग्य जीवोंने उसे सुनकर मिथ्यात्वको छोड़कर

स्वरूप समझा और ऐसे जीवोंने उपचार विनयसे जगत्उद्धारक, तरण-तारण, इत्यादि नाम भगवानको दिये। यदि वास्तवमें भगवानने दूसरे जीवोंका कुछ किया हो या कर सकते हों तो जगत्के सब जीवोंको मोक्षमें साथ क्यों नहीं ले गये? इसलिये शास्त्रका कथन किस नयका है यह लक्षमें रखकर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये। भगवानको परका कर्ता ठहराना भी भगवानका अवर्णवाद है।

इत्यादि प्रकारसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमें दोषोंकी कल्पना आत्माके अनन्त संसारका कारण है। इसप्रकार केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप कहा।

४. श्रुतके अवर्णवादका स्वरूप

१—जो शास्त्र न्यायकी कसौटी पर चढ़ाने पर अर्थात् सम्यग्ज्ञानके द्वारा परीक्षा करने पर प्रयोजनभूत बातोंमें सच्चे-यथार्थ मालूम पड़ें उन्हें ही यथार्थ-ठीक मानना चाहिये। जब लोगोंकी स्मरण-शक्ति कमजोर हो तब ही शास्त्र लिखनेकी पद्धति होती है; इसीलिये लिखे हुए शास्त्र गणधर श्रुतकेवलीके गूंथे हुये शब्दोंमें ही न हों, किन्तु सम्यग्ज्ञानी आचार्योंने उनके यथार्थ भाव जानकर अपनी भाषामें गूंथे हों वह भी सत्श्रुत है।

(२) सम्यग्ज्ञानी आचार्य आदिके बनाये हुये शास्त्रोंकी निंदा करना सो अपने सम्यग्ज्ञानकी ही निंदा करनेके सदृश है; क्योंकि जिसने सच्चे शास्त्रकी निंदा की उसका ऐसा भाव हुआ कि मुझे ऐसे सच्चे निमित्तका संयोग न हो किन्तु खोटे निमित्तका संयोग हो अर्थात् मेरा उपादान सम्यग्ज्ञानके योग्य न हो किन्तु मिथ्याज्ञानके योग्य हो।

(३) किसी ग्रन्थके कर्ताके रूपमें तीर्थंकर भगवानका, केवलीका, गणधरका या आचार्यका नाम दिया हो इसीलिये उसे सच्चा शास्त्र मान लिया सो [illegible] नहीं। मुमुक्षु जीवोंको तत्त्वदृष्टिसे परीक्षा करके सत्य-असत्यका निर्णय करना चाहिये। भगवानके नामसे किसीने कल्पित शास्त्र बनाया हो उसे सत्श्रुत मान लिया सो श्रुतका अवर्णवाद है। जिन शास्त्रोंमें मांस-भक्षण, मदिरापान, [illegible] निर्दोष कहा हो, भगवको [illegible] कहा हो वे शास्त्र यथार्थ नहीं, इसलिये [illegible]।

५. संघके अवर्णवादका स्वरूप

[illegible]

देव मांस-भक्षण करते हैं, मद्यपान करते हैं, भोजनादिक करते हैं, मनुष्यिनी—स्त्रियोंके साथ कामसेवन करते हैं—इत्यादि मान्यता देवका अवर्णवाद है।

८—ये पांच प्रकारके अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आस्रवका कारण हैं, और जो दर्शन मोह है सो अनन्त संसारका कारण है।

९. इस सूत्रका सिद्धान्त

शुभविकल्पसे धर्म होता है ऐसी मान्यतारूप अगृहीत-मिथ्यात्व तो जीवके अनादिसे चला आया है। मनुष्य गतिमें जीव जिस कुलमें जन्म पाता है उस कुलमें अधिकतर किसी न किसी प्रकारसे धर्मकी मान्यता होती है। पुनश्च उस कुलधर्ममें किसीको देवरूपसे, किसीको गुरुरूपसे, किसी पुस्तकको शास्त्ररूपसे और किसी क्रियाको धर्मरूपसे माना जाता है। जीवको बचपनमें इस मान्यताका पोषण मिलता है और बड़ी उम्रमें अपने कुलके धर्मस्थानमें जानेपर वहां भी मुख्यरूपसे उसी मान्यताका पोषण मिलता है। इस अवस्थामें जीव विवेक पूर्वक सत्य-असत्यका निर्णय अधिकतर नहीं करता और सत्य-असत्यके विवेकसे रहित दशा होनेसे सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर अनेक प्रकार झूठे आरोप करता है। यह मान्यता इस भवमें नई ग्रहण की हुई होनेसे और मिथ्या होनेसे उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ये अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व अनन्त संसारके कारण हैं। इसलिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र-धर्मका और अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझकर अगृहीत तथा गृहीत दोनों मिथ्यात्वका नाश करनेके लिए ज्ञानियोंका उपदेश है। (अगृहीत मिथ्यात्वका विषय आठवें बन्ध अधिकारमें आवेगा)। आत्माको न मानना, सत्य मोक्षमार्गको दूषित-कल्पित करना, असत् मार्गको सत्य मोक्षमार्ग मानना, परम सत्य वीतरागी विज्ञानमय उपदेशकी निंदा करना—इत्यादि जो-जो कार्य सम्यग्दर्शनको मलिन करते हैं वे सब दर्शन-मोहनीयके आस्रवका कारण हैं ॥१३॥

अब चारित्र मोहनीयके आस्रवके कारण बतलाते हैं

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

अर्थः—[कषायोदयात्] कषायके उदयसे [तीव्रपरिणामः] तीव्र परिणाम होना सो [चारित्रमोहस्य] चारित्र मोहनीयके आस्रवका कारण है।

(१) झूठ बोलनेका स्वभाव होना । (२) मायाचारमें तत्पर रहना ।

(३) परके छिद्रकी आकांक्षा अथवा बहुत ज्यादा राग होना इत्यादि परिणाम स्त्रीवेदकर्मके आस्रवका कारण हैं ।

(१) थोड़ा क्रोध होना । (२) इष्ट पदार्थोंमें आसक्तिका कम होना ।

(२) अपनी स्त्रीमें सन्तोष होना ।

इत्यादि परिणाम पुरुषवेदकर्मके आस्रवका कारण हैं ।

(१) कषायकी प्रबलता होना ।

(२) गुह्य इन्द्रियोंका छेदन करना । (३) परस्त्रीगमन करना ।

इत्यादि परिणाम होना सो नपुंसकवेदके आस्रवका कारण है ।

३—'तीव्रता बन्धका कारण है और सर्वजघन्यता बन्धका कारण नहीं है' यह सिद्धान्त आत्माके समस्त गुणोंमें लागू होता है । आत्मामें होनेवाला मिथ्यादर्शनका जो जघन्यसे भी जघन्य भाव होता है वह दर्शन-मोहनीयकर्मके आस्रवका कारण नहीं है । यदि अंतिम अंश भी बन्धका कारण हो तो कोई भी जीव व्यवहारमें कर्मरहित नहीं हो सकता । (देखो, अध्याय ५ सूत्र ३४ की टीका) ॥ १४ ॥

अब आयु कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं:—

नरकायुके आस्रवके कारण

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थः—[**बह्वारम्भपरिग्रहत्वं**] बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना वह [**नारकस्यायुषः**] नरकायुके आस्रवका कारण है ।

१. बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह [illegible] नरकायुके आस्रवका कारण है । 'बहु' शब्द संख्यावाचक तथा परिणामवाचक [illegible] है । अधिक संख्यामें आरम्भ—परिग्रह रखनेसे नरकायुका आस्रव होता है । [illegible] क्योंकि बहु परिणामसे नरकायुका आस्रव [illegible] उपादानकारण है [illegible]

२. आरम्भ [illegible]

आता है उसमें स्थावरादि जीवोंका नियमसे वध होता है। आरम्भके साथ 'बहु' शब्दका ग्रहण करके ज्यादा आरम्भ अथवा बहुत तीव्र परिणामसे जो आरम्भ किया जाता है वह बहु आरम्भ है, ऐसा अर्थ समझना।

३. परिग्रह—'यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूं'—ऐसा परमें अपनेपनका अभिमान अथवा पर वस्तुमें 'यह मेरी है' ऐसा जो संकल्प है सो परिग्रह है। केवल बाह्य धन-धान्यादि पदार्थोंको ही 'परिग्रह' नाम लागू होता है यह बात नहीं है; बाह्यमें किसी भी पदार्थके न होने पर भी यदि भावमें ममत्व हो तो वहां भी परिग्रह कहा जा सकता है।

४. सूत्रमें जो नरकायुके आस्रवके कारण बताये हैं वे संक्षेपसे हैं, उन भावोंका विस्तृत [illegible]

(१८) महा क्रूर स्वभाव रखना।

(१९) विना विचारे रोने-कूटनेका स्वभाव रखना।

(२०) देव-गुरु-शास्त्रोंमें मिथ्या दोष लगाना।

(२१) कृष्ण लेश्याके परिणाम रखना।

(२२) रौद्रध्यानमें मरण करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम नरकायुके कारण होते हैं॥ १५॥

अब तिर्यंचायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थः—[**माया**] माया-छलकपट (**तैर्यग्योनस्य**) तिर्यंचायुके आस्रवका कारण है।

टीका

जो आत्माका कुटिल स्वभाव है, उससे तिर्यंच योनिका आस्रव होता है। तिर्यंचायुके आस्रवके कारणका इस सूत्रमें जो वर्णन किया है वह संक्षेपमें है। उन भावोंका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार हैः—

(१) मायासे मिथ्याधर्मका उपदेश देना।

(२) बहुत आरम्भ-परिग्रहमें कपटयुक्त परिणाम करना।

(३) कपट-कुटिल कर्ममें तत्पर होना।

(४) पृथ्वीभेद सदृश क्रोधीपना होना।

(५) शीलरहितपना होना।

(६) शब्दसे-चेष्टासे तीव्र मायाचार करना।

(७) परके परिणाममें भेद उत्पन्न करना। (८) अति अनर्थ प्रगट करना।

(९) गंध-रस-स्पर्शका विपरीतपना होना।

(१०) जाति-कुल-शीलमें दूषण लगाना।

(११) विसंवादमें प्रीति रखना। (१२) दूसरेके उत्तम गुणको छिपाना।

(१३) अपनेमें जो गुण नहीं है उसे भी बतलाना।

(१४) नील-कापोत लेश्यारूप परिणाम [illegible]

मात्र अकेला योग सातावेदनीयके आस्रवका कारण है। योगमें वक्रता नहीं होती किन्तु उपयोगमें वक्रता (–कुटिलता) होती है। जिस योगके साथ उपयोगकी वक्रता रही हो वह अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है। आस्रवके प्रकरणमें योगकी मुख्यता है और बन्धके प्रकरणमें बन्ध--परिणामकी मुख्यता है, इसीलिये इस अध्यायमें और इस सूत्रमें योग शब्दका प्रयोग किया है। परिणामोंकी वक्रता जड़–मन, वचन या कायमें नहीं होती किन्तु उपयोगमें होती है। यहाँ आस्रवका प्रकरण होने और आस्रवका कारण योग होनेसे, उपयोगकी वक्रताको उपचारसे योग कहा है। योगके विसम्वादनके सम्बन्धमें भी इसी तरह समझना।

२ प्रश्न:– विसंवादनका अर्थ अन्यथा प्रवर्तन होता है और उसका समावेश वक्रतामें [illegible] है तथापि 'विसंवादन' शब्द अलग किसलिये कहा ?

उत्तर:— [illegible] स्वकी अपेक्षासे योग-वक्रता कही जाती है और परकी अपेक्षासे विसंवादन [illegible] जाता है। मोक्षमार्गमें प्रतिकूल ऐसी मन–वचन--काय द्वारा जो खोटी [illegible] सो योग–वक्रता है और दूसरेको वैसा करनेके लिये कहना विसम्वादन है। [illegible] करता हो उसे अशुभ करनेको कहना सो भी विसंवादन है। कोई जीव [illegible] और उसमें धर्म मानता हो उसे ऐसा कहना कि शुभरागसे धर्म नहीं [illegible] है और यथार्थ समझ तथा वीतरागभावसे धर्म होता है ऐसा उपदेश [illegible] है, क्योंकि उसमें तो सम्यक् न्यायका प्रतिपादन है, इसीलिये उस [illegible]।

[illegible] मिथ्यादर्शनका सेवन, किसीको बुरा वचन बोलना, चित्तकी [illegible], परकी निंदा, अपनी प्रशंसा इत्यादिका समावेश हो जाता [illegible]

शुभ नामकर्मके आस्रवका कारण

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

[illegible]

[illegible] है।

टीका

[illegible]

कहे, उससे विपरीत अर्थात् सरलता होना और अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव होना सो शुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण हैं।

२—यहां 'सरलता' शब्दका अर्थ 'अपनी शुद्धस्वभावरूप सरलता' नहीं समझना किन्तु 'शुभभावरूप सरलता' समझना। और जो अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव है सो भी शुभभावरूप समझना। शुद्ध भाव आस्रव-बंधका कारण नहीं होता ॥ २३ ॥

अब तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसाधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहु-श्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थः—[**दर्शनविशुद्धिः**] १-दर्शनविशुद्धि, [**विनयसम्पन्नता**] २-विनयसम्पन्नता, [**शीलव्रतेष्वनतिचारः**] ३-शील और व्रतोंमें अनतिचार अर्थात् अतिचारका न होना, [**अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः**] ४-निरन्तर ज्ञानोपयोग, [**संवेग**] ५-संवेग अर्थात् संसारसे भयभीत होना, [**शक्तितस्त्यागतपसी**] ६-७-शक्तिके अनुसार त्याग तथा तप करना, [**साधुसमाधि**] ८-साधुसमाधि, [**वैयावृत्यकरणम्**] ९-वैयावृत्य करना, [**अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिः**] १०-१३-अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति करना, [**आवश्यकापरिहाणिः**] १४-आवश्यकमें हानि न करना, [**मार्गप्रभावना**] १५-मार्गप्रभावना और [**प्रवचनवत्सलत्वम्**] १६-प्रवचन-वात्सल्य [**इति तीर्थंकरत्वस्य**] ये सोलह भावना तीर्थंकर-नामकर्मके आस्रवका कारण है।

विशुद्धि होती है, वह तीर्थंकर नामकर्मके वन्धका कारण होती है। दृष्टांत—वचन-कर्मको (अर्थात् वचनरूपी कार्यको) योग कहा जाता है। परन्तु 'वचनयोग'का अर्थ ऐसा होता है कि 'वचन द्वारा होनेवाला जो आत्मकर्म सो योग है' क्योंकि जड़ वचन किसी वन्धके कारण नहीं हैं। आत्मामें जो आस्रव होता है वह आत्माकी चंचलतासे होता है, पुद्गल तो निमित्तमात्र है।

सिद्धांतः—दर्शनविशुद्धिको तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण कहा है, वहां वास्तवमें दर्शनकी शुद्धि स्वयं आस्रव-वन्धका कारण नहीं है, किन्तु राग ही वन्धका कारण है। इसीलिये दर्शनविशुद्धिका अर्थ ऐसा समझना योग्य है कि 'दर्शनके साथ रहा राग।' किसी भी प्रकारके वन्धका कारण कषाय ही है। सम्यग्दर्शनादि वन्धके कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शन जो आत्माको वन्धसे छुड़ानेवाला है, वह स्वयं वन्धका कारण कैसे हो सकता है? तीर्थंकर नामकर्म भी आस्रव-वन्ध ही है, इसीलिये सम्यग्दर्शनादि भी वास्तवमें उसका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मार्गमें जो दर्शन सम्वन्धी धर्मानुराग होता है वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शनके शंकादि दोष दूर हो जानेसे वह विशुद्धि होती है।

(देखो, तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ४९ से ५२ की टीका पृष्ठ २२१)

(२) विनयसम्पन्नता

१—विनयसे परिपूर्ण रहना सो विनयसंपन्नता है। सम्यग्ज्ञानादि गुणोंका तथा ज्ञानादि गुणसंयुक्त ज्ञानीका आदर उत्पन्न होना सो विनय है। इस विनयमें जो राग है वह आस्रव-बंधका कारण है।

२—विनय दो तरहकी है—एक शुद्धभावरूप विनय है, उसे निश्चय-विनय भी कहा जाता है। अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहना सो निश्चय-विनय है। यह विनय वन्धका कारण नहीं है। दूसरी शुभभावरूप विनय है, उसे व्यवहार-विनय भी कहते हैं। अज्ञानीके यथार्थ विनय होती ही नहीं। सम्यग्दृष्टिके शुभभावरूप विनय होती है और वह तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण है। छट्ठे गुणस्थानके वाद व्यवहार-विनय नहीं होती किन्तु निश्चय-विनय होती है।

(३) शील और व्रतोंमें अनतिचार

'शील' शब्दके तीन अर्थ होते हैं (१) सत् स्वभाव, (२) स्वदार संतोष और (३) दिग्व्रत आदि सात व्रत, जो अहिंसादि व्रतकी रक्षाके लिये होते हैं। सत् स्वभावका अर्थ क्रोधादि कषायके वश न होना है। यह शुभभाव है। जब अतिमन्द कषाय होती है तब यह

होता है। यहां 'शील' का प्रथम और तृतीय अर्थ लेना; दूसरा अर्थ व्रत शब्दमें आ जाता है। अहिंसा आदि व्रत हैं। अनतिचारका अर्थ है दोषोंसे रहितपन।

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगका अर्थ है सदा ज्ञानोपयोगमें रहना। सम्यग्ज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यमें विचारकर जो उसमें प्रवृत्ति करना सो ज्ञानोपयोगका अर्थ है। ज्ञानका साक्षात् तथा परम्परा फल विचारना। यथार्थ ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति और हिताहितकी समझ होती है, इसीलिये यह भी ज्ञानोपयोगका अर्थ है। अतः यथार्थ ज्ञानको अपना हितकारी मानना चाहिये। ज्ञानोपयोगमें जो वीतरागता है वह बन्धका कारण नहीं है, किन्तु जो शुभभावरूप राग है वह बन्धका कारण है।

(५) संवेग

सदा संसारके दुःखोंसे भीरुताका जो भाव है सो संवेग है। उसमें जो वीतरागभाव है वह बन्धका कारण नहीं है किन्तु जो शुभराग है वह बंधका कारण है। सम्यग्दृष्टियोंके जो व्यवहार-संवेग होता है वह रागभाव है। जब निर्विकल्प दशामें नहीं रह सकता तब ऐसा संवेगभाव निरन्तर होता है।

(६-७) शक्त्यनुसार त्याग तथा तप

१—त्याग दो तरहका है—शुद्धभावरूप और शुभभावरूप। उसमें [illegible] होती है उतने अंशमें वीतरागता है और वह बन्धका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके [illegible] शुभभावरूप त्याग होता है [illegible] कारण है। 'त्याग' का अर्थ दान देना भी होता है।

२—निज आत्माका शुद्ध स्वरूपमें [illegible] चैतन्यप्रतपन सो तप है। इच्छाओंके निरोधको [illegible] भावका जो निरोध सो तप है। [illegible] आता है। सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें [illegible] बन्धका कारण नहीं है, किन्तु जितने अंशमें [illegible] है। मिथ्यादृष्टिके यथार्थ तप नहीं होता [illegible] है। [illegible] का अर्थ [illegible] नहीं सकता। आत्माका [illegible]

(८) साधु समाधि

सम्यग्दृष्टि साधुके तपमें तथा आत्मसिद्धिमें विघ्न आता देखकर उसे दूर करनेका भाव और उनके समाधि बनी रहे ऐसा जो भाव है सो साधु-समाधि है; यह शुभराग है। यथार्थतया ऐसा राग सम्यग्दृष्टिके ही होता है, किन्तु उनके उस रागकी भावना नहीं होती।

(९) वैयावृत्त्यकरण

वैयावृत्त्यका अर्थ है सेवा। रोगी, छोटी उमरके या वृद्ध मुनियोंको सेवा करना सो वैयावृत्त्यकरण है। 'साधु-समाधि' का अर्थ है कि उसमें साधुका चित्त संतुष्ट रखना और 'वैयावृत्त्यकरण' में तपस्वियोंके योग्य साधन एकत्रित करना जो सदा उपयोगी हों—इस हेतुसे जो दान दिया जावे सो वैयावृत्त्य है, किन्तु साधु-समाधि नहीं। साधुओंके स्थानको साफ रखना, दुःखके कारण उत्पन्न हुए देखकर उनके पैर दबाना इत्यादि प्रकारसे जो सेवा करना सो भी वैयावृत्त्य है; यह शुभराग है।

(१०-१३) अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति

भक्ति दो तरह की है—एक शुद्धभावरूप और दूसरी शुभभावरूप। सम्यग्दर्शन परमार्थभक्ति अर्थात् शुद्धभावरूप भक्ति है। सम्यग्दृष्टिकी निश्चयभक्ति शुद्धात्मतत्त्वकी भावनारूप होनेसे बन्धका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभभावरूप सरागभक्ति होती है वह पंचपरमेष्ठीकी आराधनारूप है (देखो, श्री हिन्दी समयसार, आस्रव-अधिकार गाथा १७३ से १७६ जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका, पृष्ठ २५०)

१—अर्हंत और आचार्यका पंच परमेष्ठीमें समावेश हो जाता है। सर्वज्ञ केवली जिन भगवान अर्हंत हैं, वे सम्पूर्ण धर्मोपदेशमें विधाता हैं; वे साक्षात् ज्ञानी पूर्ण वीतराग हैं। २—साधु संघमें जो मुख्य साधु हों उनको आचार्य कहते हैं; वे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रके पालक हैं और दूसरोंको उसमें निमित्त होते हैं, और वे विशेष गुणाढ्य होते हैं। ३—बहुश्रुतका अर्थ 'बहुज्ञानी' 'उपाध्याय' या 'सर्व शास्त्रसम्पन्न' होता है। ४—सम्यग्दृष्टिकी जो शास्त्रकी भक्ति है सो प्रवचनभक्ति है। इस भक्तिमें जितना रागभाव है वह आस्रवका कारण है ऐसा समझना।

(१४) आवश्यक अपरिहाणि

आवश्यक अपरिहाणिका अर्थ है 'आवश्यक क्रियाओंमें हानि न होने देना।' जब सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धभावमें नहीं रह सकता तब अशुभभाव दूर करनेसे शुभभाव रह जाता

है; इससमय शुभरागरूप आवश्यक क्रियायें उसके होती हैं। उस आवश्यक क्रियाके भावमें हानि न होने देना उसे आवश्यक अपरिहाणि कहा जाता है। वह क्रिया आत्माके शुभभावरूप है किन्तु जड़ शरीरकी अवस्थामें आवश्यक क्रिया नहीं होती और न आत्मासे शरीरकी क्रिया हो सकती है।

(१५) मार्ग–प्रभावना

सम्यग्ज्ञानके माहात्म्यके द्वारा, इच्छा-निरोधरूप सम्यक्तपके द्वारा तथा जिनपूजा इत्यादिके द्वारा धर्मको प्रकाशित करना सो मार्ग-प्रभावना है। प्रभावनामें सबसे श्रेष्ठ आत्म-प्रभावना है, जोकि रत्नत्रयके तेजसे दैदीप्यमान होनेसे सर्वोत्कृष्ट फल देती है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभरागरूप प्रभावना है वह आस्रव-बन्धका कारण है परन्तु सम्यग्दर्शनादिरूप जो प्रभावना है वह आस्रव-बन्धका कारण नहीं है।

(१६) प्रवचन-वात्सल्य

सार्धर्मियोंके प्रति प्रीति रखना सो वात्सल्य है। वात्सल्य और भक्तिमें यह अन्तर है कि वात्सल्य तो छोटे-बड़े सभी साधर्मियोंके प्रति होता है और भक्ति अपनेसे जो बड़ा हो उसके प्रति होती है। श्रुत और श्रुतके धारण करनेवाले दोनोंके प्रति वात्सल्य रखना सो प्रवचन-वात्सल्य है। यह शुभरागरूप भाव है, सो आस्रव-बन्धका कारण है।

तीर्थंकरोंके तीन भेद

तीर्थंकर देव तीन तरहके हैं—(१) पंचकल्याणक [illegible] (२) [illegible] और (३) [illegible] कल्याणक। जिनके पूर्वभवमें तीर्थंकर प्रकृति बंध गई [illegible] ज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक होते हैं। [illegible] अवस्थामें तीर्थंकर प्रकृति बंध जाती है [illegible] होते है और जिनके वर्तमान मनुष्य [illegible] बंधती है उनके ज्ञान और निर्वाण [illegible] होते हैं। [illegible] तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्रमें ही होते [illegible] जातिस्मरण [illegible] और [illegible] दूसरे तीर्थंकर न हों वहां ही होते हैं। [illegible] तीर्थंकर होते हैं उस समीके [illegible]

अन्तरायकर्मके आस्रवका कारण

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थः—[**विघ्नकरणम्**] दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यमें विघ्न करना सो [**अंतरायस्य**] अन्तराय कर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

इस अध्यायके १० से २७ तकके सूत्रोंमें कर्मके आस्रवका जो कथन किया है वह अनुभाग सम्बन्धी नियम बतलाता है। जैसे किसी पुरुषके दान देनेके भावमें किसीने अन्तराय किया तो उस समय उसके जिन कर्मोंका आस्रव हुआ, यद्यपि वह सातों कर्मोंमें बँट गया तथापि उस समय दानांतराय कर्ममें अधिक अनुभाग पड़ा और अन्य प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग पड़ा। प्रकृति और प्रदेशबन्धमें योग निमित्त है तथा स्थिति और अनुभागबन्धमें कषायभाव निमित्त है ॥ २७ ॥

तक कैसे पहुँचे ?—इससे यह सिद्ध होता है कि जो बाह्य शरीरादिककी क्रिया है वह आस्रव नहीं है किन्तु अन्तरंग अभिप्रायमें जो मिथ्यात्वादि रागादिकभाव है वही आस्रव है। जो जीव उसे नहीं पहचानता उस जीवके आस्रवतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं है ।

(४) सम्यग्दर्शन हुये विना आस्रव तत्त्व किंचित्‌मात्र भी दूर नहीं होता, इसलिये जीवोंको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका यथार्थ उपाय प्रथम करना चाहिये। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानके विना किसी भी जीवके आस्रव दूर नहीं होते और न धर्म होता है।

(५) मिथ्यादर्शन संसारका मूल कारण है और आत्माके स्वरूपका जो अवर्णवाद है सो मिथ्यात्वके आस्रवका कारण है, इसलिये अपने स्वरूपका तथा आत्माकी शुद्ध पर्यायोंका अवर्णवाद न करना अर्थात् जैसा स्वरूप है वैसा यथार्थ समझकर प्रतीति करना (देखो, सूत्र १३ तथा उसकी टीका)

(६) इस अध्यायमें बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीवोंके समिति, अनुकम्पा, व्रत, सराग-संयम, भक्ति, तप, त्याग, वैयावृत्त्य, प्रभावना, आवश्यक क्रिया इत्यादि जो शुभभाव हैं वे सब आस्रव हैं बन्धके ही कारण हैं। मिथ्यादृष्टिके तो वास्तवमें ऐसे शुभभाव होते ही नहीं, उसके व्रत-तपके शुभभावको 'बालव्रत' और 'बालतप' कहा जाता है ।

(७) मृदुता, परकी प्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रता, अनुत्सेकता ये शुभराग होनेसे बन्धके कारण हैं; तथा राग कषायका अंश है अतः इससे घाति तथा अघाति दोनों प्रकारके कर्म बँधते हैं तथा यह शुभभाव है अतः अघाति कर्मोंमें शुभआयु, शुभगोत्र, साता[illegible] तथा शुभनामकर्म बँधते हैं; और इससे विपरीत अशुभभावोंके द्वारा अशुभ कर्मोंका [illegible] है। इस तरह शुभ और अशुभ दोनों भाव बन्धके ही कारण हैं। [illegible] है कि शुभ या अशुभ भाव करते-करते उससे क्रमशः शुद्ध[illegible]। [illegible] करते-करते सच्चा धर्म हो जायेगा ऐसी धारणा [illegible] है।

(८) सम्यग्दर्शन आत्माका पवित्र भाव है। [illegible] यह बताया है कि जब सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें [illegible] तरहके कर्मोंका आस्रव होता है। [illegible] वह आस्रव एक ही समयका होता है (अर्थात् [illegible] भी नहीं होता)। इस परसे यह सिद्ध हुआ कि [illegible] पवित्रता होती है [illegible] राग-द्वेष होता है [illegible] [illegible]

अतः उसके किसी भी अंशमें राग-द्वेषका अभाव नहीं होता और इसलिये उसके आस्रव-बन्ध दूर नहीं होते। सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें आगे बढ़ने पर जीवके किस तरहके शुभभाव आते हैं इसका वर्णन अब सातवें अध्यायमें करके आस्रवका वर्णन पूर्ण करेंगे, उसके बाद आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका और नवमें अध्यायमें संवर तथा निर्जरा तत्त्वका स्वरूप कहा जायगा। धर्मका प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन होनेपर संवर होता है, संवरपूर्वक निर्जरा होती है और निर्जरा होनेपर मोक्ष होता है, इसीलिये मोक्षतत्त्वका स्वरूप अंतिम अध्यायमें बतलाया गया है।

और इस अध्यायमें यह भी बताया है कि जीवके विकारी भावोंका परद्रव्यके साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इस तरह श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके हिन्दी अनुवादमें छट्ठा अध्याय समाप्त हुआ।

मोक्षशास्त्र-अध्याय सातवां
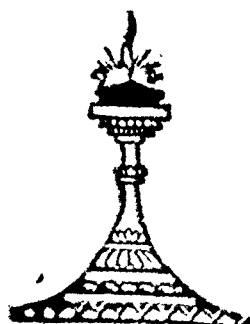
भूमिका

आचार्य भगवानने इस शास्त्रका प्रारम्भ करते हुये पहले ही सूत्रमें यह कहा है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।' उसमें गर्भितरूपसे यह भी आ गया कि इससे विरुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु संसारमार्ग है। इसप्रकार इस सूत्रमें जो विषय गर्भित रखा था वह विषय आचार्यदेवने इन छट्ठे-सातवें अध्यायमें स्पष्ट किया है। छट्ठे अध्यायमें कहा है कि शुभाशुभ दोनों आस्रव हैं और इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये इस सातवें अध्यायमें मुख्यरूपसे शुभास्रवका अलग वर्णन किया है।

पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें जो सात तत्त्व कहे हैं उनमेंसे जगतके जीव आस्रव-तत्त्वकी अजानकारीके कारण ऐसा मानते हैं कि 'पुण्यसे धर्म होता है।' कितने ही लोग शुभयोगको संवर मानते हैं तथा कितने ही ऐसा मानते हैं कि अणुव्रत, महाव्रत, मैत्री इत्यादि भावना, तथा करुणाबुद्धि इत्यादिसे धर्म होता है अथवा वह धर्मका (संवरका) कारण होता है, किन्तु यह मान्यता अज्ञानसे भरी हुई है। ये अज्ञान दूर करनेके लिये विशेष रूपसे यह एक अध्याय अलग बनाया है और उसमें इस विषयको स्पष्ट किया है।

धर्मकी अपेक्षासे पुण्य और पापका एकत्व गिना जाता है। [illegible] सिद्धान्त १४५ से लेकर १६३ वीं गाथा [illegible] कहा है कि लोग ऐसा मानते हैं कि [illegible] जो संसारमें प्रवेश कराये [illegible] गाथामें कहा है कि जो जीव परमार्थसे [illegible] पुण्य संसारका कारण है [illegible] पुण्य-पापका एकत्व बतलाया है। [illegible] पापमें विशेष नहीं (अर्थात् [illegible]) [illegible] घोर अपार संसारमें भ्रमण करता है। [illegible]

[illegible]

इस अध्यायमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके होनेवाले व्रत, दया, दान, करुणा, मैत्री इत्यादि भाव भी शुभ आस्रव हैं और इसीलिये वे बन्धके कारण हैं; तो फिर मिथ्यादृष्टि जीवके (–जिसके यथार्थ व्रत हो ही नहीं सकते) उसके शुभभाव धर्म, संवर, निर्जरा या उसका कारण किस तरह हो सकता है ? कभी हो ही नहीं सकता।

प्रश्नः—शास्त्रमें कई जगह कहा जाता है कि शुभभाव परम्परासे धर्मका कारण है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि जीव जब अपने चारित्र-स्वभावमें स्थिर नहीं रह सकते तब भी राग-द्वेष तोड़नेका पुरुषार्थ करते हैं, किंतु पुरुषार्थ कमजोर होनेसे अशुभभाव दूर होता है और शुभभाव रह जाता है। वे उस शुभभावको धर्म या धर्मका कारण नहीं मानते, किन्तु उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं। इसीलिये जब वह शुभभाव दूर हो जाय तब जो शुभभाव दूर हुआ उसे शुद्धभाव (–धर्म) का परम्परासे कारण कहा जाता है। साक्षात् रूपसे वह भाव शुभास्रव होनेसे बन्धका कारण है और जो बन्धका कारण होता है वह संवरका कारण कभी नहीं हो सकता।

अज्ञानीके शुभभावको परम्परा अनर्थका कारण कहा है। अज्ञानी तो शुभभावको धर्म या धर्मका कारण मानता है और उसे वह भला जानता है; उसे थोड़े समयमें दूर करके स्वयं अशुभ रूपसे परिणमेगा। इस तरह अज्ञानीका शुभभाव तो अशुभभावका (—पापका) परम्परा कारण कहा जाता है अर्थात् वह शुभको दूर कर जब अशुभरूपसे परिणमता है तब पूर्वका जो शुभभाव दूर हुआ उसे अशुभभावका परम्परासे कारण हुआ कहा जाता है।

(पंचास्तिकाय गाथा १६८ श्री जयसेनाचार्यकृत टीका)

इतनी भूमिका लक्षमें रखकर इस अध्यायके सूत्रोंमें रहे हुये भाव बराबर समझनेसे अनुकूलताकी भूल दूर हो जाती है।

व्रतका लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थः—[हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः] हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थोंके प्रति ममत्वरूप परिणमन-इन पांच पापोंसे (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना सो [व्रतम्] व्रत है।

चारित्रका विषय इस शास्त्रके ९ वें अध्यायके १८ वें सूत्रमें लिया है; वहां इस सम्बन्धी टीका लिखी है, वह यहां भी लागू होती है।

४—व्रत दो प्रकारके हैं—निश्चय और व्यवहार। राग-द्वेषादि विकल्पसे रहित होना सो निश्चयव्रत है। (देखो, द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका) सम्यग्दृष्टि जीवके स्थिरताकी वृद्धिरूप जो निर्विकल्पदशा है सो निश्चयव्रत है, उसमें जितने अंशमें वीतरागता है उतने अंशमें यथार्थ चारित्र है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप जो शुभभाव है सो अणुव्रत-महाव्रत है, उसे व्यवहारव्रत कहते हैं। इस सूत्रमें व्यवहारव्रतका लक्षण दिया है; इसमें अशुभभाव दूर होता है, किन्तु शुभभाव रहता है, वह पुण्यास्रवका कारण है।

५—श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५२ की टीकामें व्रत पुण्यबन्धका कारण है और अव्रत पापबन्धका कारण है यह बताकर इस सूत्रका अर्थ निम्नप्रकार किया है—

"इसका अर्थ है कि-प्राणियोंको पीड़ा देना, झूठ वचन बोलना, परधन-हरण करना, कुशीलका सेवन और परिग्रह-इनसे विरक्त होना सो व्रत है; ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, यह व्यवहारनयसे एकदेश व्रत हैं ऐसा कहा है।

जीवघातसे निवृत्ति, जीवदयामें प्रवृत्ति, असत्य-वचनसे निवृत्ति और सत्यवचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति, अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादि रूपसे वह एकदेश व्रत है।" (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९१–१९२) यहां अणुव्रत और महाव्रत दोनोंको एकदेश व्रत कहा है।

उसके बाद वहीं निश्चयव्रतका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है (निश्चयव्रत अर्थात् स्वरूपस्थिरता अथवा सम्यक्चारित्र)—

" और राग–द्वेपरूप संकल्प-विकल्पोंकी तरंगोंसे रहित तीन गुप्तियोंसे गुप्त समाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है।" (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९२)

सम्यग्दृष्टिके जो शुभाशुभका त्याग और शुद्धका ग्रहण है सो निश्चयव्रत है और उनके अशुभका त्याग और शुभका जो ग्रहण है सो व्यवहारव्रत है-ऐसा समझना। मिथ्यादृष्टिके निश्चय या व्यवहार दोनोंमेंसे किसी भी तरहके व्रत नहीं होते। तत्त्वज्ञानके बिना महाव्रतादिका आचरण मिथ्याचारित्र ही है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिके बिना व्रतरूपी वृक्ष ही नहीं होता।

१—व्रतादि शुभोपयोग वास्तवमें बन्धका कारण है। पंचाध्यायी भाग २ गाथा ७५८ से ६२ में कहा है कि 'यद्यपि रूढ़िसे शुभोपयोग भी 'चारित्र' इस नामसे प्रसिद्ध है, परन्तु अपनी अर्थक्रियाको करनेमें असमर्थ है इसलिये वह निश्चयसे सार्थक नामवाला

नहीं है ॥ ७५९ ॥ किन्तु वह अशुभोपयोगके समान बन्धका कारण है इसलिये वह श्रेष्ठ नहीं है । श्रेष्ठ तो वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥ ७६० ॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है यह बात विचार करनेपर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, **क्योंकि शुभोपयोग एकान्तसे बन्धका कारण होनेसे** वह शुद्धोपयोगके अभावमें ही पाया जाता है ॥ ७६१ ॥ बुद्धिके दोषसे ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एकदेश निर्जराका कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है ॥ ७६२ ॥

(श्री वर्णी ग्रन्थमालासे प्र० पंचाध्यायी पृष्ठ २७२-७३)

२—सम्यग्दृष्टिको शुभोपयोगसे भी बन्धकी प्राप्ति होती है ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रवचनसार गा० ११ में कहा है उसमें श्री अमृतचन्द्राचार्य उस गाथाकी सूचनिकामें कहते हैं कि 'अब जिनका चारित्रपरिणामके साथ सम्पर्क है ऐसे जो शुद्ध और शुभ (दो प्रकार) परिणाम हैं, उनके ग्रहण तथा त्यागके लिये (—शुद्ध परिणामके ग्रहण और शुभ परिणामके त्यागके लिये) उनका फल विचारते हैं:—

धर्मेण परिणतात्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः ।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥ ११ ॥

[illegible]

अन्वयार्थः—धर्ममें परिणमित स्वरूपवाला आत्मा [illegible] मोक्षसुखको प्राप्त करता है और यदि शुभ उपयोगवाला [illegible] प्राप्त करता है ।

टीका:—जब यह आत्मा [illegible]

[illegible]

मिथ्यादृष्टिको या सम्यग्दृष्टिको भी, राग तो बन्धका ही कारण है; शुद्धस्वरूप परिणमन मात्रसे ही मोक्ष है ।

३—समयसारके पुण्य-पाप अधिकारके ११० वें कलशमें श्री आचार्यदेव कहते हैं कि:—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११० ॥

अर्थः—जब तक ज्ञानकी कर्मविरति बराबर परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तब तक कर्म और ज्ञानका एकत्रपना शास्त्रमें कहा है; उसके एक साथ रहनेमें कोई भी क्षति अर्थात् विरोध नहीं है । परन्तु यहाँ इतना विशेष जानना कि आत्मामें अवशरूपसे जो कर्म प्रगट होते हैं अर्थात् उदय होता है **वह तो बन्धका कारण होता है, और मोक्षका कारण तो, जो एक परम ज्ञान ही है वह एक ही होता है** कि जो ज्ञान स्वतः विमुक्त है (अर्थात् त्रिकाल परद्रव्य-भावोंसे भिन्न है ।)

भावार्थः—जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक सम्यग्दृष्टिको दो धारायें रहती हैं—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा । वे दोनों साथ रहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है । (जिस प्रकार मिथ्याज्ञानको और सम्यग्ज्ञानको परस्पर विरोध है, उसी प्रकार कर्मसामान्यको और ज्ञानको विरोध नहीं है ।) **उस स्थितिमें कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है । जितने अंशमें शुभाशुभ कर्मधारा है उतने अंशमें कर्मबन्ध होता है; और जितने अंशमें ज्ञानधारा है उतने अंशमें कर्मका नाश होता जाता है । विषय-कषायके विकल्प अथवा व्रत-नियमके विकल्प-शुद्धस्वरूपका विकल्प तक कर्म बन्धका कारण है । शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्षका कारण है ।**

(समयसार नई गुजराती आवृत्ति; पृष्ठ २६३-६४)

पुनश्च, इस कलशके अर्थमें श्री राजमलजी भी साफ स्पष्टीकरण करते हैं कि:—

"यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा—'मिथ्यादृष्टिको यतिपना क्रियारूप है वह तो बन्धका कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टिको जो यतिपना शुभ--क्रियारूप है वह मोक्षका कारण है; क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूपी क्रिया—यह दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय करते हैं ।'—**ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करता है, उसका समाधान इस प्रकार है—**

जो कोई भी शुभ-अशुभ क्रिया—बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यके विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूपके विचार इत्यादि हैं—वह सब कर्मबन्धका कारण है; **ऐसी क्रियाका ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टिका ऐसा तो कोई भेद नहीं है** (अर्थात् अज्ञानीके उपरोक्त कथनानुसार शुभक्रिया मिथ्यादृष्टिको तो बन्धका कारण हो और वही क्रिया सम्यग्दृष्टिको मोक्षका कारण हो—ऐसा तो उनका भेद नहीं है) **ऐसी क्रियासे तो उसे (सम्यक्त्वीको भी) बन्ध है और शुद्धस्वरूप परिणमन मात्रसे मोक्ष है।** यद्यपि एक ही कालमें सम्यग्दृष्टि जीवको शुद्धज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी है; किन्तु उसमें **जो विक्रियारूप परिणाम है उससे तो मात्र बन्ध होता है; उससे कर्मका क्षय एक अंश भी नहीं होता**—ऐसा वस्तुका स्वरूप है;—तो फिर इलाज क्या?—उस काल ज्ञानीको शुद्ध स्वरूपका अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान द्वारा उस समय कर्मका क्षय होता है, उससे एक अंशमात्र भी बन्धन नहीं होता.—ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है; वह जैसा है वैसा कहते है।"

(देखो, समयसार कलश-टीका हिन्दी पुस्तक पृ० ११२ सूरतसे प्रकाशित)

उपरोक्तानुसार स्पष्टीकरण करके फिर उस कलशका अर्थ विस्तारपूर्वक किया है, उसमें तत्संबंधी भी स्पष्टता है, उसमें अन्तमें लिखते हैं कि—"**शुभक्रिया कदापि मोक्षका साधन नहीं हो सकती, वह मात्र बन्धन ही करनेवाली है—ऐसी श्रद्धा रखनेसे ही** [illegible] **मिथ्याबुद्धिका नाश होकर सम्यग्ज्ञानका लाभ होता।** मोक्षका [illegible] रत्नत्रयमय आत्माकी शुद्ध वीतराग परिणति है [illegible]

परिणति है उतने अंश नवीन कर्म-वन्ध नहीं करती किन्तु संवर-निर्जरा करती है और उसी समय जितने अंश रागभाव है उतने अंशसे कर्म-वन्ध भी होता है ।

५—श्री राजमल्लजीने 'वृत्तं कर्म स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि' पुण्य-पाप अ० की इस कलशकी टीकामें लिखा है कि 'जितनी शुभ या अशुभ क्रियारूप आचरण है—चारित्र है उससे स्वभावचारित्र—ज्ञानका (शुद्ध चैतन्यवस्तुका) शुद्ध परिणमन न होइ इसी निह्चो छै (-ऐसा निश्चय है ।) भावार्थ—जितनी शुभाशुभ क्रिया-आचरण हैं अथवा वाह्य वक्तव्य या सूक्ष्म अन्तरंग रूप चितवन अभिलाषा, स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्ध परिणमन है वह शुद्ध परिणमन नहीं है इससे वह वन्धका कारण है—मोक्षका कारण नहीं है । जैसे—कम्बलका नाहर—(कपड़े पर चित्रित शिकारी पशु) कहनेका नाहर है **वैसे-अशुभक्रिया आचरणरूप चारित्र कथनमात्र चारित्र है परन्तु चारित्र नहीं है निःसंदेहपने ऐसा जानो।**

(देखो रा० कलश टीका हिन्दी पृ० १०८)

६—राजमलजी कृत समयसार कलश टीका पृ० ११३ में सम्यग्दृष्टिके भी शुभभावकी क्रियाको वन्धक कहा है—**'वन्धाय समुल्लसति'** कहते जितनी क्रिया है उतनी ज्ञानावरणादि कर्म-वन्ध करती है, संवर-निर्जरा अंशमात्र भी नहीं करती; 'तत् एकं ज्ञानं मोक्षाय स्थितं' परन्तु वह एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश ज्ञानावरणादि कर्मक्षयका निमित्त है । भावार्थ ऐसा है जो एक जीवमें शुद्धत्व, अशुद्धत्व एक ही समय (एक ही साथमें) होते हैं, परन्तु जितना अंश शुद्धत्व है उतना अंश कर्मक्षपन है और जितने अंश अशुद्धत्व है उतने अंश कर्मवन्ध होते हैं, एक ही समय दोनों कार्य होते हैं, ऐसे ही है उनमें संदेह करना नहीं ।

(कलश टीका पृष्ठ ११३)

कविवर बनारसीदासजीने कहा है कि ××× पुण्य-पापकी दोउ क्रिया मोक्षपंथकी कतरनी; वन्धकी करैया दोउ, दुहूमें न भली कोउ, वाधक विचार में निषिद्ध कीनी करनी ॥१२॥

जौलों अष्ट कर्मको विनाश नांहि सरवथा,
तौलों अन्तरातमामें धारा दोई वरनी ॥
एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्मधारा,
दुहूकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी ॥
इतनो विशेष जु करमधारा वन्धरूप,
पराधीन शकति विविध वन्ध करनी ॥
ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्षकी करनहार,
दोषकी हरनहार भौ-समुद्र तरनी ॥ १४ ॥

७—श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पु० सि० उपाय गाथा २१२ से १४ में सम्यग्दृष्टिके संबंधमें कहा है कि जिन अंशोंसे यह आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमता है वे अंश सर्वथा बन्धके हेतु नहीं हैं; किन्तु जिन अंशोंसे यह रागादिक विभावरूप परिणमन करता है वे ही अंश बन्धके हेतु हैं। श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित पु० सि० में गा० १११ का अर्थ भाषा टीकाकारने असंगत कर दिया है जो अब निम्न लेखानुसार दिखाते हैं। [-अनगार धर्मामृतमें भी फुटनोटमें गलत अर्थ है]

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अन्वयार्थः—असम्पूर्ण रत्नत्रयको भावन करनेवाले पुरुषके जो शुभकर्मका बन्ध है सो बन्ध है सो बन्ध विपक्षकृत या बन्ध रागकृत होनेसे अवश्य ही मोक्षका उपाय है, बन्धका उपाय नहीं। अब सुसंगत-सच्चे अर्थके लिये देखो, श्री टोडरमलजीकृत पु० सि० वचन, प्रकाशक जिनवाणी-प्रचारक कार्यालय कलकत्ता पृ० ११५ गा० १११।

अन्वयार्थः—असमग्रं रत्नत्रय भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति सः विपक्षकृत रत्नत्रय तु मोक्षोपाय अस्ति, न बन्धनोपायः।

अर्थः—एकदेशरूप रत्नत्रयको पानेवाले पुरुषके जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नहीं होता। किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी जो राग-द्वेष है उनसे होता है। वह रत्नत्रय तो वास्तवमें मोक्षका उपाय है बन्धका उपाय नहीं होता।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि जीव जो एकदेश रत्नत्रयको [illegible] करता है [illegible] कर्म-बन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नहीं होता किन्तु [illegible] है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाले शुभ [illegible] है किन्तु [illegible] है।

अब रत्नत्रय और [illegible] सम्यग्दृष्टिके रागका बन्धका ही [illegible] मोक्षका ही कारण कहा है। फिर [illegible] है और दूसरा [illegible] कारण नहीं है और [illegible] आस्रव होता है वह सब शुभ [illegible] यह शुभोपयोगका ही अपराध है [illegible] (-शुभभावको) [illegible] है और [illegible]

कोई ऐसा मानते हैं कि, सम्यग्दृष्टिका शुभोपयोग मोक्षका सच्चा कारण है अर्थात् उससे संवर-निर्जरा है अतः वे बन्धका कारण नहीं हैं, तो यह दोनों मान्यता अयथार्थ ही हैं ऐसा उपरोक्त शास्त्राधारोंसे सिद्ध होता है।

६. इस सूत्रका सिद्धान्त

जीवोंको सबसे पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करना चाहिये, उसे प्रगट करनेके बाद निजस्वरूपमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना और जब स्थिर न रह सके तब अशुभभावको दूर कर देशव्रत-महाव्रतादि शुभभावमें लगे किन्तु उस शुभको धर्म न माने तथा उसे धर्मका अंश या धर्मका सच्चा साधन न माने। पश्चात् उस शुभभावको भी दूर कर निश्चय-चारित्र प्रगट करना अर्थात् निर्विकल्प-दशा प्रगट करना चाहिये।

व्रतके भेद

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थः—व्रतके दो भेद हैं-[**देशतः अणु**] उपरोक्त हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग करना सो अणुव्रत और [**सर्वतः महती**] सर्वदेश त्याग करना सो महाव्रत है।

टीका

१—शुभभावरूप व्यवहारव्रतके ये दो भेद हैं। पांचवें गुणस्थानमें देशव्रत होता है। और छट्ठे गुणस्थानमें महाव्रत होता है। अध्यायके २९ वें सूत्रमें कहा गया है कि यह व्यवहारव्रत आस्रव है। निश्चयव्रतकी अपेक्षा से ये दोनों प्रकारके व्रत एकदेश व्रत हैं (देखो, सूत्र १ की टीका, पैरा ५) सातवें गुणस्थानमें निर्विकल्प दशा होने पर यह व्यवहार महाव्रत भी छूट जाता है और आगे की अवस्थामें निर्विकल्प दशा विशेष विशेष दृढ़ होती है इसीलिये वहां भी ये महाव्रत नहीं होते।

२—सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक होता है। वह संकल्प पूर्वक त्रस जीवकी हिंसा न करे, न करावे तथा यदि दूसरा कोई करे तो उसे भला नहीं समझता। उसके स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं तथापि बिना प्रयोजन स्थावर जीवोंकी विराधना नहीं करता और प्रयोजनवश पृथ्वी, जल इत्यादि जीवोंकी विराधना होती है उसे भली-अच्छी नहीं जानता।

प्रश्नः—इस शास्त्रके अध्याय ९ के सूत्र १८ में व्रतको संवर कहा है और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे संवरके कारणमें गर्भित किया है, वहां दस प्रकारके धर्ममें अथवा संयममें उसका समावेश है अर्थात् उत्तम क्षमामें अहिंसा, उत्तम सत्यमें सत्य वचन, उत्तम शौचमें अचौर्य, उत्तम ब्रह्मचर्यमें ब्रह्मचर्य और उत्तम आकिंचन्यमें परिग्रह-त्याग—इस तरह

व्रतों का समावेश उसमें हो जाता है, तथापि यहां व्रतको आस्रवका कारण क्यों कहा है ?

उत्तरः— इसमें दोष नहीं, नववां संवर अधिकार है वहां निवृत्तिस्वरूप वीतराग-भावरूप व्रतको संवर कहा है और यहां आस्रव अधिकार है इसमें प्रवृत्ति दिखाई जाती है; क्योंकि हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि छोड़ देने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य वस्तुका ग्रहण वगैरह क्रिया होती है इसीलिये ये व्रत शुभकर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इन व्रतोंमें भी अव्रतोंकी तरह कर्मोंका प्रवाह होता है, इससे कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती, इसीलिये आस्रव अधिकारमें व्रतोंका समावेश किया है। (देखो, सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५-६)

४—मिथ्यात्व सदृश महापापको मुख्यरूपसे छुड़ानेकी प्रवृत्ति न करना और कुछ बातोंमें हिंसा बताकर उसे छुड़ानेकी मुख्यता करना सो क्रम-भंग उपदेश है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ५ पृष्ठ १६१)

५—एकदेश वीतराग और श्रावकको व्रतरूप दशाके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात् एकदेश वीतरागता होने पर श्रावकके व्रत होते ही हैं। इस तरह वीतरागताके और महाव्रतके भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, धर्मकी परीक्षा अन्तरंग वीतरागभावसे होती है, शुभभाव और बाह्य-संयोगसे नहीं होती। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

६. इस सूत्रमें कहे हुए त्यागका स्वरूप

यहां छद्मस्थके बुद्धिगोचर स्थूलत्वकी [illegible] किया है किन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मत्वकी [illegible] सकता। इसका उदाहरण:—

(१) अहिंसा [illegible]

अणुव्रतीके [illegible] होती है, [illegible] जीव मारनेका अभिप्राय नहीं [illegible] इन [illegible]

[illegible]

पृथ्वी खोदना, अप्रासुक जलसे क्रिया करना इत्यादि स्थावरकी हिंसाका त्याग नहीं हुआ है। और स्थूल त्रस जीवोंको पीड़ा पहुंचानेका नाम त्रसहिंसा है। उसे नहीं करता इसलिये उनकी उनके हिंसाका सर्वथा त्याग कहा जाता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

(२) सत्यादि चार व्रत सम्बन्धी

मुनिके असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहका त्याग है, परन्तु केवलज्ञानमें जाननेकी अपेक्षासे असत्य वचनयोग बारहवें गुणस्थान पर्यन्त कहा है, अदत्त कर्मपरमाणु आदि परद्रव्योंका ग्रहण तेरहवें गुणस्थान तक है, वेदका उदय नववें गुणस्थान तक है, अंतरंग परिग्रह दसवें गुणस्थान तक है, तथा समवसरणादि बाह्य परिग्रह केवली भगवानके भी होता है, परन्तु वहां प्रमादपूर्वक पापरूप अभिप्राय नहीं है। लोकप्रवृत्तिमें जिन क्रियाओंसे ऐसा नाम प्राप्त करता है कि 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है तथा परिग्रह रखता है', वे क्रियायें उनके नहीं हैं, इसलिये उनके असत्यादिकका त्याग कहा गया है।

(३) मुनिके मूलगुणोंमें पांच इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कहा है किन्तु इन्द्रियोंका जानना तो नहीं मिटता; तथा यदि विषयोंमें राग-द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो वहां यथाख्यातचारित्र हो जाय वह तो यहां हुआ, परन्तु स्थूलरूपसे विषय-इच्छाका अभाव हुआ है तथा बाह्य विषय-सामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है इसीलिये उनके इन्द्रियके विषयोंका त्याग कहा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

(४) त्रसहिंसाके त्याग सम्बन्धी

यदि किसीने त्रसहिंसाका त्याग किया तो वहां उसे चरणानुयोगमें अथवा लोकमें जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है। किन्तु केवलज्ञानके द्वारा जो त्रसजीव देखे जाते हैं उनकी हिंसाका त्याग नहीं बनता। यहां जिस त्रसहिंसाका त्याग किया उसमें तो उस हिंसारूप मनका विकल्प न करना सो मनसे त्याग है, वचन न बोलना सो वचनसे त्याग है और शरीरसे न प्रवर्तना सो कायसे त्याग है ॥२॥ (मोक्षमार्ग प्रकाशक से)

अब व्रतोंमें स्थिरताके कारण बतलाते हैं

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

अर्थः—[**तत्स्थैर्यार्थं**] उन व्रतोंकी स्थिरताके लिये [**भावनाः पंच पंच**] प्रत्येक व्रतकी पाँच-पांच भावनायें हैं।

किसी वस्तुका वारवार विचार करना सो भावना है ॥३॥

अहिंसा व्रतकी पाँच भावनायें

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थः—[वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि] वचनगुप्ति-वचनको रोकना, मनगुप्ति-मनकी प्रवृत्तिको रोकना, ईर्यासमिति-चार हाथ जमीन देखकर चलना, आदाननिक्षेपणसमिति-जीवरहित भूमि देखकर सावधानीसे किसी वस्तुको उठाना धरना और आलोकितपानभोजन—देखकर-शोधकर भोजन-पानी ग्रहण करना [**पंच**] ये पांच अहिंसा व्रतकी भावनायें हैं।

टीका

१—जीव परद्रव्यका कुछ कर नहीं सकता, इसीलिये वचन, मन इत्यादिकी प्रवृत्तिको जीव रोक नहीं सकता किन्तु बोलनेके भावको तथा मनकी तरफ लक्ष करनेके भावको रोक सकता है, उसे वचनगुप्ति तथा मनगुप्ति कहते हैं। ईर्यासमिति आदिमें भी इसी प्रकारसे अर्थ होता है। जीव शरीरको चला नहीं सकता किन्तु स्वयं एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जानेका भाव करता है और शरीर अपनी उस समयकी क्रियावती-शक्तिकी योग्यताके कारण चलने लायक हो तो स्वयं चलता है। जब जीव चलनेका भाव करता है तब उस समय शरीर उसकी अपनी योग्यतासे स्वयं चलता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। इसीलिये व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'वचनको रोकना, मनको रोकना, [illegible]' ऐसा कहा जाता है। इस कथनका यथार्थ [illegible]।

सत्य व्रतकी पाँच भावनायें

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५ ॥

अर्थः—[**क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि**] क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान हास्यप्रत्याख्यान अर्थात् क्रोधका त्याग करना, लोभका त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका त्याग करना, [**अनुवीचिभाषणं च**] और शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना [**पंच**] ये पांच सत्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

१. प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि निर्भय है इसीलिये निःशंक है और ऐसी अवस्था चौथे गुणस्थानमें होती है तो फिर यहां सम्यग्दृष्टि श्रावकको और मुनिको भयका त्याग करनेको क्यों कहा ?

उत्तरः— चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टि अभिप्रायकी अपेक्षासे निर्भय है। अनंतानुबंधी कषाय होती है तब जिसप्रकारका भय होता है उसप्रकारका भय उनके नहीं होता इसलिये उनको निर्भय कहा है; किन्तु वहाँ ऐसा कहनेका आशय नहीं है कि वे चारित्रकी अपेक्षासे सर्वथा निर्भय हुए हैं। चारित्र की अपेक्षा आठवें गुणस्थान पर्यंत भय होता है इसीलिये यहाँ श्रावकको तथा मुनिको भय छोड़नेकी भावना करनेको कहा है।

२. प्रत्याख्यान दो प्रकारका होता है—(१) निश्चयप्रत्याख्यान और (२) व्यवहार-प्रत्याख्यान। निश्चयप्रत्याख्यान निर्विकल्पदशारूप है, इसमें बुद्धिपूर्वक होनेवाले शुभाशुभ भाव छूटते हैं। व्यवहारप्रत्याख्यान शुभभावरूप है; इसमें सम्यग्दृष्टिके अशुभ-भाव छूटकर-दूर होकर शुभभाव रह जाते हैं। आत्मस्वरूपके अज्ञानीको—(वर्तमानमें आत्मस्वरूपका निश्चयज्ञान करनेकी मना करनेवालेको)-अर्थात् आत्मस्वरूपके ज्ञानका उपदेश वर्तमानमें मिलानेके प्रति जिसे अरुचि हो उसे शुभभावरूप व्यवहारप्रत्याख्यान भी नहीं होता। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि पांच महाव्रत निरतिचार पालते हैं उनके भी इस भावनामें बताये हुये प्रत्याख्यान नहीं होते। क्योंकि ये भावनायें पांचवें और छट्ठे गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिके ही होती हैं, मिथ्यादृष्टिके नहीं होतीं।

३. अनुवीचिभाषणः—यह भावना भी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही शास्त्रके मर्मकी खबर है, इसीलिये वह सत्-शास्त्रके अनुसार निर्दोष वचन बोलनेका भाव करता है। इस भावनाका रहस्य यह है कि सच्चे सुखकी खोज करनेवालेको जो सत्-

शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता हो और अध्यात्म-रस द्वारा अपने स्वरूपका अनुभव जिसे हुआ हो ऐसे आत्मज्ञानकी संगतिपूर्वक शास्त्रका अभ्यास करके उसका मर्म समझना चाहिये। शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोजन साधनेके लिये अनेक प्रकारका उपदेश दिया है, उसे यदि सम्यग्ज्ञानके द्वारा यथार्थ प्रयोजन पूर्वक पहिचाने तो जीवके हित-अहितका निश्चय हो। इसलिये 'स्यात्' पदकी सापेक्षता सहित जो जीव सम्यग्ज्ञान द्वारा हो प्रीति सहित जिन-वचनमें रमता है वह जीव थोड़े ही समयमें स्वानुभूतिसे शुद्धआत्म-स्वरूपको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गका प्रथम उपाय आगम-ज्ञान कहा है, इसलिये सच्चा आगम क्या है इसकी परीक्षा करके आगमज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगमज्ञानके बिना धर्मका यथार्थ साधन नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु जीवको यथार्थ बुद्धिके द्वारा सत्य आगमका अभ्यास करना और सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसीसे जीवका कल्याण होता है ॥ ५ ॥

अचौर्यव्रतकी पाँच भावनायें

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थः—[शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः] शून्यागारवास-पर्वतोंकी गुफा, वृक्षकी पोल इत्यादि निर्जन स्थानोंमें रहना, [illegible] दूसरोंके द्वारा छोड़े गये स्थानमें निवास करना, [illegible] हटाना तथा यदि कोई अपने स्थानमें आवे तो [illegible] रखना और साधर्मियोंके साथ यह मेरा है [illegible] पाँच अचौर्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

समान धर्मके धारक जैन साधु [illegible] क्योंकि विसंवादसे यह मेरा [illegible] करनेकी सम्भावना हो जाती है ॥ ६ ॥

[illegible]

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

अर्थः—[स्त्रीरागकथाश्रवण [illegible]

[**तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्यागः**] उनके मनोहर अंगोंको निरखकर देखनेका त्याग, [**पूर्वरतानुस्मरणत्यागः**] अव्रत अवस्थामें भोगे हुए विषयोंके स्मरणका त्याग, [**वृष्येष्टरसत्यागः**] कामवर्धक गरिष्ठ रसोंका त्याग और [**स्वशरीरसंस्कारत्यागः**] अपने शरीरके संस्कारोंका त्याग [**पंच**] ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

प्रश्नः— परवस्तु आत्माको कुछ लाभ-नुकसान नहीं करा सकती तथा आत्मासे परवस्तुका त्याग हो नहीं सकता, तो फिर यहां स्त्रीरागकी कथा सुनने आदिका त्याग क्यों कहा है ?

उत्तरः— आत्माने परवस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं किया और ग्रहण कर भी नहीं सकता, इसीलिये उनका त्याग ही किस तरह बन सकता है ? इसलिये वास्तवमें परका त्याग ज्ञानियोंने कहा है ऐसा मान लेना योग्य नहीं है। ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको स्त्रियों और शरीरके प्रति राग दूर करना चाहिये, अतः इस सूत्रमें उनके प्रति रागका त्याग करनेको कहा है। व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथनकी तरह नहीं मानना, परन्तु इस कथनका जो परमार्थरूप अर्थ हो वही समझना चाहिये।

यदि जीवके स्त्री आदिके प्रति राग दूर हो गया हो तो उस सम्बन्धी रागवाली बात सुननेकी तरफ उसकी रुचिका झुकाव क्यों हो ? इस तरहकी रुचिका विकल्प इस ओरका राग बतलाता है, इसलिये उस रागको त्याग करनेकी भावना इस सूत्रमें बतलाई है ॥ ६ ॥

परिग्रहत्याग व्रतकी पांच भावनायें

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८ ॥

अर्थः— [**मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि**] स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट-अनिष्ट विषयोंके प्रति राग-द्वेषका त्याग करना [**पंच**] सो पांच परिग्रहत्यागव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इसकी व्याख्या दूसरे अध्यायके १७-१८ सूत्रकी टीकामें दी है। भावेन्द्रिय वह ज्ञानका विकास है, वह जिन पदार्थोंको जानती है वे पदार्थ ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञेय हैं, किन्तु यदि उनके प्रति राग-द्वेष किया जावे तो

उसे उपचारसे इन्द्रियोंका विषय कहा जाता है। वास्तवमें वह विषय (ज्ञेयपदार्थ) स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं; किन्तु जिस समय जीव राग-द्वेष करता है तब उपचारसे उन पदार्थोंको इष्टानिष्ट कहा जाता है। इस सूत्रमें उन पदार्थोंकी ओर राग-द्वेष छोड़नेकी भावना करना बताया है।

रागका अर्थ प्रीति, लोलुपता और द्वेषका अर्थ नाराजी, तिरस्कार है ॥८॥

हिंसा आदिसे विरक्त होनेकी भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अर्थः—[**हिंसादिषु**] हिंसा आदि पांच पापोंसे [**इह अमुत्र**] इस लोकमें तथा परलोकमें [**अपायावद्यदर्शनम्**] नाशकी (दुःख, आपत्ति, भय तथा निंद्यगतिकी) प्राप्ति होती है-ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना चाहिये।

टीका

अपायः-अभ्युदय और मोक्षमार्गकी जीवकी क्रियाओंका नाश करनेवाला जो प्रयत्न है सो अपाय है। अवद्य-निंद्य, निंदाके योग्य है।

हिंसा आदि पापोंकी व्याख्या सूत्र १३ से १७ तक में दी गई है ॥९॥

व्रतधारी सम्यग्दृष्टिकी भावना

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥

अर्थः— [**सत्त्वेषु मैत्री**] प्राणीमात्रके प्रति निर्वैर बुद्धि [**गुणाधिकेषु प्रमोदं**] अधिक गुणवालोंके प्रति प्रमोद (हर्ष) [**क्लिश्यमानेषु कारुण्यं**] दुःखी रोगी जीवोंके प्रति करुणा और [**अविनयेषु माध्यस्थं**] हठाग्रही मिथ्यादृष्टि जीवोंके प्रति माध्यस्थ भावना–ये चार भावना अहिंसादि पाँच व्रतोंकी स्थिरताके लिये बारम्बार चिंतवन करने योग्य हैं।

टीका

सम्यग्दृष्टि जीवोंके यह चार भावनायें शुभभावरूपसे होती हैं। ये भावना मिथ्या-दृष्टिके नहीं होतीं, क्योंकि उसे वस्तुस्वरूपका विवेक नहीं है।

मैत्रीः—जो दूसरेको दुःख न देनेकी भावना है सो मैत्री है।

प्रमोदः—अधिक गुणोंके धारक जीवोंके प्रति [illegible] होना सो प्रमोद है।

कारुण्यः—दुःखी जीवोंको देखकर [illegible]

माध्यस्थः—जो जीव [illegible] रहता है, उसके प्रति उपेक्षाभाव [illegible]

२. इस सूत्रके अर्थके पूर्ण [illegible] लगाना—

(१) [illegible] करना योग्य है।

(२) [illegible] होता है।

(३) [illegible]

(स० सार कलश १९९) "जो अज्ञान--अन्धकारसे आच्छादित होकर आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे चाहे मोक्षके इच्छुक हों तो भी सामान्य (लौकिक) जनोंकी तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता ।"

'जो जीव व्यवहारसे मोहित होकर परद्रव्यका कर्तापन मानता है वह लौकिकजन हो या मुनिजन हो--मिथ्यादृष्टि ही है ।' (कलश २०१)

"क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सारा सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसीलिये जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुयें हैं वहां कर्ता--कर्मकी घटना नहीं होती--इसप्रकार मुनिजनो और लौकिकजनो ! तत्त्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो (-ऐसा श्रद्धान करना कि कोई किसीका कर्ता नहीं, परद्रव्य परका अकर्ता ही है)"

ऐसी सत्य:-यथार्थ बुद्धिको शिवबुद्धि अथवा कल्याणकारी बुद्धि कहते हैं ।

--शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, इत्यादि पर वस्तुओंमें जीवका संसार नहीं है, किन्तु मैं उन परद्रव्योंका कुछ कर सकता हूं अथवा मुझे उनसे सुख--दुःख होते हैं ऐसी विपरीत मान्यता (मिथ्यात्व) ही संसार है । संसार यानी (सं०+सृ) अच्छी तरह खिसक जाना । जीव अपने स्वरूपकी यथार्थ मान्यतामेंसे अनादिसे अच्छी तरह खिसक जानेका कार्य (विपरीत मान्यतारूपी कार्य) करता है इसीलिए यह संसार--अवस्थाको प्राप्त हुआ है । अतः जीवकी विकारी अवस्था ही संसार है. किन्तु जीवका संसार जीवसे बाहर नहीं है । प्रत्येक जीव स्वयं अपने गुण-पर्यायोंमें है, जो अपने गुण--पर्याय हैं सो जीवका जगत् है । न तो जीवमें जगत्के अन्य द्रव्य हैं और न यह जीव जगत्के अन्य द्रव्योंमें है ।

सम्यग्दृष्टि जीव जगत्के स्वरूपका इसप्रकार चिंतवन करते हैं ।

२. शरीरका स्वभाव

शरीर अनन्त रजकणोंका पिंड है । जीवका कार्माणशरीर और तैजसशरीरके साथ अनादिसे संयोग-सम्बन्ध है । सूक्ष्म होनेसे यह शरीर इन्द्रियगम्य नहीं । इसके अलावा जीवके एक स्थूल शरीर होता है; परन्तु जब एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब बीचमें जितना समय लगता है उतने समय तक (अर्थात् विग्रहगतिमें) जीवके स्थूल शरीर नहीं होता । मनुष्य तथा एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तकके तिर्यंचोंके जो स्थूल शरीर होता है वह औदारिकशरीर है और देव तथा नारकियोंके वैक्रियिकशरीर होता [illegible] आहारकशरीर होता है, और वह विशुद्ध संयमके धारक मुनियोंके [illegible] शरीर [illegible] अर्थात् [illegible]

जीवके नहीं। कार्माणशरीर तो इन्द्रियसे दिखाई नहीं देता तथापि ऐसा व्यवहार-कथन सुनकर कि 'संसारी जीवोंके कार्माण शरीर होता है' इसका यथार्थ आशय समझनेके बदले उसे निश्चय कथन मानकर अज्ञानी ऐसा मान लेते हैं कि वास्तवमें जीवका ही शरीर होता है।

शरीर अनन्त रजकणोंका पिण्ड है और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र द्रव्य है, वह हलन-चलनादिरूप अपनी अवस्था अपने कारणसे स्वतंत्ररूपसे धारण करता है। प्रत्येक परमाणु-द्रव्य अपनी नवीन पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न करता है और पुरानी पर्यायका अभाव करता है। इस तरह पर्यायके उत्पाद-व्ययरूप कार्य करते हुए वे प्रत्येक परमाणु ध्रुवरूपसे हमेशा बने रहते हैं। अतएव जगतके समस्त द्रव्य स्थिर रहकर बदलनेवाले हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव ऐसा भ्रम सेवन करते हैं कि जीव शरीरके अनन्त परमाणुद्रव्योंको चला सकता है और जगतके अज्ञानियोंकी ओरसे जीवको अपनी इस विपरीत मान्यताको बलवा-पनेसे—विशेषरूपसे पुष्टि मिला करती है। शरीरके साथ जो एकत्वबुद्धि है सो इस अज्ञानका कारण है अतः इसके फलस्वरूप जीवके अपने विकारभावके अनुसार नवीन शरीरका संयोग हुआ करता है। इस भूलको दूर करनेके लिये वस्तु और वस्तुके स्वभावकी यथार्थ समझनेकी आवश्यकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इस वस्तुस्वभावको [illegible] और यथार्थ मान्यताको विशेष स्थिर-चिन्तन [illegible] चिन्तवन करता रहता है।

(ब) कोई ग्रन्थकार राजा श्रेणिक और चेलना रानी का वर्णन करता हो, उस समय 'वे दोनों ज्ञानस्वरूप आत्मा थे और मात्र श्रेणिक और चेलनाके मनुष्यभवमें उनका सम्बन्ध था' यदि यह बात उनके लक्षमें हो और ग्रन्थ रचनेकी प्रवृत्ति हो तो वह परमार्थ सत्य है।
(देखो, श्रीमद् राजचंद्र आवृत्ति २ पृष्ठ ६१३)

(२) जीवने लौकिक-सत्य बोलनेका अनेकबार भाव किया है, किन्तु परमार्थ सत्यका स्वरूप नहीं समझा, इसीलिये जीवका भव-भ्रमण नहीं मिटता। सम्यग्दर्शनपूर्वक अभ्याससे परमार्थ सत्यकथनकी पहचान हो सकती है और उसके विशेष अभ्याससे सहज उपयोग रहा करता है। मिथ्यादृष्टिके कथनमें कारण विपरीतता, स्वरूप विपरीतता और भेदाभेद विपरीतता होती है, इसीलिये लौकिक अपेक्षासे यदि वह कथन सत्य हो, तो भी परमार्थसे उसका सर्व कथन सत्य है।

(३) जो वचन प्राणियोंको पीड़ा देनेके भावसहित हों वे भी अप्रशस्त हैं, और बादमें चाहे वचनोंके अनुसार वस्तुस्थिति विद्यमान हो तो भी वह असत्य है।

(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्वरूप वस्तुको अन्यथा कहना सो असत्य है। वस्तुके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका स्वरूप निम्नप्रकार है:—

द्रव्यः—गुणोंके समूह अथवा-अपनी त्रैकालिक सर्व पर्यायोंका समूह सो द्रव्य है। द्रव्यका लक्षण सत् है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है। गुण-पर्यायके समुदायका नाम द्रव्य है।

क्षेत्रः—स्वके जिस प्रदेशमें द्रव्य स्थिति हो वह उसका क्षेत्र है।

कालः—जिस पर्यायरूपसे द्रव्य परिणमे वह उसका काल है।

भावः—द्रव्यकी जो निजशक्ति-गुण है सो उसका भाव है।

इन चार प्रकारसे द्रव्य जिस तरह है उस तरह न मानकर अन्यथा मानना अर्थात् जीव स्वयं शरीर इत्यादि परद्रव्यरूप हो जाता है, अपनी अवस्था कर्म या शरीर इत्यादि परद्रव्य कराते हैं, कर सकते हैं और अपने गुण दूसरेसे हो सकते हैं, अथवा वे देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बनसे प्रगट हो सकते हैं; इत्यादि प्रकारसे मानना तथा उस मान्यताके अनुसार बोलना सो असत्य-वचन है। स्वके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें परवस्तुयें नास्तिरूप हैं; वह भूलकर उनका स्वयं कुछ कर सकता है ऐसी मान्यतापूर्वक बोलना सो भी असत्य है।

(५) ऐसा कहना कि आत्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है अथवा परलोक नहीं है सो असत्य है। ये दोनों पदार्थ आगमसे, युक्तिसे तथा अनुभवसे सिद्ध हो सकते हैं तथापि

उनका अस्तित्व न मानना सो असत्य है; और आत्माका स्वरूप जैसा न हो उसे वैसा कहना सो भी असत्य-वचन है।

३. प्रश्नः—वचन तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, उसे जीव नहीं कर सकता, तथापि असत्य-वचनसे जीवको पाप क्यों लगता है ?

उत्तरः—वास्तवमें पाप या बन्धन असत्य-वचनसे नहीं होता, किन्तु 'प्रमत्तयोगात्' अर्थात् प्रमादभावसे ही पाप लगता है और बन्धन होता है। असत्य-वचन जड़ है, वह तो मात्र निमित्त है। जब जीव असत्य बोलनेका भाव करता है तब यदि पुद्गल परमाणु वचनरूपसे परिणमनेके योग्य हों तो ही असत्य वचनरूपसे परिणमते हैं। जीव तो मात्र असत्य बोलनेका भाव करता है तथापि वहां भाषावर्गणा वचनरूप नहीं भी परिणमे, ऐसा होनेपर भी जीवका विकारीभाव ही पाप है वह बन्धका कारण है।

आठवें अध्यायके पहले सूत्रमें यह कहेंगे कि प्रमाद बन्धका कारण है।

४—अकषाय स्वरूपमें जाग्रत-सावधान रहनेसे ही प्रमाद दूर होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके चौथे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषाय पूर्वक [illegible] प्रमाद दूर हो जाता है, पांचवें गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक [illegible] प्रमाद दूर हो जाता है, छट्ठे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान [illegible] प्रमाद दूर हो जाता है, किन्तु तीव्र संज्वलन कषायपूर्वक [illegible] प्रमाद दूर होता जाता है और [illegible] है।

५—उपरोक्त प्रश्न, [illegible] नहीं हुई है, उसकी [illegible] वचन बोलनेसे जीव [illegible] [illegible] [illegible]

टीका

प्रश्नः—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण चोरी कहलायगा या नहीं ?

उत्तरः—वह चोरी नहीं कहा जायगा; जहाँ लेना-देना सम्भव हो वहीं चोरीका व्यवहार होता है, इस कारणसे 'अदत्त' शब्द दिया है।

प्रश्नः—मुनिराजके ग्राम-नगर इत्यादिमें भ्रमण करने पर गली-दरवाजा आदिमें प्रवेश करनेसे क्या अदत्तादान होता है ?

उत्तरः—यह अदत्तादान नहीं कहलाता, क्योंकि वह स्थान सभीके आने-जानेके लिए खुला है। पुनश्च, गली आदिमें प्रवेश करनेसे मुनिके प्रमत्तयोग नहीं होता।

चाहे बाह्य-वस्तुका ग्रहण हो या न भी हो तथापि चोरी करनेका जो भाव होता है वही चोरी है और वही बंधका कारण है। वास्तवमें परवस्तुको कोई ग्रहण कर ही नहीं सकता। परवस्तुके ग्रहण करनेका जो प्रमादयुक्त भाव है वही दोष है ॥१५॥

कुशील (अब्रह्मचर्य) का स्वरूप—

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

अर्थः— [**मैथुनमब्रह्म**] जो मैथुन है सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

टीका

१. मैथुनः—चारित्र मोहनीयके उदयमें युक्त होनेसे राग-परिणाम सहित स्त्रीपुरुषोंकी जो परस्परमें स्पर्श करनेकी इच्छा है सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुनकी है)

मैथुन दो प्रकारका है—निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूप है; आत्माकी अपने ब्रह्मस्वरूपमें जो लीनता है सो वास्तवमें ब्रह्मचर्य है और पर निमित्तसे-रागसे लाभ माननेरूप संयोगबुद्धि या कषायके साथ एकत्वकी बुद्धि होना सो अब्रह्मचर्य है, यही निश्चय-मैथुन है। व्यवहार-मैथुनकी व्याख्या ऊपर दी गई है।

२—तेरहवें सूत्र में कहे हुए 'प्रमत्तयोगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है, इसीलिये ऐसा समझना कि स्त्री-पुरुषके युगल संबंधसे रति-सुखके लिये जो चेष्टा (-प्रमाद परिणति) की जाती है वह मैथुन है।

३—जिसके पालनसे अहिंसादिक गुण वृद्धिको प्राप्त हों वह ब्रह्म है और जो ब्रह्मसे विरुद्ध है सो अब्रह्म है। अब्रह्म (--मैथुन) में हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, पुनश्च उसमें

टीका

१. शल्यः—शरीरमें भोंका गया बाण, कांटा इत्यादि शस्त्रकी तरह जो मनमें बाधा करे सो शल्य है, अथवा जो आत्माको कांटेकी तरह दुःख दे सो शल्य है।

शल्यके तीन भेद हैं-मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य।

मिथ्यादर्शनशल्यः—आत्माके स्वरूपकी श्रद्धाका जो अभाव है सो मिथ्यादर्शनशल्य है।

मायाशल्यः-छल, कपट, ठगाईका नाम मायाशल्य है।

निदानशल्यः—आगामी विषय-भोगोंकी वांछाका नाम निदानशल्य है।

२-मिथ्यादृष्टि जीव शल्य सहित ही है, इसीलिये उसके सच्चे व्रत नहीं होते, बाह्य-व्रत होते हैं। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि है इसीलिये वह भी यथार्थ व्रती नहीं। मायावी-कपटीके सभी व्रत झूठे हैं। इन्द्रियजनित विषय-भोगोंकी जो वांछा है सो तो आत्मज्ञानरहित राग है, उस राग सहित जो व्रत हैं वे भी अज्ञानीके व्रत हैं, वह धर्मके लिये निष्फल हैं, संसारके लिए सफल हैं, इसलिए परमार्थसे शल्य रहित ही व्रती हो सकता है।

३—द्रव्यलिंगीका अन्यथापन

प्रश्नः—द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोंको मानता है, तथापि उसे मिथ्यादृष्टि क्यों कहते हो?

उत्तरः—उसके विपरीत अभिनिवेश है, अतः शरीराश्रित क्रियाकांडको वह अपना मानता है (यह अजीवतत्त्वमें जीवतत्त्वकी श्रद्धा हुई); आस्रव-बन्धरूप शील-संयमादि परिणामोंको वह संवर-निर्जरारूप मानता है। यद्यपि वह पापसे विरक्त होता है परन्तु पुण्यमें उपादेय-बुद्धि रखता है, इसीलिये उसे तत्त्वार्थकी यथार्थ श्रद्धा नहीं; अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः—द्रव्यलिंगीके धर्मसाधनमें अन्यथापन क्यों है?

उत्तरः-(१) संसारमें नरकादिकके दुःख जानकर तथा स्वर्गादिकमें भी जन्ममरणादिके दुःख जानकर संसारसे उदास हो वह मोक्षको चाहता है। अब इन दुःखोंको तो सभी दुःख जानते हैं, किन्तु इन्द्र, अहमिन्द्रादिक विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर निराकुल अवस्थाको पहचानकर जो उसे मोक्ष जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

(२) विषय सुखादिकका फल नरकादिक है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है, वह पोषण करने योग्य नहीं, तथा कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं—इत्यादि परद्रव्योंका दोष विचारकर उसका त्याग करता है। परद्रव्योंमें इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धा करना सो मिथ्यात्व है।

(३) व्रतादिकका फल स्वर्ग-मोक्ष है, तपश्चरणादिक पवित्र फल देनेवाले हैं, उनके द्वारा शरीर शोषण करने योग्य है तथा देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं—इत्यादि परद्रव्योंके गुण विचारकर उन्हें अंगीकार करता है। परद्रव्यको हितकारी या अहितकारी मानना सो मिथ्यात्वसहित राग है।

(४) इत्यादि प्रकारसे कोई परद्रव्योंको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा कोई परद्रव्योंको भला जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है। परद्रव्यमें इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान करना सो मिथ्यात्व है। पुनश्च इसी श्रद्धानसे उसकी उदासीनता भी द्वेषरूप होती है क्योंकि किन्हीं परद्रव्योंको बुरा जानना सो द्वेष है। मो० प्र०।

(५) पुनश्च, जैसे वह पहले शरीराश्रित पापकार्योंमें कर्तृत्व मानता था उसी तरह अब शरीराश्रित पुण्यकार्योंमें अपना कर्तृत्व मानता है। [illegible] कार्योंमें अहंबुद्धि माननेकी समता हुई। जैसे पहले—मैं जीवोंको मारता हूँ [illegible] इत्यादि मान्यता थी, उसी तरह अब मैं जीवोंकी रक्षा करता हूँ [illegible] ऐसी मान्यता हुई, सो शरीर-आश्रित कार्यमें [illegible]

प्रश्नः—क्या सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्योंको बुरा जानकर त्याग करता है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नहीं जानता; वह ऐसा जानता है कि परद्रव्यका ग्रहण-त्याग हो ही नहीं सकता। वह अपने रागभावको बुरा जानता है इसीलिये सराग-भावको छोड़ता है और उसके निमित्तरूप परद्रव्योंका भी सहजमें त्याग होता है। पदार्थका विचार करनेपर कोई परद्रव्य भला या बुरा है ही नहीं। मिथ्यात्वभाव ही सबसे बुरा है। सम्यग्दृष्टिने वह मिथ्याभाव तो पहले ही छोड़ा हुआ है।

(३) **प्रश्नः**—जिसके व्रत हो उसे ही व्रती कहना चाहिये, उसके बदले ऐसा क्यों कहते हो कि 'जो निःशल्य हो वह व्रती होता है ?'

उत्तरः—शल्यका अभाव हुये विना कोई जीव हिंसादिक पापभावोंके दूर होने मात्रसे व्रती नहीं हो सकता। शल्यका अभाव होनेपर व्रतके सम्बन्धसे व्रतीपना होता है, इसीलिये सूत्रमें निःशल्य शब्दका प्रयोग किया है ॥ १८ ॥

व्रतीके भेद

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थः—[**अगारी**] अगारी अर्थात् सागार (गृहस्थ) [**अनगारः च**] और अनगार (गृहत्यागी भावमुनि) इस प्रकार व्रतीके दो भेद हैं।

नोटः—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतोंको पालनेवाले मुनि अनगारी कहलाते हैं और देशव्रतको पालनेवाले श्रावक सागारी कहलाते हैं ॥ १९ ॥

सागारका लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अर्थः—[**अणुव्रतः**] अणुव्रत अर्थात् एकदेशव्रत पालनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव [**अगारी**] सागार कहे जाते हैं।

टीका

यहांसे अणुव्रतधारियोंका विशेष वर्णन प्रारम्भ होता है और इस अध्यायके समाप्त होने तक यही वर्णन है। अणुव्रतके पांच भेद हैं—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ॥ २० ॥

अब अणुव्रतके सहायक सात शीलव्रत कहते हैं

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

अर्थः—[च] और फिर वे व्रत [दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नः] दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण (मर्यादा) तथा अतिथिसंविभागव्रत ये चार शिक्षाव्रत सहित होते हैं अर्थात् व्रतधारी श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों सहित होता है।

टीका

होते। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मल और अगाढ़ दोष सहित होता है इसलिये उसमें अतिचार लगता है।

२—सम्यग्दृष्टिके आठ गुण (अंग, लक्षण अथवा आचार) होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

३—सम्यग्दर्शनके जो पांच अतिचार कहे हैं उनमेंसे पहले तीन जो निःशंकितादि पहले तीन गुणोंमें आनेवाले दोष हैं और बाकीके दो अतिचारोंका समावेश अंतिम पांच गुणोंके दोषमें होता है। चौथेसे सातवें गुणस्थानवाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके ये अतिचार होते हैं अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनवाले मुनि, श्रावक या सम्यग्दृष्टि-इन तीनोंके ये अतिचार हो सकते हैं। जो अंशरूपसे भंग हो (अर्थात् दोष लगे) उसे अतिचार कहते हैं, और उससे सम्यग्दर्शन निर्मूल नहीं होता, मात्र मलिन होता है।

४—शुद्धात्मस्वभावकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके सद्भावमें सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहां मिथ्यात्व-प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। पुनश्च, दूसरे गुणस्थानमें भी सम्यग्दर्शनसम्बन्धी व्यवहारदोष होते हैं तथापि वहां भी मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्धन नहीं है।

५—सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, मोक्षमहलकी पहली सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त नहीं होते। अतः योग्य जीवोंको यह उचित है कि जैसे भी बने वैसे आत्माके वास्तविक स्वरूपको समझकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे अपनी आत्माको भूषित करे और सम्यग्दर्शनको निरतिचार बनावे। धर्मरूपी कमलके मध्यमें सम्यग्दर्शनरूपी नाल शोभायमान है, निश्चयव्रत, शील इत्यादि उसकी पंखुड़ियाँ हैं। इसलिये गृहस्थों और मुनियोंको इस सम्यग्दर्शनरूपी नालमें अतीचार न आने देना चाहिये।

६. पंच अतिचारके स्वरूप

शंका:—निज-आत्माको ज्ञाता-दृष्टा, अखंड, अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जानकर भी इस लोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और अकस्मात्—इन सात भयोंको प्राप्त होना अथवा अर्हन्त सर्वज्ञ वीतरागदेवके कहे हुये तत्त्वके स्वरूपमें सन्देह होना सो शंका नामक अतिचार है।

काँक्षा:— इस लोक या परलोक सम्बन्धी भोगोंमें तथा मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान या आचरणादिमें वांछा हो आना सो वाँछा अतिचार है। यह राग है।

विचिकित्साः—रत्नत्रयके द्वारा पवित्र किन्तु बाह्यमें मलिन शरीरवाले मुनियोंको देखकर उनके प्रति अथवा धर्मात्माके गुणोंके प्रति या दुःखी दरिद्री जीवोंको देखकर उनके प्रति ग्लानि हो जाना सो विचिकित्सा अतिचार है। यह द्वेष है।

अन्यदृष्टि प्रशंसाः—आत्मस्वरूपके अजानकार जीवोंके ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दान आदिको निजमें प्रगट करनेका मनमें विचार होना अथवा उसे भला जानना सो अन्यदृष्टिप्रशंसा अतिचार है। (अन्यदृष्टिका अर्थ मिथ्यादृष्टि है)

अन्यदृष्टि संस्तवः—आत्मस्वरूपके अनजान जीवोंके ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दानादिकके फलको भला जानकर वचन द्वारा उनकी स्तुति करना सो अन्यदृष्टि संस्तव अतिचार है।

७—ये समस्त दोष होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें दोषरूपसे [illegible] और [illegible] दोषोंका उसे खेद है, इसलिये ये अतिचार हैं। किन्तु जो जीव इन दोषोंको [illegible] और उपादेय माने उसके तो ये अनाचार हैं अर्थात् वह तो मिथ्यादृष्टि [illegible]।

८—आत्माका स्वरूप समझनेके लिये [illegible] नहीं किन्तु आशंका है; अतिचारोंमें जो [illegible] प्रशंसा और संस्तवमें जाना खेद है कि [illegible] होता है ॥ २३ ॥

शुभभाव है सो व्यवहार दान है । वस्तु लेने-देनेकी जो क्रिया है वह तो परसे स्वतः होने योग्य परद्रव्यकी क्रिया है , और परद्रव्यकी क्रिया (-पर्याय) में जीवका व्यवहार नहीं है।

४—जिससे स्वके तथा परके आत्मधर्मकी वृद्धि हो ऐसा दान गृहस्थोंका एक मुख्य व्रत है । इस व्रतको अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं । श्रावकोंके प्रतिदिन करने योग्य छह कर्तव्यों में भी दानका समावेश होता है ।

५—इस अधिकारमें शुभास्रवका वर्णन है । सम्यग्दृष्टि जीवोंको शुद्धताके लक्षसे शुभभावरूप दान कैसे हो यह इस सूत्रमें बताया है । सम्यग्दृष्टि ऐसा कभी नहीं मानते कि शुभभावसे धर्म होता है, किन्तु निज-स्वरूपमें स्थिर नहीं रह सकते तब शुद्धताके लक्षसे अशुभभाव दूर होकर शुभभाव रह जाता है अर्थात् स्वरूप सन्मुख जागृतिका मंद प्रयत्न करनेसे-अशुभराग न होकर शुभराग होता है । वहां ऐसा समझता है कि जितना अशुभराग दूर हुआ उतना लाभ है और जो शुभराग रहा वह आस्रव है, बन्ध मार्ग है, ऐसा समझकर उसे भी दूर करनेकी भावना रहती है, इसीलिये उनके आंशिक शुद्धताका लाभ होता है। मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकारका दान नहीं कर सकते । यद्यपि वे सम्यग्दृष्टिकी तरह दानकी बाह्य-क्रिया करते हैं किन्तु इस सूत्रमें कहा हुआ दानका लक्षण उनके लागू नहीं होता क्योंकि उसे शुद्धताकी प्रतीति नहीं है और वह शुभको धर्म और अपना स्वरूप मानता है। इस सूत्र में कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टि के ही लागू होता है ।

६-यदि इस सूत्रका सामान्य अर्थ किया जावे तो वह सब जीवोंके लागू हो । आहार आदि तथा धर्म-उपकरण या धन आदि देनेकी जो बाह्य-क्रिया है सो दान नहीं, परन्तु उस समय जीवका जो शुभभाव है सो दान है । श्रीपूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिमें इस सूत्रकी उत्थानिकामें दानकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं:—

शीलविधानमें अर्थात् शिक्षाव्रतोंके वर्णनमें अतिथिसंविभागव्रत कहा गया, किन्तु उसमें दानका लक्षण नहीं बताया इसलिये वह कहना चाहिये, अतएव आचार्य दानके लक्षणका सूत्र कहते हैं ।

उपरोक्त कथनसे मालूम होता है कि इस सूत्रमें कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टि जीवके शुभास्रवमें है ।

७—इस सूत्रमें प्रयोग किया गया स्व-शब्दका अर्थ धन होता है, और धनका अर्थ होता है अपने स्वामित्व-अधिकारकी वस्तु ।

८. करुणादान

करुणादान तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको होता है किन्तु उनके भावमें

महान् अन्तर है। दानके यह चार भेद हैं–१. आहारदान २. औषधिदान ३ अभयदान और ४. ज्ञानदान। आवश्यकतावाले जैन-अजैन, मनुष्य या तिर्यंच आदि किसी भी प्राणीके प्रति अनुकम्पा बुद्धिसे यह दान हो सकता है। मुनिको जो आहारदान दिया जाता है वह करुणा-दान नहीं किन्तु भक्तिदान है। जो अपनेसे महान् गुण धारण करनेवाले हों उनके प्रति भक्तिदान होता है। इस सम्बन्धी विशेष वर्णन इसके बादके सूत्रकी टीकामें किया है ॥३८॥

ये नव क्रियाएँ क्रमसे होनी चाहिए। यदि ऐसा क्रम न हो तो मुनि आहार नहीं लेते।

१. प्रश्नः—इस प्रकार नवधाभक्तिपूर्वक स्त्री मुनिको आहार दे या नहीं ?

उत्तरः—हाँ, स्त्रीका किया हुआ और स्त्रीके हाथसे भी साधु आहार लेते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जब भगवान महावीर छद्मस्थ मुनि थे तब चंदनबालाने नवधाभक्तिपूर्वक उनको आहार दिया था।

दातारमें रहे हुये इन गुणोंकी हीनाधिकताके अनुसार उसके दानका फल होता है।

५. पात्रविशेष

सत्पात्र तीन तरहके हैं—

(१) उत्तमपात्रः—सम्यक्चारित्रवान् मुनि।

(२) मध्यमपात्रः—व्रतधारी सम्यक्दृष्टि।

(३) जघन्यपात्रः—अविरत सम्यग्दृष्टि।

ये तीनों सम्यग्दृष्टि होनेसे सुपात्र हैं। जो जीव बिना सम्यग्दर्शनके बाह्य व्रत सहित हो वह कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित तथा बाह्यव्रत चारित्रसे भी रहित हैं वे जीव अपात्र हैं।

इन दो के अतिरिक्त पहलेके दो दान भी गृहस्थोंके व्यावहारिक होते हैं। जिनको भगवान वीतरागी है, उनके दानकी इच्छा नहीं होती ॥३९॥

([illegible] पृ० २५०)

उपसंहार

१—इस अधिकारमें पुण्यास्रवका वर्णन है। व्रत पुण्यास्रवका कारण है। अठारहवें सूत्रमें व्रतीकी व्याख्या दी है। उसमें बतलाया है कि जो जीव मिथ्यात्व, माया, निदान इन तीन शल्योंसे रहित हो वही व्रती हो सकता है। ऐसी व्याख्या नहीं की कि 'जिसके व्रत हो सो व्रती है', इसलिये यह खास ध्यानमें रहे कि व्रती होनेके लिये निश्चय-सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों होने चाहिये।

२—सम्यग्दृष्टि जीवके आंशिक वीतराग-चारित्रपूर्वक महाव्रतादिरूप शुभोपयोग हो उसे सरागचारित्र कहते हैं। यह सरागचारित्र अनिष्ट फलवाला होनेसे छोड़ने योग्य है। जिसमें कपायकण विद्यमान हैं अतः जो जीवको पुण्यबन्धकी प्राप्तिका कारण है ऐसा सराग-चारित्र बीचमें आ गया हो तथापि सम्यग्दृष्टिके उसके दूर हो जानेका प्रयत्न चालू होता है।

(देखो, प्रवचनसार गाथा १-५-६ टीका)

३—महाव्रतादि शुभोपयोगको उपादेयरूप-ग्रहणरूप मानना सो मिथ्यादृष्टित्व है। इस अध्यायमें उन व्रतोंको आस्रवरूपसे वर्णित किया है तो वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो-बन्धका ही साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है, इसीलिये इन महाव्रतादि-रूप आस्रवभावोंमें चारित्रका संभव नहीं होता। चारित्र-मोहके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयमें युक्त होनेसे जो महामंद प्रशस्त राग होता है वह तो चारित्रका दोष है। उसे अमुक दशातक न छूटनेवाला जानकर ज्ञानी उसका त्याग नहीं करते और सावद्ययोगका ही त्याग करते हैं। किन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है और कोई हरितकायका आहार करता है किन्तु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार मुनि हिंसादि तीव्र कपायरूप भावोंका त्याग करते हैं तथा कोई मन्द-कषायरूप महाव्रतादिको पालते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ, २२९-२३०)

४—इस आस्रव अधिकारमें अहिंसादि व्रतोंका वर्णन किया है। इससे ऐसा समझना कि किसी जीवको न मारना ऐसे शुभभावरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-भाव ये सब पुण्यास्रव हैं। इस अधिकारमें संवर-निर्जराका वर्णन नहीं है। यदि ये अहिंसादि संवर-निर्जराका कारण होते तो इस आस्रव अधिकारमें आचार्यदेव उनका वर्णन नहीं करते।

७—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग करना सो व्रत है—ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १०१ वीं गाथामें कहा है; १०२ वीं बतलाया है कि यह व्रत पुण्यास्रव ही है। गाथा १०३ में कहा है कि संसारमार्ग में पुण्य और पापके बीच भेद है किन्तु उसके बाद पृ० २५६ गाथा १०४ में स्पष्टरूपसे कहा है कि—मोक्षमार्गमें **पुण्य और पापके बीच भेद (विशेष, पृथक्त्व) नहीं है। क्योंकि ये दोनों संसारके कारण हैं**—इस तरह बतलाकर आस्रव अधिकार पूर्ण किया है।

८. प्रश्नः—व्रत तो त्याग है, यदि त्यागको पुण्यास्रव कहोगे और धर्म न कहोगे तो फिर त्यागका त्याग धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तरः—(१) व्रत शुभभाव है; शुभभावका त्याग दो प्रकारसे होता है—एक प्रकारका त्याग तो यह कि 'शुभको छोड़कर अशुभमें जाना' सो यह तो जीव अनादिसे करता आया है, लेकिन यह त्याग धर्म नहीं किंतु पाप है। दूसरा प्रकार यह है कि—सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धता प्रगट करने पर शुभका त्याग होता है; यह त्यागधर्म है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्यके आलंवन द्वारा व्रतरूप शुभभावका भी त्याग करके ज्ञानमें स्थिरता करते हैं; यह स्थिरता ही चारित्रधर्म है। इस प्रकार जितने अंशमें वीतरागचारित्र बढ़ता है उतने अंशमें व्रत और अव्रतरूप शुभाशुभभावका त्याग होता है।

(२) यह ध्यान रहे कि व्रतमें शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग नहीं है, परन्तु व्रतमें अशुभभावका त्याग और शुभभावका ग्रहण है अर्थात् व्रत राग है, और अव्रत तथा व्रत (अशुभ तथा शुभ) दोनोंका जो त्याग है सो वीतरागता है। शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपूर्वक ही हो सकता है।

(३) 'त्याग' तो नास्तिवाचक है। यदि वह अस्ति सहित हो तव यथार्थ नास्ति कही जाती है। अब यदि व्रतको त्याग कहें तो वह त्यागरूप नास्ति होने पर आत्मामें अस्ति-रूपसे क्या हुआ? इस अधिकारमें यह बतलाया है कि वीतरागता तो सम्यक्चारित्रके द्वारा प्रगट होती है और व्रत तो आस्रव है, इसीलिये व्रत सच्चा त्याग नहीं, किन्तु जितने अंशमें वीतरागता प्रगट हुई उतना सच्चा त्याग है। क्योंकि जहाँ जितने अंशमें वीतरागता हो वहां उतने अंशमें सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता है, और उसमें शुभ-अशुभ दोनोंका (अर्थात् व्रत-अव्रत दोनोंका) त्याग होता है।

इसप्रकार श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके
हिन्दी अनुवादमें यह सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

होते, यह जीव मात्र अपनी भूलसे (मिथ्या मान्यतासे) उन्हें अपना मानता है ।

(३) मनुष्यादि अवस्थामें किसी समय देव-गुरु-शास्त्र अथवा धर्मका जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है उसकी तो प्रतीति करता है किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है उसका ज्ञान नहीं करता ।

(४) जगत्की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने अपने आधीन परिणमते हैं, किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता और यों मानता है कि स्वयं उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है ।

ऊपर कही गई सब मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है । स्वका और परद्रव्योंका जैसा स्वरूप नहीं है वैसा मानना तथा जैसा है वैसा न मानना सो विपरीत अभिप्राय होनेके कारण मिथ्यादर्शन है ।

(५) जीव अनादिकालसे अनेक शरीर धारण करता है, पूर्वका छोड़कर नवीन धारण करता है; वहाँ एक तो स्वयं आत्मा (जीव) तथा अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर—इन दोनोंके एक [illegible]बन्धनरूप यह अवस्था होती है; उन सबमें यह ऐसी अहंबुद्धि करता है कि '[illegible] मैं हूँ ।' जीव तो ज्ञानस्वरूप है और पुद्गल परमाणुओंका स्वभाव वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि [illegible] सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि 'ये मेरे हैं ।' हलन-चलन आदि क्रिया शरीर करता है, उसे जीव ऐसा मानता है कि 'मैं करता हूँ ।' अनादिसे इन्द्रिय-[illegible]—[illegible] और दृष्टि है इसीलिये स्वयं अमूर्तिक तो अपनेको नहीं मालूम होता और मूर्तिक शरीर ही मालूम होता है, इसी कारण जीव अन्यको अपना स्वरूप जानकर उसमें अहंबुद्धि धारण करता है । निजका स्वरूप निजको परसे भिन्न नहीं मालूम हुआ अर्थात् [illegible], क्रोधादि विकार तथा सगे-सम्बन्धियोंका समुदाय इन सबमें स्वयं अहंबुद्धि [illegible] है, [illegible] स्वका और शरीरका स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है यह [illegible] शरीरसे स्वकी भिन्नता नहीं मालूम होती ।

[illegible] स्वभाव से ज्ञाता-द्रष्टा है तथापि स्वयं केवल देखनेवाला तो नहीं [illegible] भिन्न भिन्न पदार्थोंको देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टरूप मानता है । यह [illegible] मानना सो मिथ्या है क्योंकि कोई भी पदार्थ इष्टानिष्टरूप नहीं है । यदि [illegible] इष्ट-अनिष्टपन हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सभीको इष्टरूप ही हो तथा [illegible] वह सबको अनिष्टरूप ही हो, किन्तु ऐसा तो नहीं होता । [illegible] इष्ट-अनिष्टपना मानता है । यह मान्यता मिथ्या है—झूठी है ।

मिथ्यात्व अनादिकालीन है। जो ऐसी मान्यता है कि जीव परद्रव्यका कुछ कर सकता है या शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है सो यह अनादिका अगृहीत मिथ्यात्व है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायमें जन्म होनेके बाद परोपदेशके निमित्तसे जो अतत्त्वश्रद्धान करता है सो गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत मिथ्यात्वको निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्वको बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते हैं। जिसके गृहीत मिथ्यात्व हो उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है।

अगृहीत मिथ्यात्वः—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी अनादिसे चली आयी जो जीवकी मान्यता है सो मिथ्यात्व है; यह किसीके सिखानेसे नहीं हुआ इसलिये अगृहीत है।

गृहीत मिथ्यात्वः—खोटे देव-शास्त्र-गुरुकी जो श्रद्धा है सो गृहीत मिथ्यात्व है।

२. प्रश्नः—जिस कुलमें जीव जन्मा हो उस कुलमें माने हुए देव, गुरु, शास्त्र सच्चे हों और यदि जीव लौकिकरूढ़ दृष्टिसे सच्चा मानता हो तो उसके गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं?

उत्तरः—नहीं, उसके भी गृहीत मिथ्यात्व है, क्योंकि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रका स्वरूप क्या है तथा कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रमें क्या दोष हैं इसका सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करके सभी पहलुओंसे उसके गुण (Merits) और दोष (Demerits) का यथार्थ निर्णय न किया हो वहाँ तक जीवके गृहीत मिथ्यात्व है और वह सर्वज्ञ वीतरागदेवका सच्चा अनुयायी नहीं है।

३. प्रश्नः—इस जीवने पहले कई वार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा होगा या नहीं?

उत्तरः—हां, जीवने पहले अनन्तवार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा और द्रव्यलिंगी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले, परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा इसीलिये संसार बना रहा; और फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया। निर्ग्रन्थदशापूर्वक पंच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूल गुणादिकका जो शुभविकल्प है सो द्रव्यलिंग है। गृहीत मिथ्यात्व छोड़े विना जीव द्रव्यलिंगी नहीं हो सकता और द्रव्यलिंगके विना निरतिचार महाव्रत नहीं हो सकते। वीतराग भगवानने द्रव्यलिंगीके निरतिचार महाव्रतको भी वालव्रत और असंयम कहा है क्योंकि उसने अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा।

७-गृहीतमिथ्यात्वके भेद

गृहीतमिथ्यात्वके पांच भेद हैं— (१) एकान्तमिथ्यात्व (२) संशयमिथ्यात्व

(३) विनयमिथ्यात्व (४) अज्ञानमिथ्यात्व और (५) विपरीत मिथ्यात्व । इन प्रत्येककी व्याख्या निम्नप्रकार है:—

(१) एकान्त मिथ्यात्वः—आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थोंका स्वरूप अपने-अपने अनेकान्तमय (अनेक धर्मवाला) होने पर भी उसे सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे—जीवको सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य ही मानना, गुण-गुणीको सर्वथा भेद या अभेद ही मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है।

(२) संशय मिथ्यात्वः—'धर्मका स्वरूप यों है या यों है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो रूपका श्रद्धान। जैसे—आत्मा अपने कार्यका कर्ता होता होगा या परवस्तुके कार्यका कर्ता होगा? निमित्त और व्यवहारके आलम्बनसे धर्म होगा या अपने शुद्धात्माके आलम्बनसे धर्म होगा? इत्यादिरूपसे संशय रहना सो संशय मिथ्यात्व है।

(३) विपरीत मिथ्यात्वः—आत्माके स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे—सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, मिथ्यादृष्टि साधुको सच्चे गुरु मानना, केवलीके स्वरूपको विपरीतरूपसे मानना, इत्यादि रूपसे जो विपरीत रुचि है सो विपरीत मिथ्यात्व है।

(४) अज्ञान मिथ्यात्वः—जहां हित-अहितका कुछ भी विवेक न हो या कुछ भी परीक्षा किये विना धर्मकी श्रद्धा करना सो अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे—पशुवधमें अथवा पापमें धर्म मानना सो अज्ञान मिथ्यात्व है।

(५) विनय मिथ्यात्वः—समस्त देवोंको तथा समस्त धर्म-मतोंको समान मानना सो विनय मिथ्यात्व है।

८—गृहीतमिथ्यात्वके ५ भेदोंका विशेष स्पष्टीकरण

(१) एकांत मिथ्यात्वः—आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थका स्वरूप अपने-अपने अनेक धर्मोंसे परिपूर्ण है, ऐसा नहीं मानकर वस्तुको सर्वथा अस्तिरूप, सर्वथा नास्तिरूप, सर्वथा एकरूप, सर्वथा अनेकरूप, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, गुण-पर्यायोंसे सर्वथा अभिन्न, गुण-पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न इत्यादि रूपसे मानना सो एकांत मिथ्यात्व है। पुनश्च, काल ही सब करता है, काल ही सबका नाश करता है, काल ही फल-फूल आदि उत्पन्न करता है, काल ही संयोग-वियोग करता है, काल ही धनको प्राप्त कराता है, इत्यादि मानना मिथ्या है, यह एकांत मिथ्यात्व है।

निरन्तर प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने कारणसे अपनी पर्यायको धारण करती है, यही

१२. कषायका स्वरूप

कषायके २५ भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, इन प्रत्येकके अनंतानुबंधी आदि चार भेद, इस तरह १६ तथा हास्यादिक ६ नोकषाय ये सब कषाय हैं और इन सबमें आत्महिंसा करनेकी सामर्थ्य है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये तीन अथवा अविरति और प्रमाद ये दो अथवा जहां प्रमाद हो वहाँ कषाय तो अवश्य ही होती है, किन्तु ये तीनों दूर हो जाने पर भी कषाय हो सकती है।

१३. योगका स्वरूप

योगका स्वरूप छट्ठे अध्यायके पहले सूत्रकी टीकामें आ गया है। (देखो, पृष्ठ ४०६) मिथ्यादृष्टिसे लेकर तेरहवें गुणस्थानपर्यंत योग रहता है। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि चारका अभाव हो जाता है तथापि योगका सद्भाव रहता है।

केवलज्ञानी गमनादि क्रिया रहित हुए हों तो भी उनके अधिक योग है और दो इन्द्रियादि जीव गमनादि क्रिया करते हैं तो भी उनके अल्प योग होता है, इससे सिद्ध होता है कि योग बन्धका गौण कारण है, यह तो प्रकृति और प्रदेशबन्धका कारण है। बन्धका मुख्य कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय है और इन चारमें भी सर्वोत्कृष्ट कारण तो मिथ्यात्व ही है, मिथ्यात्वको दूर किये बिना अविरति आदि बन्धके कारण दूर ही नहीं होते—यह अबाधित सिद्धान्त है।

१४. किस गुणस्थानमें क्या बन्ध होता है ?

मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान १) के पांचों बंध होते हैं। सासादान सम्यग्दृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि (गुणस्थान २-३-४) के मिथ्यात्वके सिवाय अविरति आदि चार बन्ध होते हैं। देशसंयमी (गुणस्थान ५) के आंशिक अविरति तथा प्रमादादि तीनों बंध होते हैं। प्रमत्तसंयमी (गुणस्थान ६) के मिथ्यात्व और अविरतिके अलावा प्रमादादि तीन बन्ध होते हैं। अप्रमत्तसंयमीके (७ से १० वें गुणस्थान तकके) कषाय और योग ये दो ही बन्ध होते हैं। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें सिर्फ एक योगका ही सद्भाव है और चौदहवें गुणस्थानमें किसी प्रकारका बन्ध नहीं है, यह अबन्ध है और वहां सम्पूर्ण संवर है।

१५. महापाप

प्रश्नः—जीवके सबसे बड़ा पाप कौन है ?

उत्तरः—एक मिथ्यात्व ही है। जहां मिथ्यात्व है वहां अन्य सब पापोंका सद्भाव है। मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई पाप नहीं है।

१६. इस सूत्रका सिद्धान्त

आत्मस्वरूपकी पहिचानके द्वारा मिथ्यात्वके दूर होनेसे उसके साथ अनंतानुबंधी कषायका तथा ४१ प्रकृतियोंके बंधका अभाव होता है, तथा बाकीके कर्मोंकी स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरकी रह जाती है, और जीव थोड़े ही कालमें मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है। संसारका मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्वका अभाव किये विना अन्य अनेक उपाय करनेपर भी मोक्ष या मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये सबसे पहले यथार्थ उपायोंके द्वारा सर्व प्रकारसे उद्यम करके इस मिथ्यात्वका सर्वथा नाश करना योग्य है ॥ १ ॥

बन्धका स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ २ ॥

अर्थः—[**जीवः सकषायत्वात्**] जीव कषायसहित होनेसे [**कर्मणः योग्यान्पुद्गलान्**] कर्मके योग्य पुद्गल परमाणुओंको [**आदत्ते**] ग्रहण करता है [**स बन्धः**] वह बन्ध है।

टीका

१—समस्त लोकमें कार्माणवर्गणारूप पुद्गल भरे हैं। जब जीव कषाय करता है तब उस कषायका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूपसे परिणमती है और जीवके साथ संबंध प्राप्त करती है, इसे बन्ध कहा जाता है। यहां जीव और पुद्गलके एकक्षेत्राव-गाहरूप सम्बन्धको बन्ध कहा है। बन्ध होनेसे जीव और कर्म एक पदार्थ नहीं हो जाते, तथा वे दोनों एकत्रित होकर कोई कार्य नहीं करते अर्थात् जीव और कर्म ये दोनों मिलकर पुद्गल कर्ममें विकार नहीं करते। कर्मोंका उदय जीवमें विकार नहीं करता, जीव कर्मोंमें विकार नहीं करता, किन्तु दोनों स्वतंत्ररूपसे अपनी-अपनी पर्यायके कर्ता हैं। जब जीव अपनी विकारी अवस्था करता है तब पुराने कर्मोंके विपाकको 'उदय' कहा जाता है और यदि जीव विकारी अवस्था न करे तो उसके मोहकर्मकी निर्जरा हुई—ऐसा कहा जाता है। परका आश्रय किये बिना जीवमें विकार नहीं होता; जीव जब पराश्रय द्वारा अपनी अवस्थामें विकारभाव करता है तब उस भावके अनुसार नवीन कर्म बँधते हैं—ऐसा जीव और पुद्गलका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसा यह सूत्र बतलाता है।

२—जीव और पुद्गलका जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वह त्रिकाली द्रव्यमें नहीं है, किन्तु सिर्फ एक समयकी उत्पादरूप पर्यायमें है अर्थात् एक समयकी अवस्था जितना है। जीवमें कभी दो समयका विकार एकत्रित नहीं होता, इसीलिये कर्मके साथ रहता सम्बन्ध भी दो समयका नहीं।

प्रश्नः—यदि यह सम्बन्ध एक ही समय मात्रका है तो जीवके साथ लम्बी स्थिति-वाले कर्मका सम्बन्ध क्यों बतलाया है ?

उत्तरः—वहां भी यह बतलाया है कि सम्बन्ध तो वर्तमान एक समयमात्र ही है; परन्तु जीव यदि विभावके प्रति ही पुरुषार्थ चालू रखेगा और यदि सम्यग्दर्शनरूप सत्य-पुरुषार्थ न करे तो उसका कर्मके साथ कहाँ तक सम्बन्ध रहेगा।

३—इस सूत्रमें सकषायत्वात् शब्द है वह जीव और कर्म दोनोंको (अर्थात् कषाय-रूप भाव और कषायरूप कर्म इन दोनोंको) लागू हो सकता है, और ऐसा होनेपर उनमेंसे निम्न मुद्दे निकलते हैं:—

(१) जीव अनादिसे अपनी प्रगट अवस्थामें कभी शुद्ध नहीं हुआ, किन्तु कषायसहित ही है और इसीलिये जीव-कर्मका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

(२) कषायभाववाला जीव कर्मके निमित्तसे नवीन बंध करता है।

(३) कषायकर्मको मोहकर्म कहते हैं। आठ कर्मोंमेंसे वह एक ही कर्मबन्धका निमित्त होता है।

(४) पहले सूत्रमें जो बंधके पांच कारण बताये हैं उनमेंसे पहले चारका यहां कहे हुये कषाय शब्दमें समावेश हो जाता है।

(५) यहाँ जीवके साथ कर्मका बन्ध होना कहा है। यह कर्म पुद्गल है ऐसा बतानेके लिये सूत्रमें पुद्गल शब्द कहा है। इसीसे कितने जीवोंकी जो ऐसी मान्यता है कि 'कर्म आत्माका अदृष्ट गुण है' वह दूर हो जाती है।

४—'सकषायत्वात्'–यहाँ पांचवीं विभक्ति लगानेका ऐसा हेतु है कि जीव जैसी तीव्र, मध्यम या मन्द कषाय करे उसके अनुसार कर्मोंमें स्वयं स्थिति और अनुभागबन्ध होता है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५—जीवकी सकषाय अवस्थमें द्रव्यकर्म निमित्त है। यह ध्यान रहे कि प्रस्तुत कर्मका उदय हो इसलिये जीवको कषाय करना ही पड़े, ऐसा नहीं है। यदि कर्म उपस्थित है तथापि स्वयं यदि जीव स्वाश्रयमें स्थिर रहकर कषायरूपसे न परिणमे तो उन कर्मोंको बन्धका निमित्त नहीं कहा जाता, परन्तु उन कर्मोंकी निर्जरा हुई ऐसा कहा जाता है।

६—जीवके कर्मके साथ जो संयोग-सम्बन्ध है वह प्रवाह अनादिसे चला आता है, किन्तु वह एक ही समय मात्रका है। प्रत्येक समय अपनी योग्यतासे जीव नये-नये विकार

करता है इसीलिये यह सम्बन्ध चालू रहता है; किन्तु जड़कर्म जीवको विकार नहीं कराते। यदि जीव अपनी योग्यतासे विकार करे तो होता है और न करे तो नहीं होता। जैसे अधिक समयसे गरम किया हुआ पानी क्षणमें ठण्डा हो जाता है उसीप्रकार अनादिसे विकार (–अशुद्धता) करता आया तो भी वह योग्यता एक ही समय मात्रकी होनेसे शुद्ध स्वभावके आलम्बनके बल द्वारा वह दूर हो सकता है। रागादि विकार दूर होनेसे कर्मके साथका सम्बन्ध भी दूर हो जाता है।

७. प्रश्नः—आत्मा तो अमूर्तिक है, हाथ-पैरसे रहित है और कर्म मूर्तिक है, तब वह कर्मोंको किस तरह ग्रहण करता है?

उत्तरः—वास्तवमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको ग्रहण नहीं कर सकता; इसीलिये यहाँ ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है वह मात्र उपचारसे कहा है। जीवके अनादिसे कर्मपुद्गलके साथ सम्बन्ध है और जीवके विकारका निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मोंके साथ नवीन कर्म स्कन्धरूप होता है—इतना सम्बन्ध बतानेके लिये यह उपचार किया है; वास्तवमें जीवके साथ कर्मपुद्गल नहीं बँधते किन्तु पुराने कर्मपुद्गलोंके साथ नवीन कर्मपुद्गलोंका बन्ध होता है; परन्तु जीवमें विकारकी योग्यता है और उस विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्गल स्वयं-स्वतः बँधते हैं इसलिए उपचारसे जीवके कर्मपुद्गलोंका ग्रहण कहा है।

८—जगतमें अनेक प्रकारके बन्ध होते हैं, जैसे गुण–गुणीका बन्ध इत्यादि। इन सब प्रकारके बंधसे यह बंध भिन्न है, ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमें बंधसे पहले 'सः' शब्दका प्रयोग किया है।

'सः' शब्दसे यह बतलाया है कि जीव और पुद्गलके गुण-गुणी संबंध या कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, इसीलिये यहाँ उनका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध अथवा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध समझना। कर्मका बन्ध जीवके समस्त प्रदेशोंसे होता है और बन्धमें अनन्तानन्त परमाणु होते हैं। (अ० ८ सूत्र २४)

९—यहाँ बन्ध शब्दका अर्थ व्याकरणकी दृष्टिसे नीचे बतलाये हुये चार प्रकारसे समझना:—

(१) आत्मा बँधा सो बंध; यह कर्मसाधन है।

(२) आत्मा स्वयं ही बंधरूप परिणमता है, इसीलिये बंधको कर्ता कहा जाता है, यह कर्तृसाधन है।

(३) पहले बंधकी अपेक्षासे आत्मा बन्धके द्वारा नवीन बंध करता है इसीलिये बन्ध करणसाधन है।

(४) बंधनरूप जो क्रिया है सो ही भाव है, ऐसी क्रियारूप भी बंध है यह भावसाधन है ॥२॥

बन्धके भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

अर्थः—[**तत्**] उस बन्धके [**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः**] प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध [**विधयः**] ये चार भेद हैं।

टीका

१. प्रकृतिबंधः—कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिबंध कहते हैं।

स्थितिबंधः—ज्ञानावरणादि कर्म अपने स्वभावरूपसे जितने समय रहे सो स्थितिबंध है।

अनुभागबंधः—ज्ञानावरणादि कर्मोंके रसविशेषको अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबंधः—ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे होनेवाले पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओंकी जो संख्या है सो प्रदेशबंध है। बंधके उपरोक्त चार प्रकारमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधमें योग निमित्त है और स्थितिबंध तथा अनुभागबंधमें कषाय निमित्त है।

२—यहां जो बन्धके भेद वर्णन किये हैं वे पुद्गलकर्मबंधके हैं; अब उन प्रत्येक प्रकारके भेद-उपभेद अनुक्रमसे कहते हैं ॥३॥

प्रकृतिबन्धके मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थः—[**आद्यो**] पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध [**ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः**] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय इन आठ प्रकारका है।

टीका

१-ज्ञानावरणः—जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभावका घात करता है अर्थात् ज्ञान-

दर्शनावरण कर्मके नौ भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च

अर्थः—[**चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां**] चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण [**निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च**] निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नव भेद दर्शनावरण कर्मके हैं ।

टीका

१छद्मस्थ जीवोंके दर्शन और ज्ञान क्रमसे होते हैं अर्थात् पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है; परन्तु केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं, क्योंकि दर्शन और ज्ञान दोनोंके बाधक कर्मोंका क्षय एक साथ होता है ।

२—मनःपर्ययदर्शन नहीं होता, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, इसीलिये मनःपर्ययदर्शनावरण कर्म नहीं है ।

३—इस सूत्रमें आये हुए शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना ।

वेदनीय कर्मके दो भेद

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थः—[**सदसद्वेद्ये**] सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीयकर्मके भेद हैं ।

टीका

वेदनीयकर्मकी दो ही प्रकृतियां हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय ।

साता नाम सुखका है । इस सुखका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो सातावेदनीय है । असाता नाम दुःखका है, इसका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो असातावेदनीय है ।

शंकाः—यदि सुख और दुःख कर्मोंसे होता है तो कर्मोंके नष्ट हो जानेके बाद जीवको सुख और दुःखसे रहित हो जाना चाहिये; क्योंकि उसके सुख और दुःखके कारणीभूत कर्म

अभाव हो गया है। यदि यों कहा जावे कि कर्म नष्ट हो जानेसे जीव सुख और दुःख रहित ही हो जाता है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि जीवद्रव्यके निःस्वभाव हो जानेसे अभावका प्रसंग प्राप्त होता है; अथवा यदि दुःखको ही कर्मजनित माना जावे तो सातावेदनीय कर्मका अभाव हो जायगा, क्योंकि फिर इसका कोई फल नहीं रहता।

समाधानः—दुःख नामकी कोई भी वस्तु है तो वह मोह और असातावेदनीय कर्मके उदयमें युक्त होनेसे होती है, और वह सुखगुणकी विपरीत दशा है किन्तु वह जीवका असली स्वरूप नहीं है। यदि जीवका स्वरूप माना जावे तो क्षीणकर्मा अर्थात् कर्मरहित जीवोंके भी दुःख होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान और दर्शनकी तरह कर्मका विनाश होनेपर दुःखका विनाश नहीं होता। किंतु सुख कर्मसे उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह जीवका स्वभाव है और इसीलिये वह कर्मका फल नहीं हैं। सुखको जीवका स्वभाव माननेसे सातावेदनीयकर्मका अभाव भी नहीं होता, क्योंकि दुःखके उपशमनके कारणीभूत※ सुद्रव्योंके सम्पादनमें साता-वेदनीयकर्मका व्यापार होता है।

※ धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि बाह्य-पदार्थोंके संयोग-वियोगमें पूर्वकर्मका उदय (निमित्त) कारण है। इसका आधार:—

समयसार—गाथा ८४ की टीका, प्रवचनसार—गाथा १४ की टीका, पंचास्तिकाय—गाथा २७, ६७ की टीका, परमात्मप्रकाश—अ० २ गाथा ५७, ६० तथा पृष्ठ २०-१८८, नियमसार—गाथा १५७ की टीका, पंचाध्यायी अध्याय १ गाथा १८१, पंचाध्यायी अ० १ गाथा ५८१, अध्याय २ गाथा ५०, ४४०, ४४१, रयणसार गा० २६, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०, १६, ५६, ५७, ३१६, ३२०, ४२७, ४३२, पद्मनंदि पंचविंशति पृष्ठ १०१, १०३, १०४, १०६, १०६, ११०, ११६, १२८, १३१, १३८, १४०, १५५, मोक्षमार्ग प्रकाशक गु० अनुवाद पृ० ८, २८, ३०, ४५, ६१, ६२, ६४, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ३०८ इत्यादि अनेक स्थलोंमें, गोम्मटसार-कर्मकांड पृष्ठ ६०३, श्लोकवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ६ सूत्र १६, राजवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ६ सूत्र १६।

श्रीमद् राजचन्द्र (गुजराती द्वितीयावृत्ति) पृष्ठ २३५, ४८३ तथा मोक्षमाला पाठ ३, सत्ता-स्वरूप पृष्ठ २६, अनगार धर्मामृत-पृष्ठ ६०, ७६।

श्रीषट्खंडागम पुस्तक १ पृ० १०५, गोम्मटसार जी० टीका पृ० १४, १५, ३७८, गो० क० गा० २ पृ० ३ पृ० ६०२-६०३; गा० ३८०, समयसार गा० १३२ से १३६ की तथा २२४, २२७, २७५, ३२४ से ३२७, जयसेनाचार्यकृत टीका; स० सार गा० ३२५ मूल। पं० राजमलकृत स० सार कलश टीका पृ० १६३ से १६६, १७१, १७२, १७५, १७८, १६५। प्रवचनसार गा० ७२ की

ऐसी व्यवस्था माननेसे सातावेदनीय प्रकृतिको पुद्गलविपाकित्व प्राप्त हो जायगा, ऐसी आशंका नहीं करना; क्योंकि दुःखके उपशमसे उत्पन्न हुए दुःखके अविनाभावी, उपचारसे ही सुख संज्ञाको प्राप्त और जीवसे अभिन्न ऐसे स्वास्थ्यके कणका हेतु होनेसे सूत्रमें सातावेदनीयकर्मको जीवविपाकित्व और सुखहेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि ऐसा कहा जावे कि उपरोक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और पुद्गलविपाकत्व प्राप्त होता है; तो यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवका अस्तित्व अन्यथा नहीं बन सकता, इसीसे इसप्रकारके उपदेशके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योंका संपादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई कर्म मिलता नहीं। (धवला-टीका पुस्तक ६ पृष्ठ ३५-३६)

मोहनीय कर्मके अट्ठाईस भेद बतलाते हैं

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

अर्थः—[**दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः**] दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीयकर्म है और इसके भी अनुक्रमसे [**त्रिद्विनवषोडशभेदाः**] तीन, दो, नव और सोलह भेद हैं। वे इसप्रकारसे हैं— [**सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि**] सम्यक्त्व मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय, और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय ये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं; [**अकषायकषायौ**] अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं; [**हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-**

जयसेनाचार्यकृत टीका। नियमसार शास्त्रमें कलश २९। रयणसार गा० २९। भगवती आराधना पृ० ८१०-८, तथा गाथा १७३१ १७३३, १७३४-५, १७४२, १७४३, १७४८, १७५२। पद्मनंदि पंचविंशति प्रथम अ० गा० १८१, १८४ से १९१, १९५-९६, पद्मनंदी अ० श्लोक २०, ३८, ४४, अनित्य अ० श्लो० ३, ९, १०, ४२। आत्मानुशासन गा० २१, ३१, ३७, १४८। सुभाषित रत्नसंदोह गा० ३५६-५७-५९-६०-६६-३००, ३०२। महापुराण सर्ग० ५ श्लोक १४ से १८; सर्ग ६ में श्लोक १६४, २०२-३; सर्ग २८ में श्लोक ११३ से २२०; पर्व ३० श्लोक १९० से २००। मतामला पृ० १० जैन सि० प्रवेशिका पृ० ३३६-३७ पुण्यकर्म, पापकर्म।

स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः] हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ये अकषायवेदनीयके नव हैं, और [**अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः च**] अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलनके भेदसे तथा [**एकशः क्रोधमान-मायालोभाः**] इन प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार—ये सोलह भेद कषायवेदनीयके हैं। इस तरह मोहनीयके कुल अट्ठाईस भेद हैं।

नोटः—अकषायवेदनीय और कषायवेदनीयका चारित्रमोहनीयमें समावेश हो जाता है, इसीलिये इनको अलग नहीं गिनाया गया है।

टीका

१—मोहनीयकर्मके मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय। जीवका मिथ्यात्वभाव ही संसारका मूल है, इसमें मिथ्यात्व मोहनीयकर्म निमित्त है; यह दर्शनमोह-नीयका एक भेद है। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति, और सम्यक्‌मिथ्यात्वप्रकृति। इन तीनमेंसे एक मिथ्यात्व प्रकृतिका ही बन्ध होता है। जीवका ऐसा कोई भाव नहीं है कि जिसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति या सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय प्रकृति बंधे। जीवके प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके कालमें (उपशम कालमें) मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन टुकड़े हो जाते हैं, इनमेंसे एक मिथ्यात्वरूपसे रहता है, एक सम्यक्त्वप्रकृतिरूपसे होता है और एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूपसे होता है। चारित्रमोहनीयके पच्चीस भेद हैं, उनके नाम सूत्रमें ही बतलाये हैं। इसप्रकार सब मिलकर मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेद हैं।

२—इस सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना।

३—यहाँ हास्यादिक नवको अकषायवेदनीय कहा है; इसे नोकषायवेदनीय भी कहते हैं।

४—अनन्तानुबंधीका अर्थः—अनन्त = मिथ्यात्व, संसार; अनुबंधी=जो इसको अनुसरण कर बन्धको प्राप्त हो। मिथ्यात्वको अनुसरण कर जो कषाय बंधती है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभकी व्याख्या निम्न-प्रकार है—

(१) जो आत्माके शुद्धस्वरूपकी अरुचि है सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

(२) 'मैं परका कर सकता हूं, ऐसी मान्यतापूर्वक जो अहङ्कार है सो अनन्तानुबंधी मान-अभिमान है।

(३) अपना स्वाधीन सत्यस्वरूप समझमें नहीं आता ऐसी दशामें गुप्त अभिप्राय

अयशःकीर्ति ये दस [तीर्थंकरत्वं च] और तीर्थंकरत्व, इस तरह नाम कर्मके कुल व्यालीस भेद हैं।

टीका

सूत्रके जिस शब्द पर जितने अङ्क लिखे हैं वे यह बतलाते हैं कि उस शब्दके उतने उपभेद हैं। उदाहरणार्थः—गति शब्द पर ४ का अङ्क लिखा है वह यह बतलाता है कि गतिके चार उपभेद हैं। गति आदि उपभेद सहित गिना जाय तो नाम कर्मके कुल ९३ भेद होते है।

इस सूत्रमें आये हुए शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना ॥ ११ ॥

गोत्रकर्मके दो भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ—[उच्चैर्नीचैश्च] उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद गोत्रकर्मके हैं ॥१२॥

अन्तरायकर्मके पांच भेद बतलाते हैं

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ—[दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्] दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यान्तराय ये पांच भेद अन्तराय कर्मके हैं। प्रकृतिबन्धके उपभेदोंका वर्णन यहां पूर्ण हुआ ॥१३॥

अब स्थितिबन्धके भेदोंमें ज्ञानावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

अर्थ—[आदितस्तिसृणाम्] आदिसे तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा वेदनीय [अन्तरायस्य च] और अन्तराय, इन चार कर्मोंकी [परा स्थितिः] उत्कृष्ट स्थिति [त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः] तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है।

नोटः—(१) इस उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही होता है। (२) एक करोड़को करोड़से गुननेसे जो गुणनफल हो वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है ॥१४॥

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थः—[**मोहनीयस्य**] मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [**सप्ततिः**] सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है।

नोटः—यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही बंधती है ॥१५॥

नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

अर्थः—[**नामगोत्रयोः**] नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [**विंशतिः**] बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥१६॥

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अर्थः—[**आयुषः**] आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [**त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि**] तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थः—[**वेदनीयस्य अपरा**] वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति [**द्वादशमुहूर्ताः**] बारह मुहूर्तकी है ॥१८॥

नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

अर्थः—[**नामगोत्रयोः**] नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति [**अष्टौ**] आठ मुहूर्त की है ॥१९॥

अब शेष ज्ञानावरणादि पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अर्थः—[**शेषाणां**] बाकीके अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु—इन पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति [**अन्तर्मुहूर्ता**] अन्तर्मुहूर्तकी है ।

यहाँ स्थितिबन्धके उपभेदोंका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

अब अनुभागबन्धका वर्णन करते हैं (अनुभागबन्धको अनुभवबन्ध भी कहते हैं ।)

अनुभवबन्धका लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थः—[**विपाकः**] विविध प्रकारका जो पाक है [**अनुभवः**] सो अनुभव है ।

टीका

(१) मोहकर्मका विपाक होनेपर जीव जिसप्रकारका विकार करे उसीरूपसे जीवने फल भोगा कहा जाता है । इसका इतना ही अर्थ है कि जीवको विकार करनेमें मोहकर्मका विपाक निमित्त है । कर्मका विपाक कर्ममें होता है, जीवमें नहीं होता । जीवको अपने विभाव-भावका जो अनुभव होता है सो जीवका विपाक-अनुभव है ।

(२) यह सूत्र पुद्गलकर्मके विपाक-अनुभवको बतानेवाला है । बन्ध होते समय जीवका जैसा विकारीभाव हो उसके अनुसार पुद्गलकर्ममें अनुभाग बन्ध होता है और जब यह उदयमें आये तब यह कहा जाता है कि कर्मका विपाक, अनुभाग या अनुभव हुआ ॥२१॥

अनुभाग बन्ध कर्मके नामानुसार होता है

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थः—[**सः**] यह अनुभाग बन्ध [**यथानाम**] कर्मोंके नामके अनुसार ही होता है ।

टीका

जिस कर्मका जो नाम है उस कर्ममें वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है । जैसे कि

ज्ञानावरण कर्ममें ऐसा अनुभाग होता है कि 'जब ज्ञान रुके तब निमित्त हो' दर्शनावरण कर्ममें 'जब दर्शन रुके तब निमित्त हो' ऐसा अनुभाग होता है ॥ २२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि फल देनेके बाद कर्मोंका क्या होता है?

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थः— [**ततः च**] तीव्र, मध्यम या मन्द फल देनेके बाद [**निर्जरा**] उन कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् उदयमें आनेके बाद कर्म आत्मासे पृथक् हो जाते हैं।

१—आठों कर्म उदय होनेके बाद झड़ जाते हैं। इनमें कर्मकी निर्जराके दो भेद हैं— सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

(१) सविपाक निर्जराः— आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहे हुए कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर अलग हो गये यह सविपाक निर्जरा है।

(२) अविपाक निर्जराः— उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले जो कर्म आत्माके पुरुषार्थके कारण आत्मासे पृथक् हो गये वह अविपाक निर्जरा है। इसे सकाम निर्जरा भी कहते हैं।

२—निर्जराके दूसरी तरहसे भी दो भेद होते हैं, उनका वर्णन—

(१) अकाम निर्जराः— इसमें बाह्यनिमित्त तो यह है कि इच्छारहित भूख-प्यास सहन करना और वहां यदि मन्दकषायरूप भाव हो तो व्यवहारसे पापकी निर्जरा और देवादि पुण्यका बन्ध हो—इसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

जिस अकाम निर्जरासे जीवकी गति कुछ ऊँची होती है, वह प्रतिकूल संयोगके समय जीव मंद कषाय करता है उससे होती है, किन्तु कर्म जीवको ऊँची गतिमें नहीं ले जाते।

(२) सकाम निर्जराः— इसकी व्याख्या ऊपर अविपाक निर्जरा के अनुसार समझना। यहां विशेष बात यह है कि जीवके उपादानकी अस्ति प्रथम दिखाकर निर्जरामें भी पुरुषार्थका कारणपना दिखाया।

३—इस सूत्रमें जो 'च' शब्द है वह नवव अध्यायके तीसरे सूत्र (तपसा निजरा च) के साथ सम्बन्ध कराता है।

यहां अनुभागबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते हैं—

प्रदेशबन्धका स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थः—[**नामप्रत्ययाः**] ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंका कारण, [**सर्वतः**] सर्व तरफसे अर्थात् समस्त भावोंमें [**योगविशेषात्**] योग विशेषसे [**सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः**] सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित [**सर्वात्मप्रदेशेषु**] और सर्व आत्मप्रदेशोंमें [**अनन्तानन्तप्रदेशाः**] जो कर्मपुद्गलके अनन्तानन्त प्रदेश हैं सो प्रदेशबन्ध है ।

निम्न छह बातें इस सूत्रमें बतलाई हैं:—

(१) सर्व कर्मके ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप, उत्तरप्रकृतिरूप और उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप होनेका कारण कार्माणवर्गणा है ।

(२) त्रिकालवर्ती समस्त भवोंमें (जन्मोंमें) मन-वचन-कायके योगके निमित्तसे यह कर्म आते हैं । (३) ये कर्म सूक्ष्म हैं—इन्द्रियगोचर नहीं हैं ।

(४) आत्माके सर्व प्रदेशोंके साथ दूध-पानीकी तरह एक क्षेत्रमें यह कर्म व्याप्त हैं ।

(५) आत्माके सर्व प्रदेशोंमें अनन्तानन्त पुद्गल स्थित होते हैं ।

(६) एक एक आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, इस प्रत्येक प्रदेशमें संसारी जीवोंके अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्ध विद्यमान हैं ।

यहां प्रदेशबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २४ ॥

इस तरह चार प्रकारके बन्धका वर्णन किया । अब कर्मप्रकृतियोंमेंसे पुण्यप्रकृतियां कितनी हैं और पापप्रकृतियां कितनी हैं यह बताकर इस अध्यायको पूर्ण करते हैं ।

पुण्यप्रकृतियां बतलाते हैं

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थः—[**सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि**] सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र [**पुण्यम्**] ये पुण्यप्रकृतियां हैं ।

टीका

१—घातिया कर्मोंकी ४७ प्रकृतियाँ हैं, ये सब पापरूप हैं। अघातिया कर्मोंकी १०१ प्रकृतियाँ हैं, उनमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार हैं। उनमेंसे निम्नोक्त ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं—

(१) सातावेदनीय (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) उच्चगोत्र (६) मनुष्यगति (७) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (८) देवगति (९) देवगत्यानुपूर्वी (१०) पंचेन्द्रिय जाति (११-१५) पांच प्रकारका शरीर (१६-२०) शरीरके पांच प्रकारके बन्धन, (२१-२५) पांच प्रकारका संघात (२६-२८) तीन प्रकारका अंगोपांग (२९-४८) स्पर्श, वर्णादिककी बीस प्रकृतियां (४९) समचतुरस्रसंस्थान (५०) वज्रर्षभनाराचसंहनन, (५१) अगुरुलघु (५२) परघात, (५३) उच्छ्वास (५४) आतप (५५) उद्योत (५६) प्रशस्त विहायोगति (५७) त्रस (५८) बादर (५९) पर्याप्ति (६०) प्रत्येक शरीर (६१) स्थिर (६२) शुभ (६३) सुभग (६४) सुस्वर (६५) आदेय (६६) यशःकीर्ति (६७) निर्माण और (६८) तीर्थंकरत्व। भेद-विवक्षासे ये ६८ पुण्यप्रकृतियां हैं और अभेद-विवक्षासे ४२ पुण्यप्रकृतियां हैं, क्योंकि वर्णादिकके १६ भेद, शरीरमें अन्तर्गत ५ बंधन और ५ संघात—इस प्रकार कुल २६ प्रकृतियां घटानेसे ४२ प्रकृतियां रहती है।

२—पहले ११वें सूत्रमें नामकर्मकी ४२ प्रकृतियां बतलाई हैं, उनमें गति, जाति, शरीरादिकके उपभेद नहीं बतलाये; परन्तु पुण्यप्रकृति और पापप्रकृति ऐसे भेद करनेसे उनके उपभेद आये बिना नहीं रहते ॥ २५ ॥

अब पापप्रकृतियां बतलाते हैं:—

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थः—[अतः अन्यत्] इन पुण्यप्रकृतियोंसे अन्य अर्थात् असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र [पापम्] ये पाप-प्रकृतियां हैं।

टीका

१—पाप प्रकृतियां १०० हैं, जो निम्नप्रकार हैं:—

४७—घातिया कर्मोंकी सर्व प्रकृतियां, ४८—नीच गोत्र, ४९—असातावेदनीय, ५०—नरकायु, (नामकर्मकी ५०) १—नरकगति, २—नरकगत्यानुपूर्वी, ३—तिर्यंचगति, ४—तिर्यंचगत्यानुपूर्वी,

५-८–एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तक चार जाति, ९ से १३-पांच संस्थान, १४ से १८-पां संहनन, १९–३८-वर्णादिक २० प्रकार, ३९–उपघात, ४०–अप्रशस्त विहायोगति, ४१–स्थाव ४२–सूक्ष्म, ४३–अपर्याप्ति, ४४-साधारण, ४५-अस्थिर, ४६–अशुभ, ४७-दुर्भग, ४८-दुःस्व ४९–अनादेय और ५०-अयशःकीर्ति । भेद-विवक्षासे ये सब १०० पापप्रकृतियां हैं और अभेद विवक्षासे ८४ हैं; क्योंकि वर्णादिकके १६ उपभेद घटानेसे ८४ रहते हैं । इनमेंसे भी सम्यग मिथ्यात्वप्रकृति तथा सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, अतः इ दो को कम करनेसे भेदविवक्षासे ९८ और अभेदविवक्षासे ८२ पापप्रकृतियोंका बन्ध होत है, परन्तु इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता तथा उदय होता है इसीलिये सत्ता और उदय त भेदविवक्षासे १०० तथा अभेदविवक्षासे ८४ प्रकृतियोंका होता है ।

२—वर्णादिक चार अथवा उनके भेद गिने जायें तो २० प्रकृतियां हैं, ये पुण्यरू भी हैं और पापरूप भी हैं, इसीलिये ये पुण्य और पाप दोनोंमें गिनी जाती हैं ।

३—इस सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना ।

उपसंहार

१—इस अध्यायमें बन्धतत्त्वका वर्णन है । पहले सूत्रमें मिथ्यात्वादि पांच विकारी परिणा मोंका बन्धके कारणरूपसे बताया है, इनमें पहला मिथ्यादर्शन बतलाया है, क्योंकि इन पां कारणोंमें संसारका मूल मिथ्यादर्शन है । ये पांचों प्रकारके जीवके विकारी परिणामोंक निमित्त पाकर आत्माके एक-एक प्रदेशमें अनन्तानन्त कार्माणवर्गणारूप पुद्गलपरमाणु ए क्षेत्रावगाहरूपसे बन्धते हैं, यह द्रव्यबन्ध है ।

२—बन्धके चार प्रकार वर्णन किये हैं । इनमें ऐसा भी बतलाया है कि कर्मबन्ध जीवके साथ कितने समय तक रहकर फिर उसका वियोग होता है । प्रकृतिबन्धके मुख्य आठ भेद होते हैं, इनमेंसे एक मोहनीय प्रकृति ही नवीन कर्मबन्धमें निमित्त है ।

३—वर्तमान-गोचर जो देश हैं, उनमें किसी भी स्थानमें ऐसा स्पष्ट और वैज्ञानि ढंगसे या न्याय-पद्धतिसे जीवके विकारी भावोंका तथा उनके निमित्त से होनेवाले पुद्गलबन्धके प्रकारोंका स्वरूप, और जीवके शुद्धभावोंका स्वरूप जैनदर्शनके अतिरिक्त दूसरे किसी दर्शनमें नहीं कहा गया और इसप्रकारका नवतत्वके स्वरूपका यथार्थ कथन सर्वज्ञ वीतरागके बिना हो ही नहीं सकता । इसलिये जैनदर्शनको अन्य किसी भी दर्शनके साथ समानता मानना सो विनय-मिथ्यात्व है ।

४—मिथ्यात्वके सम्बन्धमें पहले सूत्रमें जो विवेचन किया गया है वह [illegible]

५--वन्धतत्त्व सम्बन्धी ये खास सिद्धान्त ध्यानमें रखने योग्य हैं कि शुभ तथा अशुभ दोनों ही भाववन्धके कारण हैं, इसलिये उनमें अन्तर नहीं है अर्थात् दोनों बुरे हैं। जिस अशुभभाव के द्वारा नरकादिरूप पापवन्ध हो उसे तो जीव बुरा जानता है, किन्तु जिस शुभभावके द्वारा देवादिरूप पुण्यबन्ध हो उसे वह भला जानता है; इस तरह दुःख सामग्रीमें (पापवन्धके फलमें) द्वेष और सुखसामग्रीमें (पुण्यवन्धके फलमें) राग हुआ; इसलिये पुण्य अच्छा और पाप बुरा है, यदि ऐसा मानें तो ऐसी श्रद्धा हुई कि राग-द्वेष करने योग्य हैं, और जैसे इस पर्याय सम्बन्धी राग-द्वेष करनेकी श्रद्धा हुई वैसी भावी पर्याय सम्बन्धी भी सुख-दुःख सामग्रीमें राग-द्वेष करने योग्य है ऐसी श्रद्धा हुई। अशुद्ध (शुभ-अशुभ) भावोंके द्वारा जो कर्मवन्ध हो उसमें अमुक अच्छा और अमुक बुरा ऐसा भेद मानना ही मिथ्याश्रद्धा है; ऐसी श्रद्धासे बन्धतत्त्वका सत्य श्रद्धान नहीं होता। शुभ या अशुभ दोनों बन्धभाव हैं, इन दोनोंसे घातिकर्मोंका बन्ध निरन्तर होता है; सब घातियाकर्म पापरूप ही हैं और यही आत्मगुणके घातनेमें निमित्त हैं। तो फिर शुभभावसे जो वन्ध हो उसे अच्छा क्यों कहा है ? (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

६—यहां यह वतलाते हैं कि जीवके एक समयके विकारीभावमें सात कर्मके बन्धमें और किसी समय आठों प्रकारके कर्मके बन्धमें निमित्त होनेकी योग्यता किस तरह होती है—

(१) जीव अपने स्वरूपकी असावधानी रखता है, यह मोहकर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(२) स्वरूपकी असावधानी होनेसे जीव उस समय अपना ज्ञान अपनी ओर न मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव ज्ञानावरण कर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(३) उसी समय स्वरूपकी असावधानीको लेकर अपना (निजका) दर्शन अपनी तरफ न मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव दर्शनावरणकर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(४) उसी समयमें स्वरूपकी असावधानी होनेसे अपना वीर्य अपनी तरफ नहीं मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव अन्तरायकर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(५) परकी ओरके झुकावसे परका संयोग होता है, इसलिये इस समयका (स्वरूपकी असावधानीके समयका) भाव शरीर इत्यादि नामकर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(६) जहां शरीर हो वहां ऊंच-नीच आचारवाले कुलमें उत्पत्ति होती है, इसलिये उस समयका रागभाव गोत्रकर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(७) जहां शरीर होता है वहाँ वाहरकी अनुकूलता, प्रतिकूलता, रोग-निरोग आदि होते हैं, इसलिये इस समयका रागभाव वेदनीयकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

अज्ञानदशामें ये सात कर्म तो प्रति समय वँधा ही करते हैं। सम्यक्‌दर्शन होनेके वाद क्रम-क्रमसे जिस जिस प्रकार स्वसन्मुखताके वलसे चारित्रकी असावधानी दूर होती है उसी-उसी प्रकार जीवमें शुद्धदशा-अविकारीदशा वढ़ती जाती है और यह अविकारी (निर्मल) भाव पुद्‌गलकर्मके वन्धमें निमित्त नहीं होता, इसलिये उतने अंशमें वन्धन दूर होता है।

(८) शरीर संयोगी वस्तु है, इसलिये जहां यह संयोग हो वहाँ वियोग भी होता ही है, अर्थात् शरीरकी स्थिति अमुक कालकी होती है। वर्तमान भवमें जिस भवके योग्य भाव जीवने किये हों वैसी आयुका वन्ध नवीन शरीरके लिये होता है।

७—द्रव्यवन्धके जो पांच कारण हैं इनमें मिथ्यात्व मुख्य है और इस कर्मवन्धका अभाव करनेके लिये सवसे पहला कारण सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन होनेसे ही मिथ्यादर्शनका अभाव होता है और उसके वाद ही स्वरूपके आलम्वनके अनुसार क्रम-क्रमसे अविरति आदिका अभाव होता है।

इस प्रकार श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्रके
आठवें अध्यायकी गुजराती टीकाका
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

भूमिका

१—इस अध्यायमें संवर और निर्जरातत्त्वका वर्णन है। यह मोक्षशास्त्र है इसलिये सबसे पहले मोक्षका उपाय बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है। फिर सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा और तत्त्वोंके नाम बतलाये; इसके बाद अनुक्रमसे इन तत्त्वोंका वर्णन किया है। इनमेंसे जीव, अजीव, आस्रव और बन्ध इन चार तत्त्वोंका वर्णन इस आठवें अध्याय तक किया। अब नववें अध्यायमें संवर और निर्जरा-तत्त्व इन दोनों तत्त्वोंका वर्णन है और इसके बाद अन्तिम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करके आचार्यदेवने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके यथार्थ संवर और निर्जरातत्त्व कभी प्रगट नहीं हुए; इसीलिये उसके यह संसाररूप विकारीभाव बना रहा है और प्रति समय अनन्त दुःख पाता है। इसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। धर्मका प्रारम्भ संवरसे होता है और सम्यग्दर्शन ही प्रथम संवर है; इसीलिये धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। संवरका अर्थ जीवके विकारीभावको रोकना है। सम्यक्दर्शन प्रगट करने पर मिथ्यात्व आदि भाव रुकता है इसीलिये सबसे पहले मिथ्यात्वभावका संवर होता है।

३—संवरका स्वरूप

(१) 'संवर' शब्दका अर्थ 'रोकना' होता है। छट्ठे-सातवें अध्यायमें बतलाये हुये आस्रवको रोकना सो संवर है। जब जीव आस्रवभावको रोके तब जीवमें किसी भावकी उत्पत्ति तो होनी ही चाहिये। जिस भावका उत्पाद होनेपर आस्रवभाव रुके वह संवरभाव है। संवरका अर्थ विचारनेसे इसमें निम्नोक्त भाव मालूम होते हैं:—

१—आस्रवके रोकनेपर आत्मामें जिस पर्यायकी उत्पत्ति होती है वह शुद्धोपयोग है; इसीलिये उत्पादकी अपेक्षासे संवरका अर्थ शुद्धोपयोग होता है। उपयोगस्वरूप शुद्धात्मामें उपयोगका रहना-स्थिर होना सो संवर है। (देखो, समयसार गाथा १८१)

२—उपयोगस्वरूप शुद्धात्मामें जब जीवका उपयोग रहता है तब नवीन विकारी पर्याय (-आस्रव) रुकता है अर्थात् पुण्य-पापके भाव रुकते हैं। इस अपेक्षासे संवरका अर्थ 'जीवके नवीन पुण्य-पापके भावको रोकना' होता है।

३—ऊपर बतलाये हुये निर्मलभाव प्रगट होनेसे आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहरूपमें आनेवाले नवीन कर्म रुकते हैं, इसीलिये कर्मकी अपेक्षासे संवरका अर्थ होता है 'नवीन कर्मके आस्रवका रुकना।'

(२) उपरोक्त तीनों अर्थ नयकी अपेक्षासे किये गये हैं। वे इसप्रकार हैं—१-प्रथम अर्थ आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट करना बतलाता है, इसीलिये पर्यायकी अपेक्षासे यह कथन शुद्ध निश्चयनयका है। २-दूसरा अर्थ यह बतलाता है कि आत्मामें कौन पर्याय रुकी, इसीलिये यह कथन व्यवहारनयका है और ३-अर्थ इसका ज्ञान कराता है कि जीवकी इस पर्यायके समय परवस्तुकी कैसी स्थिति होती है, इसीलिये यह कथन असद्भूतव्यवहारनयका है। इसे असद्भूत कहनेका कारण यह है कि आत्मा जड़ कर्मका कुछ कर नहीं सकता किन्तु आत्माके इसप्रकारके शुद्धभावको और नवीन कर्मके आस्रवके रुक जानेको मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

(३) ये तीनों व्याख्यायें नयकी अपेक्षासे हैं, अतः इस प्रत्येक व्याख्यामें बाकीकी दो व्याख्यायें गर्भितरूपसे अन्तर्भूत होती हैं, क्योंकि नयापेक्षाके कथनमें एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता होती है। जो कथन मुख्यतासे किया हो उसे इस शास्त्रके पांचवें अध्यायके ३२ वें सूत्रमें 'अर्पित' कहा गया है। और जिस कथनको गौण रखा गया हो उसे 'अनर्पित' कहा गया है। अर्पित और अनर्पित इन दोनों कथनोंको एकत्रित करनेसे जो अर्थ हो वह पूर्ण (प्रमाण) अर्थ है, इसीलिये यह व्याख्या सर्वांग है। अर्पित कथनमें यदि अनर्पितकी गौणता रखी गई तो यह नय-कथन है। सर्वांग व्याख्यारूप कथन किसी पहलूको गौण न रख सभी पहलुओंको एक साथ बतलाता है। शास्त्रमें नयदृष्टिसे व्याख्या की हो या प्रमाणदृष्टिसे व्याख्या की हो किन्तु वहां सम्यक् अनेकान्तके स्वरूपको समझकर अनेकान्त स्याद्वादसे जो व्याख्या हो उसके अनुसार समझना।

(४) संवरकी सर्वांग व्याख्या श्री समयसारजी गाथा १८७ से १८९ तक निम्नोक्त प्रकार दी गई है:—

"आत्माको आत्माके द्वारा दो पुण्य-पापरूप शुभाशुभ योगोंसे रोककर दर्शन-ज्ञानमें स्थित होता हुआ और अन्य वस्तुकी इच्छासे विरक्त (-निवृत्त) हुआ जो आत्मा, सर्व संगसे रहित होता हुआ निजात्माको आत्माके द्वारा ध्याता है, कर्म और नोकर्मको नहीं ध्याता, चेतयिता होनेसे एकत्वका ही चिंतवन करता है, विचारता है—अनुभव करता है। वह आत्मा, आत्माका ध्याता, दर्शनज्ञानमय और अनन्यमय हुआ संता अल्पकालमें ही कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त करता है।"

इस व्याख्यामें सम्पूर्ण कथन है अतः यह कथन अनेकान्तदृष्टिसे है; इसलिये किसी शास्त्रमें नयकी अपेक्षासे व्याख्या की हो या किसी शास्त्रमें अनेकान्तकी अपेक्षासे सर्वांग व्याख्या की हो तो वहाँ विरोध न समझकर ऐसा समझना चाहिये कि दोनोंमें समान रूपसे व्याख्या की है।

(५) श्री समयसार कलश १२५ में संवरका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है:—

१—आस्रवका तिरस्कार करनेसे जिसको सदा विजय मिली है ऐसे संवरको उत्पन्न करनेवाली ज्योति।

२—पररूपसे भिन्न अपने सम्यक् स्वरूपमें निश्चलरूपसे प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निजरसके भारवाली ज्योतिका प्रगट होना।

(इस वर्णनमें आत्माकी शुद्ध पर्याय और आस्रवका निरोध इस तरह आत्माके दोनों पहलू आ जाते हैं।)

(६) श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी गाथा २०५ में बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम कहे हैं, उनमें एक संवर अनुप्रेक्षा है; वहां पण्डित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ में 'संवर' का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

अर्थः—जिन जीवोंने अपने भावको पुण्य-पापरूप नहीं किया और आत्म-अनुभवमें अपने ज्ञानको लगाया है उन जीवोंने आते हुए कर्मोंको रोका है और वे संवरकी प्राप्तिरूप सुखको देखते हैं।

(इस व्याख्यामें ऊपर कहे हुए तीनों पहलू आ जाते हैं, इसीलिये अनेकान्तकी अपेक्षासे यह सर्वांग व्याख्या है।)

(७) श्री जयसेनाचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४२ की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्नप्रकार की है:—

अत्र शुभाशुभसंवरसमर्थः शुद्धोपयोगो भावसंवरः।
भावसंवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसंवर इति तात्पर्यार्थः॥

अर्थः—यहां शुभाशुभभावको रोकनेमें समर्थ जो शुद्धोपयोग है सो भावसंवर है;

भावसंवरके आधारसे नवीन कर्मका निरोध होना सो द्रव्यसंवर है। यह तात्पर्य अर्थ है।'
(रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला पंचास्तिकाय पृष्ठ २०७)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकान्तकी अपेक्षासे है, इसमें पहले तीनों अर्थ आ जाते हैं।)

(८) श्री अमृतचन्द्राचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्नप्रकार की है:—

'शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः शुद्धोपयोगः' अर्थात् शुभाशुभ 'परिणामके निरोधरूप' संवर है सो शुद्धोपयोग है।' (पृष्ठ २०८)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकान्तकी अपेक्षासे है, इसमें पहले दोनों अर्थ आ जाते हैं।)

(९) **प्रश्नः** —इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या 'आस्रवनिरोधः संवरः' की है, किन्तु सर्वांग व्याख्या नहीं की, इसका क्या कारण है?

उत्तरः —इस शास्त्रमें वस्तुस्वरूपका वर्णन नयकी अपेक्षासे बहुत ही थोड़ेमें दिया गया है। पुनश्च, इस अध्यायका वर्णन मुख्यरूपसे पर्यायार्थिकनयसे होनेसे 'आस्रवनिरोधः संवरः' ऐसी व्याख्या पर्यायकी अपेक्षासे की है और इसमें द्रव्यार्थिक नयका कथन गौण है।

(१०) पाँचवें अध्यायके ३२ वें सूत्रकी टीकामें जैन-शास्त्रोंके अर्थ करनेकी पद्धति बतलायी है। इसी पद्धतिके अनुसार इस अध्यायके पहले सूत्रका अर्थ करनेसे समयसार, श्री पंचास्तिकाय आदि शास्त्रोंमें संवरका जो अर्थ किया है वही अर्थ यहाँ भी किया है ऐसा समझना चाहिये।

४—ध्यानमें रखने योग्य बातें

(१) पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें जो सात तत्त्व कहे हैं उनमें संवर और निर्जरा यह दो तत्त्व मोक्षमार्गरूप हैं। पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमें मोक्षमार्गकी व्याख्या 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' इस तरह की है; यह व्याख्या जीवमें मोक्षमार्ग प्रगट होने पर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है यह बतलाती है। और इस अध्यायके पहले सूत्रमें 'आस्रवनिरोधः संवरः' ऐसा कहकर मोक्षमार्गरूप शुद्ध पर्याय होनेसे यह बतलाया है कि शुद्ध पर्याय होनेसे अशुद्ध पर्याय तथा नवीन कर्म रुकते हैं।

(२) इस तरह इन दोनों सूत्रोंमें (अध्याय १ सूत्र १ तथा अध्याय ९ सूत्र १ में) बतलाई हुई मोक्षमार्गकी व्याख्या साथ लेनेसे इस शास्त्रमें सर्वांग कथन आ जाता है। श्री समयसार, पंचास्तिकाय आदि शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे कथन है, उसमें संवरकी जो व्याख्या दी गई है वही व्याख्या पर्यायार्थिकनयसे इस शास्त्रमें दूसरे शब्दोंमें दी है।

(३) शुद्धोपयोगका अर्थ सम्यग्दर्शन--ज्ञान--चारित्र होता है ।

(४) संवर होनेसे जो अशुद्धि दूर हुई और शुद्धि बढ़ी वही निर्जरा है, इसलिये 'शुद्धोपयोग' या 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहनेसे ही इसमें निर्जरा आ जाती है ।

(५) संवर तथा निर्जरा दोनों एक ही समयमें होते हैं, क्योंकि जिस समय शुद्धपर्याय (शुद्धपरिणति) प्रगट हो उसी समय नवीन अशुद्धपर्याय (शुभाशुभ परिणति) रुकती है सो संवर है और इसी समय आंशिक अशुद्धि दूर हो और शुद्धता बढ़े सो निर्जरा है ।

(६) इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या करनेके बाद दूसरे सूत्रमें इसके छह भेद कहे हैं । इन भेदोंमें समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये पाँच भेद भाववाचक (अस्तिसूचक) हैं और छट्ठा भेद गुप्ति है सो अभाववाचक (नास्तिसूचक) है । पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या नयकी अपेक्षासे निरोधवाचक की है, इसलिये यह व्याख्या गौणरूपसे यह बतलाती है कि 'संवर होनेसे कैसा भाव हुआ' और मुख्यरूपसे यह बतलाती है कि—'कैसा भाव रुका ।'

(७) 'आस्रवनिरोधः संवरः' इस सूत्रमें निरोध शब्द यद्यपि अभाववाचक है तथापि यह शून्यवाचक नहीं है; अन्य प्रकारके स्वभावपनेका इसमें सामर्थ्य होनेसे, यद्यपि आस्रवका निरोध होता है तथापि आत्मा संवृत स्वभावरूप होता है, यह एक तरहकी आत्माकी शुद्धपर्याय है । संवरसे आस्रवका निरोध होता है इस कारण आस्रव बन्धका कारण होनेसे संवर होनेपर बन्धका भी निरोध होता है ।

(देखो, श्लोकवार्तिक संस्कृत टीका, इस सूत्रके नीचेकी कारिका २ पृष्ठ ४८६)

(८) श्री समयसारजीकी १८६ वीं गाथामें कहा है कि—'शुद्ध आत्माको जानने-अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्माको जानने अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है ।'

इसमें शुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो संवर है और अशुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो आस्रव-बन्ध है ।

(९) समयसार नाटककी उत्थानिकामें २३वें पृष्ठमें संवरकी व्याख्या निम्नप्रकार की है:—

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरते जोग विरत्त ।
रोके आवत करमकों, सो है संवर तत्त ॥ ३९ ॥

अर्थः—आत्माका जो भाव ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगको प्राप्त कर (शुभाशुभ) योगोंकी क्रियासे विरक्त होता है और नवीन कर्मके आस्रवको रोकता है सो संवर तत्त्व है ।

५—निर्जराका स्वरूप

उपरोक्त ९ बातोंमें निर्जरा सम्बन्धी कुछ विवरण आ गया है। संवर पूर्वक जो निर्जरा है सो मोक्षमार्ग है; इसलिये इस निर्जराकी व्याख्या जानना आवश्यक है।

(१) श्री पंचास्तिकायकी १४४ गाथामें निर्जराकी व्याख्या निम्न प्रकार है:—

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं॥

अर्थ—शुभाशुभ परिणाम निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योगोंसे संयुक्त ऐसा जो भेदविज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अन्तरंग-बहिरंग तपों द्वारा उपाय करता है सो निश्चयसे अनेक प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है।

इस व्याख्यामें ऐसा कहा है कि 'कर्मोंकी निर्जरा होती है' और इसमें यह गर्भित रखा है कि इस समय आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है, इस गाथाकी टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि:—

'.....स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति। तदत्र कर्मवीर्य शातनसमर्थो बहिरंगांतरंग तपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा।'

अर्थः—यह जीव वास्तवमें अनेक कर्मोंकी निर्जरा करता है इसीलिये यह सिद्धान्त हुआ कि अनेक कर्मोंकी शक्तियोंको नष्ट करनेमें समर्थ बहिरंग-अन्तरंग तपोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ जो शुद्धोपयोग है सो भाव-निर्जरा है। (देखो, पंचास्तिकाय पृष्ठ २०९)

(२) श्री समयसार गाथा २०६ में निर्जराका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है:—

'एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥२०६॥

अर्थः—हे भव्य प्राणी! तू इसमें (ज्ञानमें) नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसीमें नित्य सन्तुष्ट हो और इससे तृप्त हो, ऐसा करनेसे तुझे उत्तम सुख होगा।

इस गाथामें यह बतलाया है कि निर्जरा होनेपर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है।

(३) संवरके साथ अविनाभावरूपसे निर्जरा होती है। निर्जराके आठ आचार (अङ्ग, लक्षण) हैं; इसमें उपबृंहण और प्रभावना ये दो आचार शुद्धिकी वृद्धि बतलाते हैं। इस सम्बन्धमें श्री समयसार गाथा २३३ की टीकामें निम्न प्रकार बतलाया है।

"क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण [illegible] शक्तियोंकी वृद्धि करनेवाला होनेसे उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्तिका बढ़ानेवाला है, इसीलिये उसके जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे (अर्थात् मन्दतासे) होनेवाला बन्ध नहीं परन्तु निर्जरा ही है।"

(४) और फिर गाथा २३६ की टीका तथा भावार्थमें कहा है—

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण ज्ञानकी समस्त शक्तिको प्रगट करनेसे–विकसित करनेसे, फैलानेसे प्रभाव उत्पन्न करता है। अतः प्रभावना करनेवाला है, इसलिये इसके ज्ञानकी प्रभावनाके अप्रकर्षसे (अर्थात् ज्ञानकी प्रभावनाकी वृद्धि न होनेसे) होनेवाला बन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः--प्रभावनाका अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना आदि; इसलिए जो निरन्तर अभ्याससे अपने ज्ञानको प्रगट करता है—बढ़ाता है उसके प्रभावना अङ्ग होता है। और उसके अप्रभावना कृत कर्मोंका बन्धन नहीं है, कर्मरस देकर खिर जाता है-झड़ जाता है, इसलिये निर्जरा ही है।

(५) इस प्रकार अनेकान्त दृष्टिमें स्पष्टरूपसे सर्वाङ्ग व्याख्या कही जाती है। जहां व्यवहारनयसे व्याख्या की जाय वहां निर्जराका ऐसा अर्थ होता है—'आंशिकरूपसे विकारकी हानि और पुराने कर्मोंका खिर जाना', किन्तु इसमें 'जो शुद्धिकी वृद्धि है सो निर्जरा है' ऐसा गर्भितरूपसे अर्थ कहा है।

[६) अष्टपाहुड़में भावप्राभृतकी १४४ वीं गाथाके भावार्थमें संवर, निर्जरा तथा मोक्षकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

'पांचवां संवर तत्त्व है। राग-द्वेष-मोहरूप जीवके विभावका न होना और दर्शन ज्ञानरूप चेतनाभावका स्थिर होना सो संवर है। यह जीवका निजभाव है और इससे पुद्गलकर्मजनित भ्रमण दूर होता है। इसतरह इन तत्त्वोंकी भावनामें आत्मतत्त्वकी भावना प्रधान है; इससे कर्मकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है। अनुक्रमसे आत्माके भाव शुद्ध होना सो निर्जरातत्व है और सर्वकर्मका अभाव होना सो मोक्षतत्व है।'

६—इस तरह संवर तत्वमें आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और निर्जरा-तत्वमें आत्मा की शुद्ध पर्यायकी वृद्धि होती है। इस शुद्ध पर्यायको एक शब्दसे 'शुद्धोपयोग' कहते हैं, दो शब्दोंसे कहना हो तो संवर और निर्जरा कहते हैं और तीन शब्दोंसे कहना

हो सो 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहते हैं। संवर और निर्जरामें आंशिक शुद्ध पर्याय होती है ऐसा समझना।

इस शास्त्रमें जहाँ जहां संवर और निर्जराका कथन हो वहां-वहां ऐसा समझना कि आत्माकी पर्याय जिस अंशमें शुद्ध होती है वह संवर-निर्जरा है। जो विकल्प, राग या शुभभाव है वह संवर-निर्जरा नहीं है; परन्तु इसका निरोध होना और आंशिक अशुद्धिका खिर जाना-झड़ जाना सो संवर-निर्जरा है।

७—अज्ञानी जीवने अनादिसे मोक्षका बीजरूप संवर-निर्जराभाव कभी प्रगट नहीं किया और इसका यथार्थ स्वरूप भी नहीं समझा। संवर-निर्जरा स्वयं धर्म है; इनका स्वरूप समझे बिना धर्म कैसे हो सकता है? इसलिये मुमुक्षु जीवोंको स्वरूप समझना आवश्यक है; आचार्यदेव इस अध्यायमें इसका वर्णन थोड़ेमें करते हैं। इसमें पहले संवरका स्वरूप वर्णन करते हैं।

संवरका लक्षण

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

अर्थः—[**आस्रवनिरोधः**] आस्रवका रोकना सो [**संवरः**] संवर है अर्थात् आत्मामें जिन कारणोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन कारणोंको दूर करनेसे कर्मोंका आना रुक जाता है उसे संवर कहते हैं।

टीका

१—संवरके दो भेद हैं—भावसंवर और द्रव्यसंवर। इन दोनोंकी व्याख्या भूमिकाके तीसरे पैराके (७) उपभेदमें दी है।

२—संवर धर्म है। जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवरका प्रारम्भ होता है; सम्यग्दर्शनके बिना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-इन सात तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थरूपसे और विपरीत अभिप्राय रहित जानना चाहिये।

३—सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जीवके आंशिक वीतरागभाव और आंशिक सराग-भाव होता है। वहां ऐसा समझना कि वीतरागभावके द्वारा संवर होता है और सरागभावके द्वारा बन्ध होता है।

४—बहुत से जीव अहिंसा आदि शुभास्रवको संवर मानते हैं, किन्तु वह भूल है।

शुभास्रवसे तो पुण्यबन्ध होता है। जिस भाव [illegible] नहीं होता।

५—आत्माके जितने अंशमें सम्यग्दर्शन है उतने अंशमें संवर है और बन्ध नहीं किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है; जितने अंशमें सम्यग्ज्ञान है उतने अंशमें संवर है, बन्ध नहीं, किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है; तथा जितने अंशमें सम्यक्चारित्र है उतने अंशमें संवर है बन्ध नहीं, किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है।

(देखो, पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २१२ से २१४)

६. **प्रश्न:**—सम्यग्दर्शन संवर है और बन्धका कारण नहीं, तो फिर अध्याय ६ सूत्र २१ में सम्यक्त्वको भी देवायुकर्मके आस्रवका कारण क्यों कहा? तथा अध्याय ६ सूत्र २४ में दर्शनविशुद्धिसे तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव होता है ऐसा क्यों कहा?

उत्तर:—तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध चौथे गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानके छट्ठे भाग-पर्यंत होता है और तीन प्रकारके सम्यक्त्वकी भूमिकामें यह बन्ध होता है। वास्तवमें (भूतार्थनयसे–निश्चयनयसे) सम्यग्दर्शन स्वयं कभी भी बन्धका कारण नहीं है, किन्तु इस भूमिकामें रहे हुए रागसे ही बन्ध होता है। तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका कारण भी सम्यग्दर्शन स्वयं नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें रहा हुआ राग बन्धका कारण है। जहां सम्यग्दर्शनको आस्रव या बन्धका कारण कहा हो वहां मात्र उपचार (व्यवहार) से कथन है ऐसा समझना; इसे अभूतार्थनयका कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञानके द्वारा नयविभागके स्वरूपको यथार्थ जाननेवाला ही इस कथनके आशयको अविरुद्धरूपसे समझता है।

प्रश्नमें जिस सूत्रका आधार दिया गया है उन सूत्रोंकी टीकामें भी खुलासा किया है कि सम्यग्दशन स्वयं बन्धका कारण नहीं है।

७—निश्चय सम्यग्दृष्टि जीवके चारित्र अपेक्षा दो प्रकार हैं—सरागी और वीतरागी। उनमेंसे सराग-सम्यग्दृष्टि जीव रागसहित हैं अतः रागके कारण उनके कर्म-प्रकृतियोंका आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवोंके सरागसम्यक्त्व है; परन्तु यहां ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यक्त्वका दोष नहीं किन्तु चारित्रका दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवोंके निर्दोष चारित्र है उनके वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है। वास्तवमें ये दो जीवोंके सम्यग्दर्शनमें भेद नहीं किन्तु चारित्रके भेदकी अपेक्षा ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रके दोष सहित हैं उनके सरागसम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीवके निर्दोष चारित्र है उनके वीतरागसम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इस तरह

चारित्रकी सदोषता या निर्दोषताकी अपेक्षासे ये भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और यह तो शुद्ध भाव ही है, इसीलिये यह आस्रव या बन्धका कारण नहीं है।

संवरके कारण

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

अर्थः—[**गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः**] तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बावीस परीषहजय और पांच चारित्र—इन छह कारणोंसे [**सः**] संवर होता है।

टीका

१—जिस जीवके सम्यग्दर्शन होता है उसके ही संवरके ये छह कारण होते हैं; मिथ्यादृष्टिके इन छह कारणोंमेंसे एक भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके तथा साधुके ये छहों कारण यथासम्भव होते हैं (देखो, पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २०३ की टीका) संवरके इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझे विना संवरका स्वरूप समझनेमें भी जीवकी भूल हुए विना नहीं रहती। इसलिये इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये।

२—गुप्तिका स्वरूप

(१) कुछ लोग मन-वचन-कायकी चेष्टा दूर करने, पापका चिंतवन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करनेको गुप्ति मानते हैं किन्तु यह गुप्ति नहीं है; क्योंकि जीवके मनमें भक्ति आदि प्रशस्त रागादिकके अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं और वचन-कायकी चेष्टा रोकनेका जो भाव है सो तो शुभ प्रवृत्ति है, प्रवृत्तिमें गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिये वीतरागभाव होनेपर जहाँ मन-वचन-कायकी चेष्टा नहीं होती वही यथार्थ गुप्ति है। यथार्थतया गुप्तिका एक हीप्रकार है और वह वीतरागभावरूप है। निमित्तकी अपेक्षासे गुप्तिके ३ भेद कहे हैं। मन-वचन-काय ये तो पर-द्रव्य हैं, उनकी कोई क्रिया बंध या अबंधका कारण नहीं है। वीतरागभाव होनेपर जीव जितने अंशमें मन-वचन-कायकी तरफ नहीं लगता उतने अंशमें निश्चयगुप्ति है और यही संवरका कारण है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

(२) जो जीव नयोंके रागको छोड़कर निज-स्वरूपमें गुप्त होता है उस जीवके गुप्ति होती है। उसका चित्त विकल्प-जालसे रहित शांत होता है और वह साक्षात् अमृतरसका

पान करते हैं। यह स्वरूपगुप्तिकी शुद्ध क्रिया है। जितने अंशमें वीतरागदशा होकर स्वरूपमें प्रवृत्ति होती है उतने अंशमें गुप्ति है; इस दशामें क्षोभ मिटता है और अतीन्द्रिय सुख अनुभवमें आता है। (देखो, श्री समयसार कलश ६९ पृष्ठ १७५)

(३) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक लौकिक वांछा रहित होकर योगोंका यथार्थ निग्रह करना सो गुप्ति है। योगोंके निमित्तसे आने वाले कर्मोंका आना बन्द पड़ जाना सो संवर है। (तत्त्वार्थसार अ० ६ गा० ५)

(४) इस अध्यायके चौथे सूत्रमें गुप्तिका लक्षण कहा है; उसमें बतलाया है कि जो 'सम्यक् योग-निग्रह' है सो गुप्ति है। इसमें सम्यक् शब्द अधिक उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि बिना सम्यग्दर्शनके योगोंका यथार्थ निग्रह नहीं होता अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक ही योगोंका यथार्थ निग्रह हो सकता है।

(५) **प्रश्नः**—योग चौदहवें गुणस्थानमें रुकता है और तेरहवें गुणस्थान तक वह होता है, तो फिर नीचेकी भूमिकावालेके 'योगका निग्रह' (गुप्ति) कहांसे हो सकता है?

उत्तरः—आत्माका उपयोग मन-वचन-कायकी तरफ जितना न लगे उतना योगका निग्रह हुआ कहलाता है। यहां योग शब्दका अर्थ 'प्रदेशोंका कम्पन' न समझना। प्रदेशोंके कंपनके निग्रहको गुप्ति नहीं कहा जाता, किन्तु इसे तो अकम्पता या अयोगता कहा जाता है; यह अयोग अवस्था चौदहवें गुणस्थानमें प्रगट होती है और गुप्ति तो चौथे गुणस्थानमें भी होती है।

(६) वास्तवमें आत्माका स्वरूप (निजरूप) ही परम गुप्ति है, इसीलिये आत्मा जितने अंशमें अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहे उतने अंशमें गुप्ति है।

[देखो, श्री समयसार कलश १५८]

३-आत्माका वीतरागभाव एकरूप है और निमित्तकी अपेक्षासे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ऐसे पृथक्-पृथक् भेद करके समझाया जाता है; इन भेदोंके द्वारा भी अभेदता बतलायी है। स्वरूपकी अभेदता संवर-निर्जराका कारण है।

४—गुप्ति, समिति आदिके स्वरूपका वर्णन चौथे सूत्रसे प्रारम्भ करके अनुक्रमसे कहेंगे ॥२॥

निर्जरा और संवरका कारण

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थः—[तपसा] तप से [निर्जरा च] निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

टीका

१—दस प्रकारके धर्ममें तपका समावेश हो जाता है तो भी उसे यहां पृथक् कहनेका कारण यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनोंका कारण है और उसमें संवरका यह प्रधान कारण है।

२—यहां जो तप कहा है सो सम्यक्तप है, क्योंकि यह तप ही संवर-निर्जराका कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके ही सम्यक्तप होता है; मिथ्यादृष्टिके तपको बालतप कहते हैं और यह आस्रव है, ऐसा छट्ठे अध्यायके १२ वें सूत्रकी टीकामें कहा है। इस सूत्रमें दिये गये 'च' शब्दमें बालतपका समावेश होता है। जो सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञानसे रहित हैं ऐसे जीव चाहे जितना तप करें तो भी उनका समस्त तप बालतप (अर्थात् अज्ञानतप, मूर्खतावाला तप) कहलाता है (देखो, समयसार गाथा १५२) सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाले तपको उत्तमतपके रूपमें इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें वर्णन किया है।

(३) तपका अर्थ

श्री प्रवचनसारकी गाथा १४ में तपका अर्थ इस तरह दिया है—'स्वरूपविश्रांत-निस्तरंगचैतन्यप्रतपनाच्च तपः, अर्थात् स्वरूपमें विश्रांत, तरंगोंसे रहित जो चैतन्यका प्रतपन है सो तप है।'

(४) तपका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) बहुतसे अनशनादिको तप मानते हैं और उस तपसे निर्जरा मानते हैं, किन्तु बाह्यतपसे निर्जरा नहीं होती, निर्जराका कारण तो शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोगमें जीवकी रमणता होनेपर अनशनके बिना 'जो शुभ-अशुभ इच्छाका निरोध होता है' सो संवर है। यदि बाह्यदुःख सहन करनेसे निर्जरा हो तो तिर्यंचादिक भी भूख-प्यासादिके दुःख सहन करते हैं इसलिये उनके भी निर्जरा होनी चाहिये। (मो० प्र०)

प्रश्नः—तिर्यंचादिक तो पराधीनतासे भूख-प्यासादिक सहन करते हैं, किन्तु जो स्वाधीनतासे धर्मकी बुद्धिसे उपवासादिरूप तप करे उसके तो निर्जरा होती न?

उत्तर—धर्मकी बुद्धिसे बाह्य उपवासादिक करे किन्तु वहां शुभ, अशुभ या शुद्धरूप जैसा उपयोग परिणमता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है। यदि अशुभ या शुभ-रूप उपयोग हो तो बंध होता है और सम्यग्दर्शन पूर्वक शुद्धोपयोग हो तो धर्म होता है। यदि बाह्य उपवाससे निर्जरा होती हो तो ज्यादा उपवासादि करनेसे ज्यादा निर्जरा हो और

थोड़े उपवासादि करनेसे थोड़ी निर्जरा होगी ऐसा नियम हो जायगा तथा निर्जराका मुख्य कारण उपवासादि ही हो जायगा किंतु ऐसा नहीं होता, क्योंकि बाह्य उपवासादि करने पर भी यदि दुष्ट-परिणाम करे तो उसके निर्जरा कैसे होगी ? इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभ, शुभ या शुद्धरूपसे जैसा उपयोगका परिणाम होता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है। इसलिये उपवासादि तप निर्जराके मुख्य कारण नहीं हैं, किन्तु अशुभ तथा शुभ परिणाम तो बन्धके कारण हैं और शुद्ध परिणाम निर्जराके कारण हैं ।

(३) **प्रश्नः**—यदि ऐसा है तो सूत्रमें ऐसा क्यों कहा कि 'तपसे भी निर्जरा होती है ?'

उत्तरः—बाह्य उपवासादि तप नहीं, किन्तु तपकी व्याख्या इसप्रकार है कि 'इच्छा-निरोधस्तपः' अर्थात् इच्छाको रोकना सो तप है । जो शुभ-अशुभ इच्छा है सो तप नहीं है किन्तु शुभ-अशुभ इच्छाके दूर होनेपर जो शुद्धउपयोग होता है सो सम्यक्तप है और इस तपसे ही निर्जरा होती है ।

(४) **प्रश्नः**—आहारादि लेनेरूप अशुभभावकी इच्छा दूर होनेपर तप होता है किन्तु उपवासादि या प्रायश्चित्तादि शुभकार्य है, इनकी इच्छा तो रहती है न ?

उत्तरः—ज्ञानी पुरुषके उपवासादिकी इच्छा नहीं किन्तु एक शुद्धोपयोगकी ही भावना है । ज्ञानी पुरुष उपवासादिके कालमें शुद्धोपयोग बढ़ाता है, किन्तु जहां उपवासादिसे शरीरकी या परिणामोंकी शिथिलताके द्वारा शुद्धोपयोग शिथिल होता जानता है वहां आहारादिक ग्रहण करता है । यदि उपवासादिसे ही सिद्धि होती हो तो श्री अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते ? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, परन्तु जैसा परिणाम हुआ वैसे ही साधनके द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया ।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३१)

(५) **प्रश्नः**—यदि ऐसा है तो अनशनादिककी तप संज्ञा क्यों कही है ?

उत्तरः—अनशनादिकको बाह्यतप कहा है । बाह्य अर्थात् बाहरमें दूसरोंको दिखाई देता है कि यह तपस्वी है । तथापि वहां भी स्वयं जैसा अंतरंग परिणाम करेगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा । शरीरकी क्रिया जीवको कुछ फल देनेवाली नहीं है । सम्यग्दृष्टि जीवके वीतरागता बढ़ती है वही सच्चा (यथार्थ) तप है । अनशनादिकको मात्र निमित्तकी अपेक्षासे 'तप' संज्ञा दी गई है ।

५ – तपके बारेमें स्पष्टीकरण

सम्यग्दृष्टिके तप करनेसे निर्जरा होती है और साथमें पुण्यकर्मका बन्ध भी होता है,

परन्तु ज्ञानी पुरुषोंके तपका प्रधान फल निर्जरा है इसीलिये इस सूत्रमें ऐसा कहा है कि तपसे निर्जरा होती है। जितनी तपमें न्यूनता होती है उतना पुण्यकर्मका बन्ध भी हो जाता है; इस अपेक्षासे पुण्यका बन्ध होना यह तपका गौण फल कहलाता है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न करना है, किन्तु भूसा आदि उत्पन्न होना यह उसका गौणफल है; उसीप्रकार यहां ऐसा समझना कि सम्यग्दृष्टिके तपका जो विकल्प आता है वह रागरूप होता है, अतः उसके फलमें पुण्यबन्ध हो जाता है और जितना राग टूटकर (दूर होकर) वीतरागभाव-शुद्धोपयोग बढ़ता है वह निर्जराका कारण है। आहार पेटमें जाय या न जाय वह बन्ध या निर्जराका कारण नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्य है और परद्रव्यका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है इसीलिये उसके परिणमनसे आत्माको लाभ-हानि नहीं होती। जीवके अपने परिणामसे ही लाभ या हानि होती है।

६—अध्याय ८ सूत्र २३ में भी निर्जरा सम्बन्धी वर्णन है अतः उस सूत्रकी टीका यहां भी पढ़ना। तपके १२ भेद बतलाये हैं; इस सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्यायके १९-२० वें सूत्रमें किया गया है अतः वहांसे देख लेना ॥३॥

गुप्तिका लक्षण और भेद

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थः—[सम्यक्योगनिग्रहो] भले प्रकार योगका निग्रह करना सो **[गुप्तिः]** गुप्ति है।

टीका

१—इस सूत्रमें सम्यक् शब्द बहुत उपयोगी है। यह यह बतलाता है कि सम्यग्दर्शन-पूर्वक ही गुप्ति होती है; अज्ञानीके गुप्ति नहीं होती। तथा सम्यक् शब्द यह भी बतलाता है कि जिस जीवके गुप्ति होती है उस जीवके विषयसुखकी अभिलाषा नहीं होती। यदि जीवके संक्लेशता (आकुलता) हो तो उसके गुप्ति नहीं होती। दूसरे सूत्रकी टीकामें गुप्तिका स्वरूप बतलाया है वह यहां भी लागू होता है।

२. गुप्तिकी व्याख्या

(१) जीवके उपयोगका मनके साथ युक्त होना सो मनोयोग है, वचनके साथ युक्त होना सो वचनयोग है और कायके साथ युक्त होना सो काययोग है तथा इसका अभाव होना अनुक्रमसे मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। इस तरह निमित्तके अभावकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद हैं।

पर्यायमें शुद्धोपयोगकी हीनाधिकता होती है तथापि उसमें शुद्धता तो एक ही प्रकारकी है। निमित्तकी अपेक्षासे उसके अनेक भेद कहे जाते हैं।

जब जीव वीतरागभावके द्वारा अपनी स्वरूपगुप्तिमें रहता है तब मन, वचन और कायकी ओरका आश्रय छूट जाता है, इसीलिये उसके नास्तिकी अपेक्षासे तीन भेद होते हैं; ये सब भेद निमित्तके हैं ऐसा जानना।

(२) सर्व मोह-राग-द्वेषको दूर करके खण्डरहित अद्वैत परम चैतन्यमें भलीभांति स्थित होना सो निश्चयमनोगुप्ति है। सम्पूर्ण असत्यभाषाको इस तरह त्यागना कि (अथवा इस तरह मौनव्रत रखना कि) मूर्तिक द्रव्यमें, अमूर्तिक द्रव्यमें या दोनोंमें वचनकी प्रवृत्ति रुके और जीव परमचैतन्यमें स्थिर हो सो निश्चयवचनगुप्ति है। संयमधारी मुनि जब अपने चैतन्यस्वरूप चैतन्यशरीरसे जड़ शरीरका भेदज्ञान करता है (अर्थात् शुद्धात्माके अनुभवमें लीन होता है) तब अन्तरंगमें स्वात्माकी उत्कृष्ट मूर्तिकी निश्चलता होना सो कायगुप्ति है।

(नियमसार गाथा ६९-७० और टीका)

(३) अनादि अज्ञानी जीवोंने कभी सम्यग्गुप्ति धारण नहीं की। अनेकवार द्रव्यलिंगी मुनि होकर जीवने शुभोपयोगरूप गुप्ति—समिति आदि निरतिचार पालन कीं किन्तु वह सम्यक् न थीं। किसी भी जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सम्यग्गुप्ति नहीं हो सकती और उसका भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करके क्रम-क्रमसे आगे बढ़कर सम्यग्गुप्ति प्रगट करनी चाहिये।

(४) छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधुके शुभभावरूप गुप्ति भी होती है, इसे व्यवहारगुप्ति कहते हैं, किन्तु वह आत्माका स्वरूप नहीं है, वह शुभ विकल्प है इसीलिये ज्ञानी उसे हेयरूप समझते हैं, क्योंकि इससे बन्ध होता है। इसे दूर कर साधु निर्विकल्पदशामें स्थिर होता है; इस स्थिरताको निश्चयगुप्ति कहते हैं। यह निश्चयगुप्ति संवरका सच्चा कारण है ॥ ४ ॥

दूसरे सूत्रमें संवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेंसे गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ। अब समितिका वर्णन करते हैं।

समितिके ५ भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थः—[**ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः**] सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग—ये पांच [**समितयः**] समिति हैं (चौथे सूत्रका 'सम्यक्' शब्द इस सूत्रमें भी लागू होता है।)

टीका

१—समितिका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूलः—

(१) अनेकों लोग परजीवोंकी रक्षाके लिये यत्नाचार प्रवृत्तिको समिति मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि हिंसाके परिणामोंसे तो पाप होता है, और यदि ऐसा माना जावे कि रक्षाके परिणामोंसे संवर होता है तो फिर पुण्यबन्धका कारण कौन होगा ? पुनश्च, एषणा समितिमें भी यह अर्थ घटित नहीं होता, क्योंकि वहां तो दोष दूर होता है किन्तु किसी पर जीवकी रक्षाका प्रयोजन नहीं है।

(२) **प्रश्नः**—तो फिर समितिका यथार्थ स्वरूप क्या है ?

उत्तरः—मुनिके किंचित् राग होनेपर गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उस क्रियामें अति आसक्तिके अभावसे उनके प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादिरूप प्रयोजन नहीं साधते, इसीलिये उनसे स्वयं दया पलती है, इसी रूपमें यथार्थ समिति है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२८)

अ—अभेद उपचाररहित जो रत्नत्रयका मार्ग है, उस मार्गरूप परम धर्म द्वारा अपने आत्मस्वरूपमें 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकारसे 'इता' गमन तथा परिणमन है सो समिति है। अथवा—

ब—स्व-आत्माके परमतत्त्वमें लीन स्वाभाविक परमज्ञानादि परम धर्मोंकी जो एकता है सो समिति है। यह समिति संवर-निर्जरारूप है।

(देखो, श्री नियमसार गाथा ६१)

(३) सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि आत्मा परद्रव्यका काम नहीं कर सकता, परद्रव्योंका कुछ नहीं कर सकता, भाषा नहीं बोल सकता, शरीरकी हलन-चलनादिरूप क्रिया नहीं कर सकता, शरीर चलने योग्य होकर स्वयं उसकी क्रियाको करता है, परमाणु भाषारूपसे परिणमनेके योग्य होकर स्वयं परिणमता है, पर जीव उसकी आयुकी योग्यताके अनुसार जीता या मरता है, लेकिन उस समयके उसके योग्य अनुसार किसी जीवके राग होता है, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसीलिये निमित्तकी अपेक्षासे समितिके पांच भेद होते हैं; उपादान अपेक्षा से तो भेद नहीं पड़ता।

(४) गुप्ति निवृत्तिस्वरूप है और समिति प्रवृत्तिस्वरूप है। सम्यग्दृष्टिकी समितिमें जितने अंशमें वीतरागभाव है उतने अंशमें संवर है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है।

(५) मिथ्यादृष्टि जीव तो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोंको बचा सकता हूं तथा मैं परद्रव्योंका कुछ कर सकता हूँ, इसीलिये उसके समिति होती ही नहीं। द्रव्यलिंगी मुनिके शुभोपयोगरूप समिति होती है किन्तु वह सम्यक् समिति नहीं है और संवरका कारण भी नहीं है। पुनश्च, वह तो शुभोपयोगको धर्म मानता है, इसलिये वह मिथ्यात्वी है।

२—पहले समितिको आस्रवरूप कहा था और यहां संवररूप कहा है; इसका कारण बतलाते हैं—

छट्ठे अध्यायके ५ वें सूत्रमें पच्चीस प्रकारकी क्रियाओंको आस्रवका कारण कहा है; वहां गमन आदिमें होनेवाली जो शुभरागरूप क्रिया है सो ईर्यापथ क्रिया है और वह पांच समितिरूप है ऐसा वतलाया है और उसे बन्धके कारणोंमें गिना है। परन्तु यहां समितिको संवरके कारणमें गिना है, इसका कारण यह है कि जैसे सम्यग्दृष्टिके वीतरागताके अनुसार पाँच समिति संवरका कारण होती हैं वैसे उसके जितने अंशमें राग है उतने अंशमें वह आस्रवका भी कारण होती हैं। यहां संवर अधिकारमें संवरकी मुख्यता होनेसे समितिको संवरके कारणरूपसे वर्णन किया है और छट्ठे अध्यायमें आस्रवकी मुख्यता है अतः वहां समितिमें जो राग है उसे आस्रवके कारणरूपसे वर्णन किया है।

३—उपरोक्त प्रमाणानुसार समिति वह चारित्रका मिश्रभावरूप है ऐसा भाव सम्यग्दृष्टिके होता है, उसमें आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है। जिस अंशमें वीतरागता है उस अंशके द्वारा तो संवर ही होता है और जिस अंशमें सरागता है उस अंशके द्वारा बन्ध ही होता है। सम्यग्दृष्टिके ऐसे मिश्ररूप भावसे तो संवर और बन्ध ये दोनों कार्य होते हैं किन्तु अकेले रागके द्वारा ये दो कार्य नहीं हो सकते; इसलिये 'अकेले प्रशस्त राग' से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्ररूप भावमें भी यह सरागता है और यह वीतरागता है ऐसी यथार्थ पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है, इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभावको हेयरूपसे श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टिके सरागभाव और वीतरागभावकी यथार्थ पहिचान नहीं है, इसीलिये वह सरागभावमें संवरका भ्रम करके प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेयरूप श्रद्धान करता है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक-पृष्ठ २२८)

४—समितिके पांच भेद

जब साधु गुप्तिरूप प्रवर्तनमें स्थिर नहीं रह सकते तब वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग इन पांच समितिमें प्रवर्तते हैं, उस समय असंयमके निमित्तसे बन्धनेवाला कर्म नहीं बंधता सो उतना संवर होता है।

यह समिति मुनि और श्रावक दोनों यथायोग्य पालते हैं।

(देखो, पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २०३ का भावार्थ)

पांच समितियोंकी व्याख्या निम्नप्रकार है:—

ईर्यासमितिः—चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्धमार्गमें चलना।

भाषासमितिः—हित, मित और प्रिय वचन बोलना।

एषणासमितिः—श्रावकके घर विधिपूर्वक दिनमें एक ही बार निर्दोष आहार लेना सो एषणासमिति है।

आदाननिक्षेपसमितिः—सावधानी पूर्वक निर्जन्तु स्थानको देखकर वस्तुको रखना, देना तथा उठाना।

उत्सर्गसमितिः—जीव रहित स्थानमें मल-मूत्रादिका क्षेपन करना।

यह व्यवहार-व्याख्या है; यह मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाती है, परन्तु ऐसा नहीं समझना कि जीव परद्रव्यका कर्ता है और परद्रव्यकी अवस्था जीवका कर्म है॥५॥

दूसरे सूत्रमें संवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेंसे समिति और गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दस धर्मका वर्णन करते हैं।

दस धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-
ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थः—[उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि] उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश [धर्मः] धर्म हैं।

टीका

१. प्रश्नः—ये दस प्रकारके धर्म किसलिये कहे ?

(३) आर्जवः—माया-कपटसे रहितपन, सरलता-सीधापनको आर्जव कहते हैं।

(४) शौचः—लोभसे उत्कृष्टरूपसे उपराम पाना-निवृत्त होना सो शौच-पवित्रता है।

(५) सत्यः—सत् जीवोंमें-प्रशंसनीय जीवोंमें साधु-वचन (सरल वचन) बोलनेका जो भाव है सो सत्य है।

प्रश्नः—उत्तम सत्य और भाषा-समितिमें क्या अन्तर है ?

उत्तरः—समितिरूपमें प्रवर्तने वाले मुनिके साधु और असाधु पुरुषोंके प्रति वचन-व्यवहार होता है और वह हित, परिमित वचन है। उन मुनिको शिष्यों तथा उनके भक्तों (श्रावकों) में उत्तम सत्य ज्ञान, चारित्रके लक्षणादिक सीखने-सिखानेमें अधिक भाषाव्यवहार करना पड़ता है, उसे उत्तम सत्य धर्म कहा जाता है।

(६) संयमः—समितिमें प्रवर्तनेवाले मुनिके प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाने-करनेका जो भाव है सो संयम है।

(७) तपः—भावकर्मका नाश करनेके लिये स्वकी शुद्धताके प्रतपनको तप कहते हैं

(८) त्याग—संयमी जीवोंको योग्य ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(९) आकिंचन्यः—विद्यमान शरीरादिकमें भी संस्कारके त्यागके लिये 'यह मेरा है' ऐसे अनुरागकी निवृत्तिको आकिंचन्य कहते हैं। आत्माके स्वरूपसे भिन्न ऐसे शरीरादिकमें या रागादिकमें ममत्वरूप परिणामोंके अभावको आकिंचन्य कहते हैं।

(१०) ब्रह्मचर्यः—स्त्री-मात्रका त्याग कर अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है। पूर्वमें भोगे हुये स्त्रियोंके भोगका स्मरण तथा उनकी कथा सुननेके त्यागसे तथा स्त्रियोंके पास बैठनेके छोड़नेसे और स्वच्छन्द प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरुकुलमें रहनेसे ब्रह्मचर्य पलता है। इन दसों शब्दोंमें 'उत्तम' शब्द जोड़नेसे 'उत्तम क्षमा' आदि दस धर्म होते हैं। उत्तम क्षमा आदि कहनेसे उसे शुभरागरूप न समझना किन्तु कषाय रहित शुद्धभावरूप समझना। (स० सि०)

४–दस प्रकारके धर्मोंका वर्णन

क्षमाके निम्नप्रकार ५ भेद हैं:—

(१) जैसे स्वयं निर्बल होनेपर सबलका विरोध नहीं करना, उसी प्रकार 'यदि मैं क्षमा करूँ तो मुझे कोई परेशान न करेगा' ऐसे भावसे क्षमा रखना। यह [illegible]

टीका

१—यहांसे लेकर सत्रहवें सूत्र तक परीषहका वर्णन है। इस विषयमें जीवोंकी बड़ी भूल होती है, इसलिये यह भूल दूर करनेके लिये यहां परीषहजयका यथार्थ स्वरूप बतलाया है। इस सूत्रमें प्रथम 'मार्गाच्यवन' शब्दका प्रयोग किया है; इसका अर्थ है मार्गसे च्युत न होना। जो जीव मार्गसे (सम्यग्दर्शनादिसे) च्युत हो जाय उसके संवर नहीं होता किन्तु बन्ध होता है, क्योंकि उसने परीषहजय नहीं किया किन्तु स्वयं विकारसे घाता गया। अब इसके बादके सूत्र ९-१०-११ के साथ सम्बन्ध बतानेकी विशेष आवश्यकता है।

२—दसवें सूत्रमें कहा गया है कि—दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें बाईस परीषहोंमेंसे आठ तो होती ही नहीं अर्थात् उनको जीतना नहीं है, और बाकीकी चौदह परीषह होती हैं उन्हें वह जीतता है अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि परीषहोंसे उस गुणस्थानवर्ती जीव घाता नहीं जाता किन्तु उनपर जय प्राप्त करता है अर्थात् उन गुणस्थानोंमें भूख, प्यास आदि उत्पन्न होनेका निमित्त-कारणरूप कर्मका उदय होनेपर भी वे निर्मोही जीव उनमें युक्त नहीं होते, इसीलिये उनके क्षुधा-तृषा आदि सम्बन्धी विकल्प भी नहीं उठता। इसप्रकार वे जीव उन परीषहों पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करते हैं। इसीसे उन गुणस्थानवर्ती जीवोंके रोटी आदिका आहार, औषधादिका ग्रहण, पानी आदिका ग्रहण नहीं होता ऐसा नियम है।

३—परीषहके बारेमें यह बात विशेषरूपसे ध्यानमें रखना चाहिये कि संक्लेश रहित भावोंसे परीषहोंको जीत लेनेसे ही संवर होता है। यदि दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें खाने-पीने आदिका विकल्प आये तो संवर कैसे हो? और परीषहजय हुआ कैसे कहलाये? दसवें सूत्रमें कहा है कि चौदह परीषहों पर जय प्राप्त करनेसे ही संवर होता है। सातवें गुणस्थानमें ही जीवके खाने-पीनेका विकल्प नहीं उठता क्योंकि वहाँ निर्विकल्प दशा है; वहाँ बुद्धिगम्य नहीं ऐसा अबुद्धिपूर्वक विकल्प होता है, किन्तु वहां खाने-पीनेके विकल्प नहीं होते, इसलिये उन विकल्पोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रखनेवाली आहार-पानीकी क्रिया भी नहीं होती। तो फिर दसवें गुणस्थानमें तो कषाय बिलकुल सूक्ष्म हो गई है और ग्यारवें तथा बारहवें गुणस्थानमें तो कषायका अभाव होनेसे निर्विकल्पदशा जम जाती है; वहां खाने-पीनेका विकल्प ही कहाँसे हो सकता है? खाने-पीनेका विकल्प और उसके साथ निमित्तरूपसे सम्बन्ध रखनेवाली खाने-पीनेकी क्रिया तो बुद्धिपूर्वक विकल्प दशामें ही होती है; इसलिये वह विकल्प और क्रिया तो छट्ठे गुणस्थान तक ही हो सकती है किन्तु उससे ऊपर नहीं होती अर्थात् सातवें आदि गुणस्थानमें नहीं होती। अतएव दसवें,

ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें उस प्रकारका विकल्प तथा बाह्य-क्रिया अशक्य है।

४—दसवें सूत्रमें कहा है कि दस-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें अज्ञान परीषहका जय होता है, सो अब इसके तात्पर्यका विचार करते हैं।

अज्ञानपरीषहका जय यह बतलाता है कि वहां अभी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु अपूर्ण ज्ञान है और उसके निमित्तरूप ज्ञानावरणीयकर्मका उदय है। उपरोक्त गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणीयका उदय होने पर भी जीवके उस सम्बन्धी रंचमात्र आकुलता नहीं है। दसवें गुणस्थानमें सूक्ष्म कषाय है किन्तु वहां भी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि 'मेरा ज्ञान न्यून है' और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें तो अकषायभाव रहता है इसलिये वहां भी ज्ञानकी अपूर्णताका विकल्प नहीं हो सकता। इस तरह उनके अज्ञान (ज्ञानकी अपूर्णता) है तथापि परीषहजय वर्तता है। इसी प्रमाणसे उन गुणस्थानोंमें भोजन-पानका परीषहजय सम्बन्धी सिद्धान्त भी समझना।

५—इस अध्यायके सोलहवें सूत्रमें वेदनीयके उदयसे ११ परीषह बतलाई हैं। उनके नाम—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल हैं।

दसवें, ग्यारवें और बारहवें गुणस्थानमें जीवके निज स्वभावसे ही इन ग्यारह परीषहोंका जय होता है।

६—कर्मका उदय दो तरहसे होता है:—प्रदेशउदय और विपाकउदय। जब जीव विकार करता है तब उस उदयको विपाकउदय कहते है और यदि जीव विकार न करे तो उसे प्रदेशउदय कहते हैं। इस अध्यायमें संवर-निर्जराका वर्णन है। यदि जीव विकार करे तो उसके न परीषहजय हो और न संवर-निर्जरा हो। परीषहजयसे संवर-निर्जरा होती है। दसवें-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें भोजन-पानका परीषहजय कहा है; इसलिये वहाँ उस सम्बन्धी विकल्प या बाह्य-क्रिया नहीं होती।

७—परीषहजयका यह स्वरूप तेरहवें गुणस्थानमें विराजमान तीर्थंकर भगवान और सामान्य केवलियोंके भी लागू होता है। इसीलिये उनके भी क्षुधा तृषा आदि भाव उत्पन्न ही नहीं होते और भोजन-पानकी बाह्य-क्रिया भी नहीं होती। यदि भोजन-पानकी बाह्य-क्रिया हो तो वह परीषहजय नहीं कहा जा सकता; परीषहजय तो संवर-निर्जराका कारण है। यदि भूख-प्यास आदिके विकल्प होनेपर भी क्षुधा परीषहजय, तृषा परीषहजय आदि माना जावे तो परीषहजय संवर-निर्जराका कारण नहीं ठहरेगा।

८—श्री नियमसारकी छट्ठी गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्द-आचार्यदेव कहते हैं कि—
१ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ रोष, ५ राग, ६ मोह, ७ चिंता, ८ जरा, ९ रोग, १० मरण,

११ स्वेद-(पसीना), १२ खेद, १३ मद-(घमण्ड), १४ रति, १५ विस्मय, १६ निद्रा, १७ जन्म और १८ उद्वेग—ये अठारह महादोष आप्त अर्हन्त वीतराग भगवानके नहीं होते।

९—भगवानके उपदिष्ट मार्गसे न डिगने और उस मार्गमें लगातार प्रवर्त्तन करनेसे कर्मका द्वार रुक जाता है और इसीसे संवर होता है, तथा पुरुषार्थके कारणसे निर्जरा होती है और उससे मोक्ष होता है, इसलिये परीषह सहन करना योग्य है।

१०—परीषहजयका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

परीषहजयका स्वरूप ऊपर कहा गया है कि क्षुधादि लगने पर उस सम्बन्धी विकल्प भी न होने-न उठनेका नाम परीषहजय है। कितने ही जीव भूख आदि लगने पर उसके नाशके उपाय न करनेको परीषह सहना मानते हैं, किन्तु यह मिथ्या मान्यता है। भूख प्यास आदिके दूर करनेका उपाय न किया परन्तु अन्तरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेसे दुःखी हुआ तथा रति आदिका कारण (इष्ट सामग्री) मिलनेसे सुखी हुआ, ऐसा जो सुख-दुःखरूप परिणाम है वही आर्त-रौद्र ध्यान है; ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो और उसे परीषहजय कैसे कहा जाय? यदि दुःखके कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुखके कारण मिलनेसे सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूपसे उसका जाननेवाला ही रहे तभी वह परीषहजय है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२९)

परीषहके बाईस भेद

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥९॥

अर्थः—[क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईस परीषह हैं।

टीका

१—आठवें सूत्रमें आये हुये 'परिसोढव्याः' शब्दका अध्याहार इस सूत्रमें समझना; इसीलिये प्रत्येक शब्दके साथ 'परिसोढव्याः' शब्द लागू करके अर्थ करना अर्थात् इस सूत्रमें कही गई २२ परीषह सहन करने योग्य हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा हो वहाँ परीषहका सहन होता है अर्थात् परीषह सही जाती है। मुख्यरूपसे मुनि अवस्थामें परीषह-

जय होती है। अज्ञानीके परीषहजय होती ही नहीं, क्योंकि परीषहजय तो सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागभाव है।

२—अज्ञानी ऐसा मानते हैं, कि परीषह सहन करना दुःख है, किंतु ऐसा नहीं है; 'परीषह सहन करने' का अर्थ दुःख भोगना नहीं होता। क्योंकि जिस भावसे जीवके दुःख होता है वह तो आर्तध्यान है और वह पाप है, उसीसे अशुभबंधन है, और यहाँ तो संवरके कारणोंका वर्णन चल रहा है। लोगोंकी अपेक्षासे बाह्य-संयोग चाहे प्रतिकूल हो या अनुकूल हो तथापि राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतरागभाव प्रगट करनेका नाम ही परीषह-जय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन किया कहा जाता है। यदि अच्छे-बुरेका विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नहीं कहलाता, किन्तु राग-द्वेष करना कहलाता है। राग-द्वेषसे कभी संवर होता ही नहीं किन्तु बंध ही होता है। इसलिये ऐसा समझना कि जितने अंशमें वीत-रागता है उतने अंशमें परीषहजय है और यह परीषहजय सुख-शांतिरूप है। लोग परीषह-जयको दुःख कहते हैं सो असत् मान्यता है। पुनश्च, अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान और महावीर भगवानने परीषहके बहुत दुःख भोगे; परन्तु भगवान तो स्वके शुद्धो-पयोग द्वारा आत्मानुभवमें स्थिर थे और स्वात्मानुभवके शांत रसमें झूलते थे—लीन थे इसीका नाम परीषहजय है। यदि उस समय भगवानके दुःख हुआ हो तो वह द्वेष है और द्वेषसे बंध होता किंतु संवर-निर्जरा नहीं होती। लोग जिसे प्रतिकूल मानते हैं ऐसे संयोगोंमें भी भगवान निज-स्वरूपसे च्युत नहीं हुये थे इसलिये उन्हें दुःख नहीं हुआ किन्तु सुख हुआ और इसीसे उनके संवर-निर्जरा हुई थी। यह ध्यान रहे कि जगतमें कोई भी संयोग अनुकूल या प्रतिकूलरूप नहीं है, किन्तु जीव स्वयं जिस प्रकारके भाव करता है उसमें वैसा आरोप किया जाता है और इसीलिये लोग उसे [illegible] संयोग कहते हैं।

३—बाईस परीषहोंका स्वरूप

(१) क्षुधाः—क्षुधा परीषह [illegible] पर ही निर्भर है, भोजनके लिये कोई वस्तु [illegible] नहीं करते किन्तु अपने हाथमें ही भोजन [illegible] मात्र एक शरीर उदाहरण है। पुनश्च, [illegible] संस्थान (आहारको जाते हुए घर [illegible] चार दिन, आठ दिन, पक्ष, महीना आदि [illegible] लोभमें अंतराय रहित शुद्ध निर्दोष आहार [illegible] करते और जिनमें कोई भी विसंवाद [illegible]

इस तरह क्षुधारूपी अग्नि प्रज्वलित होती है तथापि धैर्यरूपी जलसे उसे शांत कर देते हैं और राग-द्वेष नहीं करते, ऐसे मुनियोंको क्षुधा-परीषह सहना योग्य है ।

असाता वेदनीयकर्मकी उदीरणा हो तभी क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीयकर्मकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थानपर्यन्त ही होती है उससे ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होती । छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके क्षुधा उत्पन्न होती है तथापि वे आकुलता नहीं करते और आहार नहीं लेते, किन्तु धैर्यरूपी जलसे उस क्षुधाको शांत करते हैं तब उनके परीषहजय करना कहलाता है । छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय निर्दोष भोजनका योग न बने तो आहारका विकल्प तोड़कर निर्विकल्पदशामें लीन हो जाते हैं तब उनके परीषह जय कहा जाता है ।

(२) तृषाः—प्यासको धैर्यरूपी जलसे शांत करना सो तृषा परीषहजय है ।

(३) शीतः—ठंडको शांतभावसे अर्थात् वीतरागभावसे सहन करना सो शीत परीषहजय है ।

(४) उष्णः—गर्मीको शांतभावसे सहन करना अर्थात् ज्ञानमें ज्ञेयरूप करना सो उष्ण परीषहजय है ।

(५) दंशमशकः—डांस, मच्छर, चींटी, विच्छू इत्यादिके काटनेपर शांतभाव रखना सो दंशमशक परीषहजय है ।

(६) नाग्न्य—नग्न रहनेपर भी स्वमें किसी प्रकारका विकार न होने देना सो नाग्न्य परीषहजय है । प्रतिकूल प्रसंग आनेपर वस्त्रादि पहिन लेना नाग्न्य परीषह नहीं है किन्तु यह तो मार्गसे ही च्युत होना है और परीषह तो मार्गसे च्युत न होना है ।

(७) अरतिः—अरतिका कारण उपस्थित होनेपर भी संयममें अरति न करना सो अरति परीषहजय है ।

(८) स्त्रीः-स्त्रियोंके हाव भाव प्रदर्शन आदि चेष्टाको शांतभावसे सहन करना अर्थात् उसे देखकर मोहित न होना सो स्त्री परीषहजय है ।

(९) चर्याः-गमन करते हुए खेद-खिन्न न होना सो चर्या परीषहजय है ।

(१०) निषद्याः—नियमित काल तक ध्यानके लिये आसनसे च्युत न होना सो निषद्या परीषहजय है ।

(११) शय्या:—विषम, कठोर, कँकरीले स्थानोंमें एक करवटसे निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आनेपर भी शरीरको चलायमान न करना सो शय्या परीषहजय है।

(१२) आक्रोश:—दुष्ट जीवों द्वारा कहे गये कठोर शब्दोंको शांतभावसे सह लेना सो आक्रोश परीषहजय है।

(१३) वध:—तलवार आदिसे शरीर पर प्रहार करनेवालेके प्रति भी क्रोध न करना सो वध परीषहजय है।

(१४) याचना:—अपने प्राणोंका वियोग होना भी सम्भव हो तथापि आहारादिको याचना न करना सो याचना परीषहजय है।

नोट:—याचना करनेका नाम याचना परीषहजय नहीं है, किन्तु याचना न करनेका नाम याचना परीषहजय है। जैसे अरति-द्वेष करनेका नाम अरति परीषह नहीं, किन्तु अरति न करना सो अरति परीषहजय है, उसी तरह याचनामें भी समझना। यदि याचना करना परीषहजय हो तो गरीब लोग आदि बहुत याचना करते हैं इसलिये उन्हें अधिक धर्म हो, किन्तु ऐसा नहीं है। कोई कहता है कि 'याचना की. इसमें मानकी कमी-न्यूनतासे परीषहजय कहना चाहिये' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी तरहका तीव्र [illegible] लिये यदि किसी प्रकारकी कषाय छोड़े तो भी वह पापी ही है, जैसे कोई लोभके लिये अपने अपमानको न समझे तो उसके लोभकी अति तीव्रता ही है, इसीलिये इस अपमान करानेसे भी महापाप होता है, तथा यदि स्वयंके किसी [illegible] इच्छा नहीं है और कोई स्वयं अपमान करे तो उसे सहन करनेवालेके महान धर्म होता है। [illegible] करके अपमान कराना सो तो पाप ही है, धर्म नहीं। [illegible] करना सो पाप है, धर्म नहीं, (मुनिके तो [illegible]) [illegible] नहीं है, वे तो शरीर-सुखके कारण हैं, इसीलिये [illegible] नहीं किन्तु याचना दोष है, अतएव याचनाका निषेध है [illegible]।

याचना तो धर्मरूप उच्चपदको नीचा [illegible] होती है।

(१५) अलाभ:—आहारादि प्राप्त न होनेपर भी [illegible] विशेष सन्तोष धारण करना सो अलाभ परीषहजय है।

(१६) रोग:—शरीरमें अनेक रोग [illegible] रोग परीषहजय है।

वरणीयका उदय भी होता है और उस समय यदि जीव मोहमें युक्त हो तो जीवमें स्वके कारणसे विकार होता है; इसलिये यहाँ 'प्रज्ञा' का अर्थ मात्र 'ज्ञान' न करके 'ज्ञानमें होनेवाला मद' ऐसा करना। यहाँ प्रज्ञा शब्दका उपचारसे प्रयोग किया है किन्तु निश्चयार्थमें वह प्रयोग नहीं है ऐसा समझना। दूसरी परीषहके सम्बन्धमें कही गई समस्त बातें यहाँ भी लागू होती हैं।

(८) ज्ञानकी अनुपस्थिति (गैरमौजूदगी) का नाम अज्ञान है, यह ज्ञानकी अनुपस्थिति किसी बंधका कारण नहीं है, किन्तु यदि जीव उस अनुपस्थितिको निमित्त बनाकर मोह करे तो जीवमें विकार होता है। अज्ञान तो ज्ञानावरणीकर्मके उदयकी उपस्थिति बतलाता है। परद्रव्य बंधके कारण नहीं किन्तु स्वके दोष-अपराध बंधका कारण हैं। जीव जितना राग-द्वेष करता है, उतना बंध होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व-मोह नहीं होता किन्तु चारित्रकी अस्थिरतासे राग-द्वेष होता है। जितने अंशमें राग दूर करे उतने अंशमें परीषहजय कहलाता है।

(९) अलाभ और अदर्शन परीषहमें भी उपरोक्त प्रमाणानुसार अर्थ समझना; अन्तर मात्र इतना है कि अदर्शन यह दर्शनमोहनीयकी मौजूदगी बतलाता है और अलाभ अन्तराय कर्मकी उपस्थिति बतलाता है। कर्मका उदय, अदर्शन या अलाभ यह कोई बंधका कारण नहीं है। जो अलाभ है सो परद्रव्यका वियोग (अभाव) बतलाता है, परन्तु यह जीवके कोई विकार नहीं करा सकता, इसलिये यह बंधका कारण नहीं है।

(१०) चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल—ये छहों शरीर और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले परद्रव्योंकी अवस्था है। वह मात्र वेदनीयका उदय बतलाता है, किन्तु यह किसी भी जीवके विक्रिया-विकार उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

बाईस परीषहोंका वर्णन किया, उनमेंसे किस गुणस्थानमें कितनी परीषह होती हैं, यह वर्णन करते हैं:—

दसवें से बारहवें गुणस्थान तककी परीषहें

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थ—[सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः] सूक्ष्मसांपराय वाले जीवोंके और छद्मस्थ वीतरागोंके [चतुर्दश] चौदह परीषह होती हैं।

टीका

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्मपरिणामोंकी तारतम्यताको गुणस्थान कहते हैं, वे चौदह हैं। सूक्ष्मसांपराय यह दसवाँ गुणस्थान है और छद्मस्थ वीतरागता ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें होती है। इन तीन गुणस्थानों अर्थात् दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें चौदह परीषह होती हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ चर्या, ७ शय्या, ८ वध, ९ अलाभ, १० रोग, ११ तृणस्पर्श, १२ मल, १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान। इनके अतिरिक्त १ नग्नता, २-संयममें अप्रीति (अरति) ३-स्त्री अवलोकन-स्पर्श, ४-आसन (निषद्या) ५-दुर्वचन (आक्रोश), ६-याचना, ७-सत्कार-पुरस्कार और ८-अदर्शन; मोहनीय कर्मजनित ये आठ परीषहें वहाँ नहीं होतीं।

१. प्रश्नः—दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें तो लोभ-कषायका उदय है, तो फिर वहाँ ये आठ परीषहें क्यों नहीं होतीं?

उत्तरः—सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें मोहका उदय अत्यन्त सूक्ष्म है—अल्प है अर्थात् नाममात्र है, इसीलिये वहाँ उपरोक्त १४ परीषहोंका सद्भाव और बाकीके ८ परीषहोंका अभाव कहा सो ठीक है; क्योंकि इस गुणस्थानमें एक [illegible] लोभ-कषायका उदय है और वह भी बहुत थोड़ा है, कथनमात्रको है; इसलिये सूक्ष्मसांपराय और [illegible] समानता मानकर चौदह परीषह कही है, यह नियम युक्ति-युक्त है।

२. प्रश्नः—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें [illegible] गुणस्थानमें वह अति सूक्ष्म है, इसीलिये उन [illegible] होती, तो फिर ऐसा क्यों कहा कि इन गुणस्थानोंमें [illegible] है?

उत्तरः—यह तो ठीक ही है कि वहाँ वेदना [illegible] है किन्तु [illegible] ([illegible]) की अपेक्षासे वहाँ चौदह परीषहोंकी उपस्थिति [illegible] सातवें नरकमें जानेकी सामर्थ्य है, किन्तु उन देवोंके [illegible] रागभाव नहीं इसीलिये गमन नहीं है [illegible] ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषहोंका कथन उपचारसे किया है।

३. प्रश्नः—इस सूत्रमें [illegible] है?

उत्तरः—[illegible]

हैं, किन्तु व्यवहारनयसे वहाँ चौदह परीषह हैं। 'व्यवहारनयसे हैं' का अर्थ यह है कि यथार्थमें ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उनका उपचार किया है—ऐसा समझना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है, किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'इस रूप भी है और इस रूप भी है' अर्थात् वहां परीषह हैं यह भी ठीक है और नहीं भी हैं यह भी ठीक है, ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण नहीं होता।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २५१)

सारांश यह है कि वास्तवमें उन गुणस्थानोंमें कोई भी परीषह नहीं होती, सिर्फ उस चौदह प्रकारके वेदनीय कर्मका मंद उदय है, इतना बतानेके लिये उपचारसे वहाँ परीषह कही हैं, किन्तु यह मानना मिथ्या है कि वहां जीव उस उदयमें युक्त होकर दुःखी होता है अथवा उसके वेदना होती है।

अब तेरहवें गुणस्थानमें परीषह बतलाते हैं:—

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थः—[**जिने**] तेरहवें गुणस्थानमें जिनेन्द्रदेवके [**एकादश**] ऊपर बतलाई गई चौदहमेंसे अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान इन तीनको छोड़कर बाकीकी ग्यारह परीषह होती हैं।

टीका

१—यद्यपि मोहनीयकर्मका उदय न होनेसे भगवानके क्षुधादिककी वेदना नहीं होती, इसलिये उनके परीषह भी नहीं होती; तथापि उन परीषहोंके निमित्तकारणरूप वेदनीय कर्मका उदय विद्यमान है। अतः वहां भी उपचारसे ग्यारह परीषह कही हैं। वास्तवमें उनके एक भी परीषह नहीं है।

२. प्रश्नः—यद्यपि मोहकर्मके उदयकी सहायताके अभावमें भगवानके क्षुधा आदिकी वेदना नहीं है तथापि वहां वह परीषह क्यों कही है?

उत्तरः—यह तो ठीक है कि भगवानके क्षुधादिकी वेदना नहीं है, किन्तु मोहकर्म-जनित वेदनाके न होनेपर भी द्रव्यकर्मकी विद्यमानता बतानेके लिये वहां उपचारसे परीषह कही गई हैं। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण कर्मके नष्ट होनेसे युगपत् समस्त वस्तुओंके जाननेवाले केवलज्ञानके प्रभावसे उनके चिंताका निरोधरूप ध्यान सम्भव नहीं है तथापि ध्यानका फल जो अवशिष्ट कर्मोंकी निर्जरा है उसकी सत्ता बतानेके लिये वहां उपचारसे ध्यान बतलाया है उसी प्रकार यहाँ ये परीषह भी उपचारसे बतलाई हैं। प्रवचनसार गाथा १९८ में कहा है कि भगवान परमसुखको ध्याते हैं।

३. प्रश्नः—इस सूत्रमें नय-विभाग किस तरहसे लागू होता है ?

उत्तरः—तेरहवें गुणस्थानमें ग्यारह परीषह कहना सो व्यवहारनय है। व्यवहार-नयका अर्थ करनेका तरीका यों है कि 'वास्तवमें ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे वह उपचार किया है,' निश्चयनयसे केवलज्ञानीके तेरहवें गुणस्थानमें परीषह नहीं होतीं।

४. प्रश्नः—व्यवहारनयका क्या दृष्टान्त है और वह यहाँ कैसे लागू होता है ?

उत्तरः—'घीका घड़ा' यह व्यवहार-नयका कथन है। इसका ऐसा अर्थ है कि 'जो घड़ा है सो मिट्टीरूप है, घीरूप नहीं है' (देखो, श्री समयसार गाथा ६७ टीका तथा कलश ४०); उसी प्रकार 'जिनेन्द्रदेवके ग्यारह परीषह हैं' यह व्यवहार-नयका कथन है। इसका अर्थ इसप्रकार है कि 'जिन अनन्त पुरुषार्थरूप हैं, परीषहके दुःखरूप नहीं; मात्र निमित्तरूप परद्रव्यकी उपस्थितिका ज्ञान करानेके लिये ऐसा कथन किया है कि 'परीषह हैं' परन्तु इस कथनसे ऐसा नहीं समझना कि वीतरागके दुःख या वेदना है। यदि उस कथनका ऐसा अर्थ माना जावे कि वीतरागके दुःख या वेदना है तो व्यवहार-नयके कथनका अर्थ निश्चय-नयके कथनके अनुसार ही किया, और ऐसा अर्थ करना बड़ी भूल है-अज्ञान है।

(देखो, समयसार गाथा ३२४ से ३२७ टीका)

५. प्रश्नः—इस शास्त्रमें, इस सूत्रमें जो ऐसा कथन किया कि 'जिन भगवानके ग्यारह परीषह हैं,' सो व्यवहार-नयका कथन निमित्त बतानेके लिये है, ऐसा [illegible] निश्चय-नयका कथन किस शास्त्रमें है ?

उत्तरः—श्री नियमसारजी गाथा ६ में [illegible] गुण-स्थानमें हों तब उनके अठारह महादोष [illegible] १-क्षुधा, २-तृषा, ३-भय, ४-क्रोध, ५-राग, ६-मोह, [illegible] १३-मद, १४-रति, १५-आश्चर्य, १६-निद्रा, १७ [illegible]

यह निश्चयनयका कथन है और [illegible]

केवली भगवानके आहार नहीं होता, [illegible]

(१) यदि ऐसा माना जाये कि [illegible] भगवानके होती है तो बहुत दोष आते हैं। [illegible] यदि आकुलता हो तो फिर भगवानके [illegible] [illegible]

हो कि क्षुधादिक दूर करनेके उपायका आहारादिका ग्रहण किया। क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित होनेवाला ही आहार ग्रहण करता है। पुनश्च, यदि ऐसा माना जाय कि जैसे केवलीके विहार होता है वैसे ही आहार ग्रहण भी होता है, सो यह भी बनता नहीं है, क्योंकि विहार तो विहायोगति नामक नामकर्मके उदयसे होता है, तथा वह पीड़ाका कारण नहीं है और बिना इच्छाके भी किसी जीवके विहार होता देखा जाता है परन्तु आहारग्रहण तो प्रकृतिके उदयसे नहीं किन्तु जब क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो तभी जीव आहार ग्रहण करते हैं। पुनश्च, आत्मा पवन आदिकको प्रेरित करनेका भाव करे तभी आहारका निगलना होता है इसीलिये विहारके समान आहार सम्भव नहीं होता। अर्थात् केवली भगवानके विहार तो सम्भव है किन्तु आहार सम्भव नहीं है।

(२) यदि यों कहा जाय कि केवलीभगवानके सातावेदनीय कर्मके उदयसे आहारका ग्रहण होता है सो भी नहीं बनता, क्योंकि जो जीव क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो और आहारादिकके ग्रहणसे सुख माने उसके आहारादि साताके उदयसे हुए कहे जा सकते हैं। सातावेदनीयके उदयसे आहारादिकका ग्रहण स्वयं तो होता नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो तो देवोंके तो सातावेदनीयका उदय मुख्यरूपसे रहता है तथापि वे निरन्तर आहार क्यों नहीं करते? पुनश्च, महामुनि उपवासादि करते हैं, उनके साताका भी उदय होता है तथापि आहारका ग्रहण नहीं और निरन्तर भोजन करने वालेके भी असाताका उदय सम्भव है। इसलिये केवली भगवानके विना इच्छाके भी जैसे विहायोगतिके उदयसे विहार सम्भव है वैसे ही विना इच्छाके केवल सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही आहार-ग्रहण सम्भव नहीं होता।

(३) पुनश्च, कोई यह कहे कि—सिद्धान्तमें केवलीके क्षुधादिक ग्यारह परीषह कही हैं इसलिये उनके क्षुधाका सद्भाव सम्भव है और वह क्षुधा आहारके विना कैसे शांत हो सकती है, इसलिये उनके आहारादिक भी मानना चाहिये। इसका समाधान—कर्मप्रकृतियोंका उदय मंद-तीव्र भेद सहित होता है। वह अति मन्द होने पर उसके उदय-जनित कार्यकी व्यक्तता मालूम नहीं होती, इसीलिये मुख्यरूपसे उसका अभाव कहा जाता है, किन्तु तारतम्यरूपसे उसका सद्भाव कहा जाता है। जैसे नववें गुणस्थानमें वेदादिकका मन्द उदय है, वहाँ मैथुनादिक क्रिया व्यक्त नहीं है, इसीलिये वहाँ ब्रह्मचर्य ही कहा है तथापि वहाँ तारतम्यतासे मैथुनादिकका सद्भाव कहा जाता है। उसीप्रकार केवली भगवानके असाताका अति मंद उदय है, उसके उदयमें ऐसी भूख नहीं होती कि जो शरीरको क्षीण करे। पुनश्च, मोहके अभावसे क्षुधाजनित दुःख भी नहीं है और इसीलिये आहार ग्रहण करना भी नहीं है। अतः केवली भगवानके क्षुधादिकका अभाव ही है, किन्तु मात्र उदयकी अपेक्षासे तारतम्यतासे उसका सद्भाव कहा जाता है।

(४) शंकाः—केवली भगवानके आहारादिक के विना भूख (-क्षुधा) की शांति कैसे होती है ?

उत्तरः—केवलीके असाताका उदय अत्यन्त मन्द है; यदि ऐसी भूख लगे कि जो आहारादिकके द्वारा ही शांत हो तो मन्द उदय कहाँ रहा ? देव, भोगभूमिया आदिके असाताका किंचित् मन्द उदय है तथापि उनके बहुत समयके बाद किंचित् ही आहार ग्रहण होता है, तो फिर केवलीके तो असाताका उदय अत्यन्त ही मन्द है इसलिये उनके आहारका अभाव ही है। असाताका तीव्र उदय हो और मोहके द्वारा उसमें युक्त हो तो ही आहार हो सकता है।

(५) शंकाः—देवों तथा भोगभूमियोंका शरीर ही ऐसा है कि उनको अधिक समयके बाद थोड़ी भूख लगती है, किन्तु केवली भगवानका शरीर तो कर्मभूमिका औदारिक शरीर है, इसलिये उनका शरीर विना आहारके उत्कृष्टरूपसे कुछ कम एक कोटि पूर्व तक कैसे रह सकता है ?

समाधानः—देवादिकोंका शरीर भी कर्मके ही निमित्तसे है। यहाँ केवली भगवानके शरीरमें पहले केश-नख बढ़ते थे, छाया होती थी और निगोदिया जीव रहते थे, किन्तु केवलज्ञान होने पर अब केश-नख नहीं बढ़ते, छाया नहीं होती और निगोदिया जीव नहीं होते। इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरकी अवस्था अन्यथा हुई, [illegible] बिना आहारके भी शरीर जैसाका तैसा बना रहे—ऐसी अवस्था भी हुई।

प्रत्यक्षमें देखो ! अन्य जीवोंके वृद्धत्व आने पर आहार [illegible] हो जाता है, परन्तु [illegible] केवली भगवानके तो आयुके अन्त तक भी शरीर [illegible] शरीरमें और केवली भगवानके शरीरमें समान [illegible]

(६) शंकाः—देव आदिके तो आहार [illegible] किन्तु केवली भगवानके बिना आहारके शरीर कैसे [illegible]

समाधानः—भगवानके असाताका [illegible] औदारिक शरीर-वर्गणाओंका ग्रहण होता है [illegible] है कि जिससे उनके क्षुधादिककी उत्पत्ति [illegible]

(८) क्षुधा, अन्न आदिका [illegible]

नहीं लेते तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है और ऋद्धिधारी मुनि बहुत उपवास करते हैं तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है। तो फिर केवली भगवानके तो सर्वोत्कृष्टता है इसलिये उनके अन्नादिकके विना भी शरीर पुष्ट बना रहता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

(८) पुनश्च, केवलीभगवान आहारके लिये कैसे जाँय तथा किस तरह याचना करें ? वे जब आहारके लिये जाँय तब समवसरण खाली क्यों रहे ? अथवा यदि ऐसा मानें कि कोई अन्य उनको आहार लाकर दे तो उनके अभिप्रायकी बातको कौन जानेगा ? और पहले उपवासादिककी प्रतिज्ञा की थी उसका निर्वाह किस तरह होगा ? पुनश्च, जीव-अन्तराय (प्राणियोंका घातादि) सर्वत्र मालूम होता है, वहां आहार किस तरह करें ? इसलिये केवलीके आहार मानना सो विरुद्धता है।

(९) पुनश्च, कोई यों कहे कि 'वे आहार ग्रहण करते हैं परन्तु किसीको दिखाई नहीं देता ऐसा अतिशय है' सो यह भी असत् है, क्योंकि आहार-ग्रहण तो निंद्य हुआ; यदि ऐसा अतिशय भी मानें कि उन्हें कोई नहीं देखता तो भी आहार-ग्रहणका निंद्यपना रहता है। पुनश्च, भगवानके पुण्यके कारणसे दूसरेके ज्ञानका क्षयोपशम (-विकास) किस तरह आवृत हो जाता है ? इसलिये भगवानके आहार मानना और दूसरा न देखे ऐसा अतिशय मानना ये दोनों बातें न्याय-विरुद्ध है।

५. कर्म-सिद्धांतके अनुसार केवलीके अन्नाहार होता ही नहीं

(१) जब असातावेदनीयकी उदीरणा हो तब क्षुधा उत्पन्न होती है। इस वेदनीयकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, इससे ऊपर नहीं। अतएव वेदनीयकी उदीरणाके विना केवलीके क्षुधादिकी बाधा कहाँसे हो ?

(२) जैसे निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणी प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान पर्यंत है, परन्तु उदीरणाके विना निद्रा नहीं व्यापती-अर्थात् निद्रा नहीं आती। पुनश्च, यदि निद्राकर्मके उदयसे ही ऊपरके गुणस्थानोंमें निद्रा आ जाय तो वहाँ प्रमाद हो और ध्यानका अभाव हो जाय। यद्यपि निद्रा, प्रचलाका उदय बारहवें गुणस्थान तक है तथापि अप्रमत्त-दशामें मन्द उदय होनेसे निद्रा नहीं व्यापती (-नहीं रहती)। पुनश्च, संज्वलनका मन्द उदय होनेसे अप्रमत्त गुणस्थानोंमें प्रमादका अभाव है, क्योंकि प्रमाद तो संज्वलनके तीव्र उदयमें ही होता है। संसारी जीवके वेदके तीव्र उदयमें युक्त होनेसे मैथुन संज्ञा होती है और वेदका उदय नववें गुणस्थान तक है; परन्तु श्रेणी चढ़े हुए संयमी मुनिके वेद नोकषायका मन्द उदय होनेसे मैथुन संज्ञाका अभाव है। उदयमात्रसे मैथुनकी वांच्छा उत्पन्न नहीं होती।

(३) केवली भगवानके वेदनीयका अति मन्द उदय है, इसीसे क्षुधादिक उत्पन्न नहीं होते; शक्तिरहित असातावेदनीय केवलीके क्षुधादिकके लिये निमित्तताके योग्य नहीं है। जैसे स्वयंभूरमण समुद्रके समस्त जलमें अनन्तवें भाग जहरकी कनी उस पानीको विषरूप होनेके लिये योग्य निमित्त नहीं है, उसीप्रकार अनन्तगुण अनुभागवाले सातावेदनीयके उदयसहित केवली भगवानके अनन्तवें भागमें जिसका असंख्यातवार खंड हो गया है ऐसा असातावेदनीयकर्म क्षुधादिककी वेदना उत्पन्न नहीं कर सकता।

(४) अशुभकर्म प्रकृतियोंकी विष-हलाहलरूप जो शक्ति है उसका अधःप्रवृत्तकरणमें अभाव हो जाता है और निम्ब (नीम) कांजीरूप रस रह जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडोत्कीर्ण और अनुभागकांडोत्कीर्ण ये चार आवश्यक होते हैं; इसलिये केवली भगवानके असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियोंका रस अनंतानंतवार घटकर अनन्तानन्तवें भाग रह गया है, इसी कारण असातामें सामर्थ्य नहीं रही है जिससे केवली भगवानके क्षुधादिक उत्पन्न करनेमें निमित्त होता ?

(अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ४८६ [illegible])

६. सूत्र १०-११ का सिद्धान्त और ८ वें सूत्रके साथ उसका संबंध

यदि वेदनीयकर्मका उदय हो किन्तु मोहनीयकर्मका उदय न हो [illegible] नहीं होता (सूत्र ११) क्योंकि जीवके अनन्तवीर्य प्रगट हो चुका है।

वेदनीयकर्मका उदय हो और यदि [illegible] निमित्त नहीं होता (सूत्र १०) क्योंकि वहाँ [illegible] है।

दसवें गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान [illegible] इसीलिये उनके विकार नहीं होता। [illegible] तो फिर आठवें सूत्रका यह उपदेश [illegible] निर्जराके लिये परीषह सहन करना योग्य है [illegible] जो परीषह कही है वे उपचारसे है [illegible]

छट्ठेसे नववें गुणस्थान [illegible]

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थः—[बादरसाम्पराये] [illegible] सर्वे परीषह होती है।

टीका

१—छट्ठेसे नववें गुणस्थानको बादरसाम्पराय कहते हैं। इन गुणस्थानोंमें परीषहके कारणभूत सभी कर्मोंका उदय है, किन्तु जीव जितने अंशमें उनमें युक्त नहीं होता उतने अंशमें (आठवें सूत्रके अनुसार) परीषहजय करता है।

२—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन संयमोंमेंसे किसी एकमें समस्त परीषहें सम्भव हैं॥ १२॥

इस तरह यह वर्णन किया कि किस गुणस्थानमें कितनी परीषहजय होती है। अब किस-किस कर्मके उदयसे कौन-कौनसी परीषह होती हैं सो बतलाते हैं—

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थः—[**ज्ञानावरणे**] ज्ञानावरणीयके उदयसे [**प्रज्ञाऽज्ञाने**] प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषहें होती हैं।

टीका

प्रज्ञा आत्माका गुण है, वह परीषहका कारण नहीं होता; किन्तु ज्ञानका विकास हो और उसके मदजनित परीषह हो तो उस समय ज्ञानावरणकर्मका उदय होता है। यदि ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मके उदयमें लगे-जुड़े तो उसके अनित्य मद आ जाता है, किन्तु ज्ञानी जीव पुरुषार्थपूर्वक जितने अंशमें उसमें युक्त न हो उतने अंशमें उनके परीषहजय होता है।

(देखो, सूत्र ८)

दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ ॥ १४ ॥

अर्थः—[**दर्शनमोहांतराययोः**] दर्शनमोह और अन्तराय कर्मके उदयसे [**अदर्शनाऽलाभौ**] क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना॥ १४॥

अब चारित्रमोहनीयके उदयसे होनेवाली परीषह बतलाते हैं

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थः—[**चारित्रमोहे**] चारित्रमोहनीयके उदयसे [**नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना-**

[**सत्कारपुरस्काराः**] नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १५ ॥

वेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थः—[**वेदनीये**] वेदनीय कर्मके उदयसे [**शेषाः**] बाकीकी ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये परीषह होती हैं।

यहाँ भी तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १६ ॥

अब एक जीवके एक साथ होनेवाली परीषहोंकी संख्या बतलाते हैं

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थः—[**एकस्मिन् युगपत्**] एक जीवके एक साथ [**एकादयो**] एकसे लेकर [**आ एकोनविंशतेः**] उन्नीस परीषह तक [**भाज्याः**] जानना चाहिये।

१—एक जीवके एक समयमें अधिकसे अधिक १९ परीषह [illegible] और उष्ण इन दोमेंसे एक समयमें एक ही होती है और [illegible] (सोना, चलना तथा आसनमें रहना) इन [illegible] इन तीन परीषहोंके कम करनेसे बाकीकी [illegible]

२—प्रश्नः—प्रज्ञा और अज्ञान [illegible] परीषह इन सबमेंसे कम करना चाहिये।

उत्तरः—प्रज्ञा और अज्ञान [illegible] कालमें एक जीवके श्रुतज्ञानादिकी अपेक्षासे [illegible] दोनों साथ रह सकते हैं।

३—प्रश्नः—औदारिक शरीरकी [illegible] पूर्व (कुछ कम एक करोड़ पूर्व) [illegible]

उत्तरः—आहारके [illegible] ४ [illegible] ४ औदारिक और [illegible]

कारण हैं। जैसे (१) केवलीके नोकर्म आहार बताया है। उनके लाभान्तरायकर्मके क्षयसे अनन्त लाभ प्रगट हुआ है, अतः उनके शरीरके साथ अपूर्व असाधारण पुद्गलोंका प्रतिसमय सम्बन्ध होता है; यह नोकर्म केवलीके देहकी स्थितिका कारण है, दूसरा नहीं, इसी कारण केवलीके नोकर्मका आहार कहा है। (२) नारकियोंके नरकायु नामकर्मका उदय है वह उनके देहकी स्थितिका कारण है, इसलिये उनके कर्माहार कहा जाता है। (३) मनुष्यों और तिर्यंचोंके कवलाहार प्रसिद्ध है। (४) वृक्ष जातिके लेपाहार है। (५) पक्षीके अण्डेके ओजाहार है। शुक्र नामकी धातुकी उपधातुको ओज कहते हैं। जो अण्डोंको पक्षी सेवे उसे ओजाहार नहीं समझना। (६) देव मनसे तृप्त होते हैं, उनके मनसाहार कहा जाता है।

यह छह प्रकारका आहार देहकी स्थितिका कारण है। इस सम्बन्धी गाथा निम्नप्रकार है:—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पाहारो य।
उज्झमणोविय कमसो आहारो छव्विहो भणिओ॥
णोकम्मतित्थयरे कम्मं च णयरे मानसो अमरे।
णरपसु कवलाहारो पंखी उज्जो इगि लेऊ॥

अर्थः—१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार, ४ लेपाहार, ५ ओजाहार और ६ मनोआहार, इसप्रकार क्रमसे ६ प्रकारका आहार है। उनमें नोकर्म आहार तीर्थंकरके, कर्माहार नारकीके, मनोआहार देवके, कवलाहार मनुष्य तथा पशुके, ओजाहार पक्षीके अण्डोंके और वृक्षके लेपाहार होता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवलीके कवलाहार नहीं होता।

प्रश्नः—मुनिकी अपेक्षासे छट्ठे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तककी परीषहोंका कथन इस अध्यायके १३ से १६ तकके सूत्रोंमें किया है। यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे है या निश्चयकी अपेक्षासे ?

उत्तरः—यह कथन व्यवहारनयकी अपेक्षासे है, क्योंकि यह जीव परवस्तुके साथका सम्बन्ध बतलाता है, यह कथन निश्चयकी अपेक्षासे नहीं है।

प्रश्नः—व्यवहारनयकी मुख्यता सहित कथन हो, उसे मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६९ में यों जाननेके लिए कहा है कि 'ऐसा नहीं किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे यह उपचार किया है' तो ऊपर कहे गये १३ से १६ तकके कथनमें कैसे लागू होता है ?

उत्तरः—उन सूत्रोंमें जीवके जिन परीषहोंका वर्णन किया है वह व्यवहारसे है।

इसका सत्यार्थ ऐसा है कि—जीव जीवमय है परीषहमय नहीं। जितने अंशमें जीवमें परीषह-वेदन हो उतने अंशमें सूत्र १३ से १६ में कहे गये कर्मका उदय निमित्त कहलाता है, किन्तु निमित्तने जीवको कुछ नहीं किया।

प्रश्नः—१३ से १६ तकके सूत्रोंमें परीषहोंके बारेमें जिस कर्मका उदय कहा है उसके और सूत्र १७ में परीषहोंकी जो एक साथ संख्या कही उसके इस अध्यायके ८ वें सूत्रमें कहे गये निर्जराका व्यवहार कैसे लागू होता है?

उत्तरः—जीव अपने पुरुषार्थके द्वारा जितने अंशमें परीषह-वेदन न करे उतने अंशमें उसने परीषहजय किया और इसलिये उतने अंशमें सूत्र १३ से १६ तकमें कहे गये कर्मोंकी निर्जरा की, ऐसा आठवें सूत्रके अनुसार कहा जा सकता है; इसे व्यवहार-कथन कहा जाता है, क्योंकि परवस्तु (कर्म) के साथके सम्बन्धका कितना अभाव हुआ, वह इसमें बताया गया है।

इसप्रकार परीषहजयका कथन पूर्ण हुआ ॥१७॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके ६ कारणोंमेंसे [illegible] वर्णन पूर्ण हुआ; अब अन्तिम कारण चारित्रका वर्णन करते हैं—

चारित्रके पांच भेद

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थः—[सामायिक [illegible]] [illegible], छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, [illegible] चारित्रके ५ भेद हैं।

टीका

१. [illegible]

(१) सामायिक—[illegible]

[illegible] चारित्र है। [illegible]

(२) छेदोपस्थापना—[illegible]

[illegible]

छेदकर आत्माको संयममें स्थिर करे सो छेदोपस्थापना चारित्र है। यह चारित्र छट्ठेसे नववें गुणस्थान तक होता है।

(३) परिहारविशुद्धिः—जो जीव जन्मसे ३० वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थंकर भगवानके पादमूलमें आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नववें पूर्वका अध्ययन करे, उसके यह संयम होता है। जो जीवोंकी उत्पत्ति-मरणके स्थान, कालकी मर्यादा, जन्म-योनिके भेद, द्रव्य-क्षेत्रका स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभीका जाननेवाला हो और प्रमादरहित महावीर्यवान हो, उसके शुद्धताके बलसे कर्मकी बहुत (-प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करनेवाले मुनियोंके यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीरसे जीवोंकी विराधना नहीं होती। यह चारित्र ऊपर बतलाये गये साधुके छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें होता है।

(४) सूक्ष्मसांपरायः—जब अति सूक्ष्म लोभकषायका उदय हो तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्मसांपराय है। यह चारित्र दसवें गुणस्थानमें होता है।

(५) यथाख्यातः—सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके क्षय अथवा उपशमसे आत्माके शुद्धस्वरूपमें स्थिर होना सो यथाख्यातचारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवेंसे चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

२. शुद्धभावसे संवर होता है किन्तु शुभभावसे नहीं होता, इसलिये इन पांचों प्रकारमें जितना शुद्धभाव है उतना चारित्र है ऐसा समझना।

३. छट्ठे गुणस्थानकी दशा

सातवें गुणस्थानसे तो निर्विकल्पदशा होती है। छट्ठे गुणस्थानमें मुनिके जब आहार-विहारादिका विकल्प होता है तब भी उनके (तीन जातिकी कषाय न होनेसे) संवरपूर्वक-निर्जरा होती है और शुभभावका अल्प बन्ध होता है; जो विकल्प उठता है उस विकल्पके स्वामित्वका उनके नकार वर्तता है, अकषायदृष्टि और चारित्रसे जितने अंशमें राग दूर होता है उतने अंशमें संवर-निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है उतना बन्धन है। विशेष यह है कि पंचम गुणस्थानवाला उपवासादि वा प्रायश्चित्तादि तप करे उसी कालमें भी उसे निर्जरा अल्प और छट्ठे गुणस्थानवाला आहार-विहार आदि क्रिया करे उस कालमें भी उसके निर्जरा अधिक है, इससे ऐसा समझना कि बाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नहीं है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३२)

४. चारित्रका स्वरूप

कितनेक जीव मात्र हिंसादिक पापके त्यागको चारित्र मानते हैं और महाव्रतादिरूप शुभोपयोगको उपादेयरूपसे ग्रहण करते हैं, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। इस शास्त्रके सातवें अध्यायमें आस्रव पदार्थका निरूपण किया गया है, वहां महाव्रत और अणुव्रतको आस्रवरूप माना है, तो वह उपादेय कैसे हो सकता है ? आस्रव तो बन्धका कारण है और चारित्र मोक्षका कारण है, इसलिये उन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंके चारित्रपना सम्भव नहीं होता. किन्तु जो सर्व कषायरहित उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। सम्यग्दर्शन होनेके बाद जीवके कुछ भाव वीतराग हुए होते हैं और कुछ भाव सराग होते हैं; उनमें जो अंश वीतरागरूप है वही चारित्र है और वह संवरका कारण है।

(देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२९)

५. चारित्रमें भेद किसलिये बताये ?

प्रश्नः—जो वीतरागभाव है सो चारित्र है, और वीतरागभाव तो एक ही तरहका है, तो फिर चारित्रके भेद क्यों बतलाये ?

उत्तरः—वीतरागभाव एक तरहका है परन्तु [illegible], किन्तु क्रम-क्रमसे प्रगट होता है इसलिये [illegible] प्रगट होता है उतने अंशमें चारित्र प्रगट होता है, [illegible]।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो कुछ [illegible] कहते हो ?

उत्तरः—यहां शुभभावको [illegible] समय जिस अंशमें वीतरागभाव है, [illegible] है।

प्रश्नः—[illegible] है, इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—यहां [illegible] अर्थ है उपचार। [illegible] है ऐसा [illegible] भेद बताये [illegible] कहीं।

सम्यग्दर्शन है, इसलिये जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसीके संवर-निर्जरा हो सकती है। मिथ्यादृष्टिके संवर--निर्जरा नहीं होती।

२—यहाँ निर्जरा तत्त्वका वर्णन करना है और निर्जराका कारण तप है, (देखो, अध्याय ९ सूत्र ३) इसलिये तपका और उसके भेदोंका वर्णन किया है। तपकी व्याख्या १९ वें सूत्रकी टीकामें दी है और ध्यानकी व्याख्या २७वें सूत्रमें दी गई है।

३. निर्जराके कारणों सम्बन्धी होनेवाली भूलें और उनका निराकरण

(१) कितने ही जीव अनशनादि तपसे निर्जरा मानते हैं, किन्तु वह तो बाह्य-तप है। अब अन्तिम १९–२०वें सूत्रमें बारह प्रकारके तप कहे हैं वे सब बाह्य-तप हैं, किन्तु वे एक--दूसरेकी अपेक्षासे बाह्य–अभ्यंतर हैं, इसीलिये उनके बाह्य और अभ्यंतर ऐसे दो भेद कहे हैं। अकेले बाह्य तप करनेसे निर्जरा नहीं होती। यदि ऐसा हो कि अधिक उपवासादि करनेसे अधिक निर्जरा हो और थोड़े करनेसे थोड़ी हो तो निर्जराका कारण उपवासादिक ही ठहरें, किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जो इच्छाका निरोध है सो तप है; इसलिये स्वानुभवकी एकाग्रता बढ़नेसे शुभाशुभ इच्छा दूर होती है, उसे तप कहते हैं।

(२) यहाँ अनशनादिकको तथा प्रायश्चित्तादिकको तप कहा है, इसका कारण यह है कि—यदि जीव अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्ते और रागको दूर करे तो वीतराग-भावरूप सत्य तप पुष्ट किया जा सकता है, इसलिये उन अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिको उपचारसे तप कहा है। यदि कोई जीव वीतरागभावरूप सत्य तपको तो न जाने और उन अनशनादिकको ही तप जानकर संग्रह करे तो वह संसारमें ही भ्रमण करता है।

(३) इतना विशेष समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य अनेक प्रकारके जो भेद कहे जाते हैं वे भेद बाह्य–निमित्तकी अपेक्षासे उपचारसे कहे हैं, इनके व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। जो जीव इस रहस्यको नहीं जानता उसके निर्जरातत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

तप निर्जराके कारण हैं, इसीलिये उनका वर्णन करते हैं। उनमें पहले तपके भेद कहते हैं—

बाह्य-तपके ६ भेद

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थः — [अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः]

सम्यक् प्रकारसे अनशन, सम्यक् अवमौदर्य, सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान, सम्यक् रसपरित्याग, सम्यक् विविक्तशय्यासन और सम्यक् कायक्लेश ये [बाह्यं तपः] छह प्रकारके बाह्य तप हैं।

नोटः—इस सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे आता है— किया जाता है। अनशनादि छहों प्रकारमें 'सम्यक्' शब्द लागू होता है।

टीका

१. सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) सम्यक् अनशनः—सम्यग्दृष्टि जीवके आहारके त्यागका भाव होनेपर विषय-कषायका भाव दूर होकर अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है वह सम्यक् अनशन है।

(२) सम्यक् अवमौदर्यः—सम्यग्दृष्टि जीवके रागभाव दूर करनेके लिये जितनी भूख हो उससे कम भोजन करनेका भाव होने पर जो अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् अवमौदर्य कहते हैं।

(३) सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यानः—सम्यग्दृष्टि जीवके संयमके हेतुसे निर्दोष आहारकी भिक्षाके लिये जाते समय, भोजनकी वृत्ति तोड़ने वाले नियम करने पर अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं।

(४) सम्यक् रसपरित्यागः—सम्यग्दृष्टि [illegible] करनेके लिये घी, दूध, दही, तेल, मिठाई, [illegible] होनेसे अन्तरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है [illegible]

(५) सम्यक् विविक्तशय्यासनः—[illegible] प्राप्तिके लिये किसी एकान्त निर्दोष [illegible] परिणामोंकी जो शुद्धता होती है [illegible]

(६) सम्यक् कायक्लेशः—[illegible] आतापन आदि योग धारण [illegible] कायक्लेश कहते हैं।

[illegible]—'सम्यक्' [illegible] तप नहीं होते।

[illegible] सम्यग्दृष्टि जीव [illegible] जानता है—

(१) आहार न लेनेका राग-मिश्रित विचार होता है वह शुभभाव है और उसका फल पुण्यबन्धन है; मैं उसका स्वामी नहीं हूं।

(२) अन्न, जल आदि परवस्तुएं हैं। आत्मा उन्हें किसी प्रकार न तो ग्रहण कर सकता और न छोड़ सकता है, किन्तु जब सम्यग्दृष्टि जीव परवस्तु सम्बन्धी उस प्रकारका राग छोड़ता है तब पुद्गलपरावर्तनके नियम अनुसार ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है कि उतने समय उनके अन्न-पानी आदिका संयोग नहीं होता।

(३) अन्न-जल आदिका संयोग न हुआ यह परद्रव्यकी क्रिया है, उससे आत्माके धर्म या अधर्म नहीं होता।

(४) सम्यग्दृष्टि जीवके रागका स्वामित्व न होनेकी जो सम्यक् मान्यता है वह दृढ़ होती है, और इसलिये यथार्थ अभिप्रायपूर्वक जो अन्न, जल आदि लेनेका राग दूर हुआ वह सम्यक् अनशन तप है, वह वीतरागताका अंश है, इसीलिये वह धर्मका अंश है। उसमें जितने अंशमें अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हुई वही निर्जराका कारण है।

छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अन्तरंग-इन बारह प्रकारके तपके सम्बन्धमें ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना।

सम्यक् तपकी व्याख्या

(१) 'स्वरूपविश्रांतनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनात् तपः' अर्थात् स्वरूपकी स्थिरतारूप,-तरंगोंके बिना--लहरोंके बिना (निर्विकल्प) चैतन्यका प्रतपन होना (दैदीप्यमान होना) सो तप है।
(प्रवचनसार अ० १ गा० १४ की टीका)

(२) 'सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपनं तपः' अर्थात् सहज निश्चयनयरूप परमस्वभावमय परमात्माका प्रतपन होना अर्थात् दृढ़तासे तन्मय होना सो तप है।
(नियमसार गा० ५५ की टीका)

(३) 'प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः' अर्थात् प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्वमें सदा अन्तर्मुखरूपसे जो प्रतपन अर्थात् लीनता है सो तप है।
(नियमसार टीका गाथा ११८ का शीर्षक)

(४) 'आत्मानमात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनं' अर्थात् आत्माको आत्माके द्वारा धरना सो अध्यात्म--तप है। (नियमसार गा० १२३ की टीका)

(५) 'इच्छानिरोधः तपः' अर्थात् शुभाशुभ इच्छाका निरोध करना (--अर्थात् स्वरूपमें विश्रांत होना) सो तप है।

५. तपके भेद किसलिये हैं ?

प्रश्नः—यदि तपकी व्याख्या उपरोक्त प्रमाणानुसार है तो उस तपके भेद नहीं हो सकते, तथापि यहाँ तपके बारह भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तरः—शास्त्रोंका कथन किसी समय उपादान (निश्चय) की अपेक्षासे और किसी समय निमित्त (व्यवहार) की अपेक्षासे होता है। भिन्न-भिन्न निमित्त होनेसे उसमें भेद होते हैं किन्तु उपादान तो आत्माका शुद्ध स्वभाव है अतः उसमें भेद नहीं होता। यहाँ तपके जो बारह भेद बतलाये हैं वे भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं।

६—जिस जीवके सम्यग्दर्शन न हो वह जीव वनमें रहे, चातुर्मासमें वृक्षके नीचे रहे, ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त प्रखर किरणोंसे संतप्त पर्वतके शिखर पर आसन लगावे, शीतकालमें खुले मैदानमें ध्यान करे, अन्य अनेक प्रकारके कायक्लेश करे, अधिक उपवास करे, शास्त्रोंके पढ़नेमें बहुत प्रवीण हो, मौनव्रत धारण करे इत्यादि सब कुछ करे, किन्तु उसका यह सब वृथा है—संसारका कारण है, इससे धर्मका अंश भी नहीं होता। जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित हो यदि वह जीव अनशनादि बारह तप करे तथापि उसके कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये हे जीव! आकुलता रहित सम्यग्दर्शनका [illegible] अपना आत्मा है,
इसलिये हे जीव! आकुलता रहित सम्यग्दर्शनका [illegible] अपना आत्मा है,
उसका ही भजन कर ॥१६॥ [illegible]

(१) सम्यक् प्रायश्चितः—प्रमाद अथवा अज्ञानसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धता करनेमें वीतरागस्वरूपके आलंबनके द्वारा जो अन्तरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) सम्यक् विनयः—पूज्य पुरुषोंका आदर करने पर वीतरागस्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् विनय कहते हैं।

(३) सम्यक् वैयावृत्यः—शरीर तथा अन्य वस्तुओंसे मुनियों की सेवा करने पर वीतरागस्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे वैयावृत्य कहते हैं।

(४) सम्यक् स्वाध्यायः—सम्यग्ज्ञानकी भावनामें आलस्य न करना-उसमें वीतराग-स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है वह सम्यक् स्वाध्याय है।

(५) सम्यक् व्युत्सर्गः—बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहके त्यागकी भावनामें वीतराग-स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है सो सम्यक् व्युत्सर्ग है।

(६) सम्यक् ध्यानः—चित्तकी चंचलताको रोककर तत्वके चिंतवनमें लगना, इसमें वीतरागस्वरूपके लक्ष द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है सो सम्यक् ध्यान है।

३—सम्यग्दृष्टिके ही ये छहों प्रकारके तप होते हैं। इन छहों प्रकारमें सम्यग्दृष्टिके निज-स्वरूपकी एकाग्रतासे जितनी अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हो उतना ही तप है। (जो शुभ विकल्प है उसे उपचारसे तप कहा जाता है, किन्तु यथार्थमें तो वह राग है; तप नहीं।)

अब अभ्यंतर तपके उपभेद बतलाते हैं

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थः—[**प्राक् ध्यानात्**] ध्यानसे पहलेके पांच तपके [**यथाक्रमं**] अनुक्रमसे [**नवचतुर्दशपंचद्विभेदाः**] नव, चार, दस, पांच और दो भेद हैं अर्थात् सम्यक् प्रायश्चित्तके नव, सम्यक् विनयके चार, सम्यक् वैयावृत्यके दस, सम्यक् स्वाध्यायके पाँच और सम्यक् व्युत्सर्गके दो भेद हैं।

नोटः—आभ्यंतर तपका छठवां भेद ध्यान है। उसके भेदोंका वर्णन २८ वें सूत्रमें किया जायगा।

अब सम्यक् प्रायश्चितके नव भेद बतलाते हैं

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

अर्थः- [आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः] आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना, ये प्रायश्चित तपके नव भेद हैं।

२—यह सब भेद व्यवहार-प्रायश्चित्तके हैं। जिस जीवके निश्चय-प्रायश्चित प्रगट हुआ हो उस जीवके इस नव प्रकारके प्रायश्चित्तको व्यवहार-प्रायश्चित्त कहा जाता है, किन्तु यदि निश्चय-प्रायश्चित्त प्रगट न हुआ हो तो वह व्यवहाराभास है।

३—निश्चय-प्रायश्चित्तका स्वरूप

निजात्माका ही जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है उसे जो जीव नित्य धारण करते हैं उनके ही प्रायश्चित्त होता है (बोध, ज्ञान और चित्तका एक ही अर्थ है) प्रायः= प्रकृष्टरूपसे और चित्त=ज्ञान, अर्थात् प्रकृष्टरूपसे जो ज्ञान है वही प्रायश्चित है। क्रोधादि विभावभावोंका क्षय करनेकी भावनामें प्रवर्तना तथा आत्मिक गुणोंका चिंतन करना सो यथार्थ प्रायश्चित्त है। निज आत्मिक तत्वमें रमणरूप जो तपश्चरण है वही शुद्ध निश्चय-प्रायश्चित्त है। (देखो, नियमसार गाथा ११३ से १२१)

४-निश्चय-प्रतिक्रमणका स्वरूप

जो कोई वचनकी रचनाको छोड़कर तथा राग-द्वेषादि भावोंका निवारण करके स्वात्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है। जो मोक्षार्थी जीव सम्पूर्ण विराधना अर्थात् अपराधको छोड़कर स्वरूपकी आराधनामें वर्तन करता है उसके यथार्थ प्रतिक्रमण है।

(श्री नियमसार गाथा ८३-८४)

५—निश्चय-आलोचनाका स्वरूप

जो जीव स्वात्माको—नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा विभावगुण-पर्यायसे रहित ध्यान करते हैं उनके यथार्थ आलोचना होती है। समताभावमें स्वकीय परिणामको धरकर स्वात्माको देखना सो यथार्थ आलोचना है। (देखो, श्री नियमसार गाथा १०७ से ११२) ॥ २२ ॥

अब सम्यक् विनयतपके चार भेद बतलाते हैं

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थः- [ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः] ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, ये विनयतपके चार भेद हैं।

टीका

(१) ज्ञानविनयः-आदरपूर्वक योग्यकालमें सत्शास्त्रका अभ्यास करना, मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण-अभ्यास-स्मरण आदि करना सो ज्ञानविनय है।

(२) **दर्शनविनयः**—शंका, कांक्षा, आदि दोष रहित सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविनय है।

(३) **चारित्रविनयः**—निर्दोष रीतिसे चारित्रको पालना सो चारित्रविनय है।

(४) **उपचारविनयः**—आचार्य आदि पूज्य पुरुषोंको देखकर खड़े होना, नमस्कार करना, इत्यादि उपचारविनय है। यह सब व्यवहारविनयके भेद हैं।

निश्चयविनयका स्वरूप

(६) **गणः**—वृद्ध मुनियोंके अनुसार चलनेवाले मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं।

(७) **कुलः**—दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य कुल कहलाते हैं।

(८) **संघः**—ऋषि, यति, मुनि और अनगार—इन चार प्रकारके मुनियोंका समूह संघ कहलाता है। (संघके दूसरी तरहसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये भी चार भेद हैं)

(९) **साधुः**—जिनने बहुत समयसे दीक्षा ली हो वे साधु कहलाते हैं अथवा जो रत्नत्रय भावनासे अपने आत्माको साधते हैं उन्हें साधु कहते हैं।

(१०) **मनोज्ञः**—मोक्षमार्ग-प्रभावक, वक्तादि गुणोंसे शोभायमान, जिसकी लोकमें अधिक ख्याति हो रही हो ऐसे विद्वान मुनिको मनोज्ञ कहते हैं, अथवा उसके समान असंयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं। (सर्वार्थसिद्धि टीका)

२—इन प्रत्येककी सेवा-सुश्रूषा करना वैयावृत्त है। यह वैयावृत्य शुभभावरूप है, इसलिये व्यवहार है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा है। स्वके अकषायभावकी जो सेवा है सो वैयावृत्य है।

३—संघके चार भेद बतलाये, अब उनका अर्थ लिखते हैं—

ऋषिः—ऋद्धिधारी साधुको ऋषि कहते हैं।

यतिः—इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले साधु अथवा उपशम या क्षपकश्रेणी मांडनेवाले साधु यति कहलाते हैं।

मुनिः—अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी साधु मुनि कहे जाते हैं।

अनगारः—सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं।

पुनश्च ऋषिके भी चार भेद हैं—(१) राजर्षि=विक्रिया, अक्षीण ऋद्धिप्राप्त मुनि राजर्षि कहलाते हैं। (२) ब्रह्मर्षि=बुद्धि, सर्वौषधि आदि ऋद्धिप्राप्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। देवर्षि=आकाशगमन ऋद्धिप्राप्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं। (४) परमर्षि=केवलज्ञानीको परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तपके पाँच भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थः—[वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा,

आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके पांच भेद हैं।

टीका

वाचनाः—निर्दोष ग्रन्थ, उसका अर्थ तथा दोनोंका भव्य जीवोंको श्रवण कराना सो वाचना है।

पृच्छनाः—संशयको दूर करनेके लिये अथवा निश्चयको दृढ़ करनेके लिए प्रश्न पूछना सो पृच्छना है।

अपना उच्चपन प्रगट करनेके लिये, किसीको ठगनेके लिये, किसीको हरानेके लिये, दूसरेका हास्य करनेके लिये आदि खोटे परिणामोंसे प्रश्न करना सो पृच्छना स्वाध्याय तप नहीं है।

अनुप्रेक्षाः—जाने हुए पदार्थोंका बारम्बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा है।

आम्नायः—निर्दोष उच्चारण करके पाठको घोखना सो आम्नाय है।

धर्मोपदेशः—धर्मका उपदेश करना सो धर्मोपदेश है।

प्रश्नः—ये पांच प्रकारके स्वाध्याय किसलिये कहे हैं?

उत्तरः—प्रज्ञाकी अतिशयता, प्रशस्त अध्यवसाय, [illegible]
अतिचारकी विशुद्धि इत्यादिक कारण पांच प्रकार [illegible]

(४) अन्तर्मुहूर्त ध्यानका उत्कृष्ट काल है।

मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिट और अन्तर्मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिटके भीतरका समय। ४८ मिनिटमें एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

३—यहाँ ऐसा कहा है कि उत्तम संहननवालेके अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान रह सकता है, इसका यह अर्थ हुआ कि अनुत्तम संहननवालेके सामान्य ध्यान होता है अर्थात् जितना समय उत्तमसंहननवालेके रहता है उतना समय उसके (अनुत्तम संहननवालेके) नहीं रहता। इस सूत्रमें कालका कथन किया है जिसमें यह सम्बन्ध गर्भितरूपसे आ जाता है।

(४) अष्टप्राभृतके मोक्षप्राभृतमें कहा है कि जीव आज भी तीन रत्न (रत्नत्रय) के द्वारा शुद्धात्माको ध्याकर स्वर्गलोकमें अथवा लौकान्तिकमें देवत्व प्राप्त करता है और वहाँसे चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है (गाथा ७७), इसलिये वर्तमानमें भी अनुत्तम संहननवाले जीवोंके भी धर्मध्यान हो सकता है।

प्रश्नः—ध्यानमें चिन्ताका निरोध है, और जो [illegible] है, अतएव उस अभावके कारण ध्यान भी [illegible]

उत्तरः—ध्यान [illegible] परन्तु स्व-विषयके आकारको अवलम्बन [illegible] है, ऐसा 'एकाग्र' शब्दसे [illegible] सद्रूप है।

६—इस सूत्रमें ऐसा [illegible] प्रकाशवाला अथवा [illegible]

आर्तध्यानः—दुःख-पीड़ारूप चिन्तवनका नाम आर्तध्यान है।

रौद्रध्यानः—निर्दय-क्रूर आशयका विचार करना रौद्रध्यान है।

धर्मध्यानः—धर्म सहित ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यानः—शुद्ध पवित्र उज्ज्वल परिणामवाला चिन्तवन शुक्लध्यान कहलाता है।

—इन चार ध्यानोंमें पहले दो अशुभ हैं और दूसरे दो धर्मरूप हैं ॥२८॥

अब मोक्षके कारणरूप ध्यान बतलाते हैं

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

अर्थः—[**परे**] जो चार प्रकारके ध्यान कहे उनमेंसे अन्तके दो अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान [**मोक्षहेतू**] मोक्षके कारण हैं।

टीका

पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं और निश्चय-धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं।

प्रश्नः—यह तो सूत्रमें कहा है कि अन्तिम दो ध्यान मोक्षके कारण हैं, किन्तु ऐसा अर्थ सूत्रमेंसे किसतरह निकाला कि पहले दो ध्यान संसारके कारण हैं?

उत्तरः—मोक्ष और संसार इन दोके अतिरिक्त और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग। इन दोके अतिरिक्त तीसरा कोई साधनीय पदार्थ नहीं है, अतएव यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यानके अतिरिक्त आर्त और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं ॥ २९ ॥

आर्तध्यानके चार भेद हैं, अब उनका वर्णन अनुक्रमसे चार सूत्रों द्वारा करते हैं

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

अर्थः—[**अमनोज्ञस्य संप्रयोगे**] अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर [**तद्विप्रयोगाय**] उसे दूर करनेके लिये [**स्मृतिसमन्वाहारः**] बारम्बार विचार करना सो [**आर्तम्**] [illegible] आर्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थः-[**मनोज्ञस्य**] मनोज्ञ पदार्थ सम्बन्धी [**विपरीतं**] उपरोक्त सूत्रमें कहे हुएसे विपरीत अर्थात् इष्ट-पदार्थका वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये बारम्बार विचार करना सो 'इष्ट-वियोगज' नामका आर्तध्यान है ॥३१॥

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थः-[**वेदनायाः च**] रोगजनित पीड़ा होनेपर उसे दूर करनेके लिये बारम्बार चिंतवन करना सो वेदनाजन्य आर्तध्यान है ॥३२॥

निदानं च ॥३३॥

अर्थः—[**निदानं च**] भविष्यकाल सम्बन्धी विषयोंकी प्राप्तिमें चित्तको तल्लीन कर देना सो निदानज आर्तध्यान है ॥३३॥

अब गुणस्थानकी अपेक्षासे आर्तध्यानके स्वामी बतलाते हैं

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

अर्थः-[तत्] वह [illegible]

पहले चार गुणस्थान, [illegible]

नोट:—निदान नामका [illegible]

करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके स्वीय ज्ञानस्वभावकी अरुचि है इसीलिए उसके सर्वत्र, निरन्तर दुःखमय आर्त्तध्यान वर्तता है; सम्यग्दृष्टि जीवके स्वके ज्ञानस्वभावकी अखण्ड रुचि, श्रद्धा वर्तती है इसीलिये उसके सदैव धर्मध्यान रहता है, मात्र पुरुषार्थकी कमजोरीसे किसी समय अशुभभावरूप आर्त्तध्यान भी होता है, किन्तु वह मन्द होता है ॥३४॥

अब रौद्रध्यानके भेद और स्वामी बतलाते हैं

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

अर्थः–[**हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः**] हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-संरक्षणके भावसे उत्पन्न हुआ ध्यान [**रौद्रम्**] रौद्रध्यान है; यह ध्यान [**अविरतदेशविरतयोः**] अविरत और देशविरत (पहलेसे पाँच) गुणस्थानोंमें होता है।

टीका

जो ध्यान क्रूर परिणामोंसे होता है वह रौद्रध्यान है। निमित्तके भेदकी अपेक्षासे रौद्रध्यानके ४ भेद होते हैं, वे निम्नप्रकार हैं:—

१–**हिंसानन्दीः**–हिंसामें आनन्द मानकर उसके साधन मिलानेमें तल्लीन रहना सो हिंसानन्दी है।

२–**मृषानन्दीः**–झूठ बोलनेमें आनन्द मानकर उसका चिंतवन करना।

३–**चौर्यानन्दीः**—चोरीमें आनन्द मानकर उसका विचार करना।

४–**परिग्रहानन्दीः**–परिग्रहकी रक्षाकी चिन्तामें तल्लीन हो जाना।

अब धर्मध्यानके भेद बताते हैं

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थः–[**आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय**] आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयके लिये चिन्तवन करना सो [**धर्म्यम्**] धर्मध्यान है।

टीका

१—धर्मध्यानके चार भेद निम्नप्रकार हैं:–

(१) **आज्ञाविचय**–आगमकी प्रमाणतासे अर्थका विचार करना।

(२) **अपायविचय:**—संसारी जीवोंके दुःखका और उसमेंसे छूटनेके उपायका विचार करना सो अपायविचय है।

(३) **विपाकविचय:**—कर्मके फलका (उदयका) विचार करना सो विपाकविचय है।

(४) **संस्थानविचय:**—लोकके आकारका विचार करना। इत्यादि विचारोंके समय स्वसन्मुखताके बलसे जितनी आत्मपरिणामोंकी शुद्धता हो, उसे धर्मध्यान कहते हैं।

४-धर्मध्यानः— (धर्मका अर्थ है स्वभाव और ध्यानका अर्थ है एकाग्रता) अपने शुद्धस्वभावमें जो एकाग्रता है सो निश्चय धर्मध्यान है, जिसमें क्रियाकांडके सर्व आडंबरोंका त्याग है, ऐसी अन्तरंग क्रियाके आधाररूप जो आत्मा है उसे, मर्यादा रहित तीनों कालके कर्मोंकी उपाधि रहित निजस्वरूपसे जानता है वह ज्ञानकी विशेष परिणति या जिसमें आत्मा स्वाश्रयमें स्थिर होता है सो निश्चय धर्मध्यान है और यही संवर-निर्जराका कारण है।

जो व्यवहार धर्मध्यान है वह शुभभाव है; धर्मके चिन्तवनमें मन लगा रहे, यह तो शुभपरिणामरूप धर्मध्यान है। जो केवल शुभपरिणामसे मोक्ष मानते हैं उन्हें समझाया है कि शुभपरिणामसे अर्थात् व्यवहार धर्मध्यानसे मोक्ष नहीं होता। (देखो, समयसार गाथा २९१ की टीका तथा भावार्थ) आगम (-शास्त्र) की आज्ञा क्या है—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव-अचल-ज्ञानस्वरूपसे परिणमित प्रतिभासते हैं, वही मोक्षका हेतु है, कारण कि वह स्वयं भी मोक्षस्वरूप है; उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह बन्धका हेतु है, कारण कि वह स्वयं भी बन्धस्वरूप है, इसलिये ज्ञानस्वरूप होनेका अर्थात् अनुभूति करनेकी ही आगममें आज्ञा (-फरमान) है। (समयसार गाथा १५३ कलश १०५) ॥ ३६ ॥

अब शुक्लध्यानके स्वामी बताते हैं

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थः— [**शुक्ले चाद्ये**] पहले दो प्रकारके शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी [**पूर्वविदः**] पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवलीके होते हैं।

नोटः—इस सूत्रमें च शब्द है, वह यह बतलाता है कि श्रुतकेवलीके धर्मध्यान भी होता है।

टीका

शुक्लध्यानके ४ भेद ३९ वें सूत्रमें कहेंगे। शुक्लध्यानका प्रथम भेद आठवें गुणस्थानमें प्रारम्भ होकर क्षपकमें-दसवें और उपशमकमें ११ वें गुणस्थान तक रहता है। उनके निमित्तसे मोहनीयकर्मका क्षय या उपशम होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानमें होता है, उसके निमित्तसे बाकीके घातिकर्म-अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतरायकर्मका क्षय होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें पहला भेद होता है।

२—इस सूत्रमें पूर्वधारी श्रुतकेवलीके शुक्लध्यान होना बताया है सो उत्सर्ग कथन है, इसमें अपवाद कथनका गौणरूपसे समावेश हो जाता है। अपवाद कथन यह है कि किसी

जीवके निश्चय स्वरूपाश्रितमात्र आठ प्रवचनमाताका सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुषार्थ बढ़ाकर निजस्वरूपमें स्थिर होकर शुक्लध्यान प्रगट करता है, शिवभूति मुनि इसके दृष्टान्त हैं। उनके विशेष शास्त्र-ज्ञान न था तथापि (हेय और उपादेयका निर्मल ज्ञान था,) निश्चयस्वरूपाश्रित सम्यग्ज्ञान था, और इसीसे पुरुषार्थ बढ़ाकर शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया था। (तत्त्वार्थसार अध्याय ६ गाथा ४६ की टीका) ॥ ३७ ॥

शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे पहले दो भेद किसके होते हैं यह बतलाया.

अब यह बतलाते हैं कि बाकीके दो भेद किसके होते हैं।

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

दूसरा एकत्ववितर्कध्यान तीनमेंसे किसी एक योगके धारकके होता है। (१२वें गुणस्थानमें होता है)।

तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काययोगके धारण करनेवालेके होता है। (१३वें गुणस्थानके अन्तिम भाग में)।

चौथा व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योगरहित-अयोगी जीवोंके होता है। (चौदहवें गुणस्थानमें होता है)।

२--केवलीके मनोयोग सम्बन्धी स्पष्टीकरण

(१) केवली भगवानके अतीन्द्रियज्ञान होता है, इसका यह मतलब नहीं है कि उनके द्रव्यमन नहीं है। उनके द्रव्यमनका सद्भाव है किन्तु उनके मन--निमित्तक ज्ञान नहीं है। क्योंकि मानसिकज्ञान तो क्षायोपशमरूप है और केवली भगवानके क्षायिकज्ञान है अतः इसका अभाव है।

(२) मनोयोग चार प्रकारका है (१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) उभय मनोयोग और (४) अनुभय मनोयोग। इस चौथे अनुभय मनोयोगमें सत्य और असत्य दोनों नहीं होते। केवली भगवानके इन चारमेंसे पहला और चौथा मनोयोग वचनके निमित्तसे उपचारसे कहा जाता है।

३. प्रश्नः--यह तो ठीक है कि केवलीके सत्यमनोयोगका सद्भाव है, किन्तु उनके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है और संशय तथा अध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है इसलिये उनके अनुभय अर्थात् असत्यमृषामनोयोग कैसे संभव होता है?

उत्तरः—संशय और अनध्यवसायका कारणरूप जो वचन है उसका निमित्तकारण मन होता है, इसलिये उसमें श्रोताके उपचारसे अनुभयधर्म रह सकता है, अतः सयोगी-जिनके अनुभय मनोयोगका उपचारसे सद्भाव कहा जाता है। इसप्रकार सयोगी-जिनके अनुभय-मनोयोग स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है। केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे, और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है, इसलिए उपचारसे अनुभय मनोयोगका सद्भाव कहा जाता है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८२ से २८४ तथा ३०८)

३-केवलीके दो प्रकारका वचन-योग

केवली भगवानके क्षायोपशमिकज्ञान (भावमन) नहीं है तथापि उनके सत्य और अनुभय दो प्रकारके मनोयोगकी उत्पत्ति कही जाती है वह उपचारसे कही जाती है। उपचारसे मन द्वारा इन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। जिस तरह दो प्रकारका मनोयोग कहा गया है उसीप्रकार दो प्रकारका वचन-योग भी कहा गया है, यह भी उपचारसे है क्योंकि केवली भगवानके बोलनेकी इच्छा नहीं है, सहजरूपसे निकलती है।

(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८३ गाथा १५८)

है, इस अपेक्षासे बारहवें गुणस्थान तक असत्य-वचनका सद्भाव होता है; और इसलिये इसमें भी कोई विरोध नहीं है कि उभयसंयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है।

शंकाः—वचनगुप्तिका पूर्णरीतिसे पालन करनेवाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे संभव होता है ?

समाधानः— कषायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्प होनेमें कोई विरोध नहीं है ॥

(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८६) ॥ ४० ॥

शुक्लध्यानके पहले दो भेदोंकी विशेषता बतलाते हैं

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थः–[**एकाश्रये**] एक (–परिपूर्ण) श्रुतज्ञानीके आश्रयसे रहनेवाले [**पूर्वे**] शुक्लध्यानके पहले दो भेद [**सवितर्कवीचारे**] वितर्क और वीचार सहित हैं, परन्तु—

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थः–[**द्वितीयम्**] ऊपर कहे गये शुक्लध्यानोंमेंसे दूसरा शुक्लध्यान [**अवीचारं**] वीचारसे रहित है, किन्तु सवितर्क होता है।

टीका

१—४२ वाँ सूत्र ४१ वें सूत्रका अपवादरूप है, अर्थात् शुक्लध्यानका दूसरा भेद वीचार रहित है। जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों वह पहला पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान है और जो वीचार रहित तथा वितर्क सहित मणिके दीपककी तरह अचल है सो दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है; इसमें अर्थ, वचन और योगका पलटना दूर हुआ होता है अर्थात् वह संक्रांति रहित है। वितर्ककी व्याख्या ४३ वें और वीचारकी व्याख्या ४४ वें सूत्रमें आवेगी।

२—जो ध्यान सूक्ष्म काययोगके अवलंबनसे होता है उसे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (तृतीय) शुक्लध्यान कहते हैं; और जिसमें आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंद और श्वासोच्छ्वासादि समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती हैं उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति (चौथा) शुक्लध्यान कहते हैं। ॥ ४१-४२ ॥

वितर्कका लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—[**श्रुतम्**] श्रुतज्ञानको [**वितर्कः**] वितर्क कहते हैं।

नोटः—'श्रुतज्ञान' शब्द-श्रवणपूर्वक ज्ञानका ग्रहण बतलाता है। मतिज्ञानके भेदरूप चिंताको भी तर्क कहते हैं, वह यहाँ ग्रहण नहीं करना ॥ ४३ ॥

वीचारका लक्षण

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थः—[अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः] अर्थ, व्यंजन और योगका बदलना सो [वीचारः] वीचार है।

टीका

श्री समयसारमें कहा है कि—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करने पर भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

टीकाः—यद्यपि अभव्य जीव शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे वर्तता हुआ अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र करता है तथापि वह निश्चारित्र (चारित्ररहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान-श्रद्धानसे शून्य है—रहित है।

भावार्थः—अभव्य जीव यद्यपि महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्रका पालन करते हैं तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धाके विना वह चारित्र सम्यक्-चारित्र नाम नहीं पाता; इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

नोटः—यहाँ अभव्य जीवका उदाहरण दिया है, किन्तु यह सिद्धान्त व्यवहारके आश्रयसे हित माननेवाले समस्त जीवोंके एक सरीखा लागू होता है।

३—जो शुद्धात्माका अनुभव है सो यथार्थ मोक्षमार्ग है। इसलिये उसके निश्चय कहा है। व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नहीं, किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहा है, इसलिये इसे व्यवहार कहते हैं। इसप्रकार यह जानना कि भूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा निश्चयनय और अभूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा व्यवहारनय कहा है। किन्तु इन दोनोंको ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्याबुद्धि ही है।

(देखो, आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४९-२५०)

४—किसी भी जीवके निश्चय-व्यवहारका स्वरूप समझे विना धर्म या संवर-निर्जरा नहीं होती। शुद्ध आत्माका यथार्थ स्वरूप समझे विना निश्चय-व्यवहारका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता; इसलिये पहले आत्माका यथार्थ स्वरूप समझनेकी आवश्यकता है।

अब पात्रकी अपेक्षासे निर्जरामें होनेवाली न्यूनाधिकता बतलाते हैं

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-
मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थः— सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमो-

क्षपकक्षीणमोहजिनाः] सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत-मुनि, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणी मांडनेवाला, उपशान्तमोह, क्षपकश्रेणी मांडनेवाला, क्षीणमोह और जिन—इन सबके (अंतर्मुहूर्तपर्यंत परिणामोंकी विशुद्धताकी अधिकतासे आयुकर्मको छोड़कर) प्रति समय [क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जराः] क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

उत्तरः—पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवशसे या जबरदस्तीसे व्रतमें क्षणिक दोष हो जाता है किन्तु यथाजातरूप है, इसीलिये नैगमनयसे वह निर्ग्रंथ है। श्रावकके यथाजातरूप (नग्नता) नहीं है, इसीलिये उसके निर्ग्रन्थत्व नहीं कहलाता। [उद्देशिक और अधःकर्मके आहार-जलको जानते हुए भी लेते हैं उसकी गणना पुलाकादि किसी भेदमें नहीं है।]

(२) प्रश्न—पुलाक मुनिको यदि यथाजात रूपको लेकर ही निर्ग्रंथ कहोगे तो अनेक मिथ्यादृष्टि भी नग्न रहते हैं, उनको भी निर्ग्रंथ कहनेका प्रसंग आवेगा।

उत्तरः—उनके सम्यग्दर्शन नहीं है। मात्र नग्नत्व तो पागलके, बालकके तथा तिर्यंचोंके भी होता है, परन्तु इसीलिये उन्हें निर्ग्रंथ नहीं कहते। किन्तु जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक संसार और देह, भोगसे विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है, चारित्र-मोहकी तीन जातिके कषायका अभाव किये है उसे निर्ग्रंथ कहा जाता है, दूसरेको नहीं ॥४६॥

पुलाकादि मुनियोंमें विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थः—उपरोक्त मुनि [**संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः**] संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [**साध्याः**] भेदरूपसे साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकारसे इन पुलाकादि मुनियोंमें विशेष भेद होते हैं।

टीका

(१) संयमः—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधुके सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो संयम होते हैं। कषाय कुशील साधुके सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय, ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातकके यथाख्यातचारित्र होता है।

(२) श्रुतः—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादासे ज्यादा सम्पूर्ण दस पूर्वधारी होते हैं। पुलाकके जघन्य आचारांगमें आचार वस्तुका ज्ञान होता है और बकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलके जघन्य अष्टप्रवचन माताका ज्ञान होता है अर्थात् आचारांगके [illegible] पदोंमेंसे पांच समिति और तीन गुप्तिका परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओंका ज्ञान होता है। कषाय कुशील और निर्ग्रंथके उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्वका होता है और जघन्य ज्ञान अष्ट प्रवचन माताका होता है। स्नातक तो केवलज्ञानी हैं, इसलिये वे श्रुतज्ञानसे दूर

कषायकुशील मुनिके कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती हैं। सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्तीके तथा निग्रंथके शुक्ल लेश्या होती है। स्नातकके उपचारसे शुक्ल लेश्या है, अयोगकेवलीके लेश्या नहीं होती।

(७) उपपादः—पुलाक मुनिका—उत्कृष्ट अठारह सागरकी आयुके साथ—बारहवें सहस्रार स्वर्गमें जन्म होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशीलका उत्कृष्ट जन्म बाईस सागरकी आयुके साथ पन्द्रहवें आरण और सोलहवें अच्युत स्वर्गमें होता है। कषायकुशील और निग्रंथका-उत्कृष्ट जन्म तेतीस सागरकी आयुके साथ सर्वार्थसिद्धिमें होता है। इन सबका जघन्य सौधर्म स्वर्गमें दो सागरकी आयुके साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं, उनका उपपाद निर्वाण-मोक्षरूपसे होता है।

(८) स्थानः—तीव्र या मंद कषाय होनेके कारण असंख्यात संयम-लब्धिस्थान होते हैं; उनमेंसे सबसे छोटा संयमलब्धिस्थान पुलाक मुनिके और कषायकुशीलके होता है। ये दोनों एक साथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं; पुलाक मुनि इन असंख्यात लब्धिस्थानोंके बाद आगेके लब्धिस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। कषायकुशील मुनि उनसे आगेके असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

यहाँ दूसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंसे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश मुनि ये तीनों एकसाथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

बकुशमुनि इन तीसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंमें रुक जाता है, आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। प्रतिसेवनाकुशील वहाँसे आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं।

कषायकुशील मुनि इन चौथी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंमेंसे आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं; इससे आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकते।

निग्रंथ मुनि इन पांचवीं बार कहे गये लब्धिस्थानोंसे आगे कषायरहित संयमलब्धिस्थानोंको प्राप्त कर सकता है। ये निग्रंथ मुनि भी आगेके असंख्यात लब्धिस्थानोंकी प्राप्ति कर सकते हैं, पश्चात् रुक जाते हैं। उसके बाद एक संयमलब्धिस्थानको प्राप्त करके स्नातक निर्वाणको प्राप्त करता है।

इसप्रकार संयमलब्धिके स्थान हैं। उनमें अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे संयमकी प्राप्ति अनन्तगुणी होती है ॥४७॥

क्षेत्रमें जिनधर्म पाँचवें कालके अन्त तक रहनेवाला है अर्थात् वहाँ तक अपनी शुद्धता प्रगट करनेवाले मनुष्य इस क्षेत्रमें ही होते हैं और उनके शुद्धताके उपादानकारणकी तैयारी होनेसे आत्मज्ञानी गुरु और सत्-शास्त्रोंका निमित्त भी होता ही है। जैनधर्मके नामसे कहे जानेवाले शास्त्रोंमेंसे कौनसे शास्त्र परम सत्यके उपदेशक हैं इसका निर्णय धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको अवश्य करना चाहिये। जबतक जीव स्वयं यथार्थ परीक्षा करके कौन सच्चा देव-शास्त्र और गुरु है इसका निर्णय नहीं करता, तथा आत्मज्ञानी गुरु कौन है इसका निर्णय नहीं करता तबतक गृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। गृहीत मिथ्यात्व दूर हुये विना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है ? इसीलिये जीवोंको स्वमें जिनधर्म प्रगट करनेके लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

५—सम्यग्दृष्टि जीवने आत्मस्वभावकी प्रतीति करके अज्ञान और दर्शनमोहको जीत लिया है इसलिये वह रागद्वेषका कर्ता और स्वामी नहीं होता; वह कभी हजारों रानियोंके संयोगके बीचमें हो तथापि 'जिन' है। चौथे, पाँचवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीवोंका ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शनका महात्म्य कैसा है यह बतानेके लिये अनन्त ज्ञानियोंने यह स्वरूप कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके अपनी शुद्धपर्यायके अनुसार (-शुद्धताके प्रमाणमें) संवर-निर्जरा होनी है।

६—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको नहीं समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंकी बाह्य-संयोगों और बाह्य-त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिये वे उपरोक्त कथनका आशय नहीं समझ सकते और सम्यग्दृष्टिके अन्तरंग परिणमनको वे नहीं समझ सकते। इसलिये धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको संयोगदृष्टि छोड़कर वस्तुस्वरूप समझने की और यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उन पूर्वक सम्यक्चारित्रके विना संवर-निर्जरा प्रगट करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। इस नववें अध्यायके २९ वें सूत्रकी टीकासे मालूम पड़ेगा कि मोक्ष और संसार इन दोके अलावा और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं है। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग।

७—सम्यक्त्व मोक्षमार्गका मूल है और मिथ्यात्व संसारका मूल है। जो जीव, संसार-मार्गसे विमुख हों वे ही जीव मोक्षमार्ग (अर्थात् सच्चे सुखके उपायरूप धर्म) को प्राप्त कर सकते हैं। विना सम्यग्दर्शनके जीवके संवर-निर्जरा नहीं होती; इसलिए दूसरे सूत्रमें संवरके कारण बतलाते हुए उनमें प्रथम गुप्ति बतलाई, उसके बाद दूसरे कारण कहे हैं।

८—यह ध्यान रहे कि इस शास्त्रमें आचार्य महाराजने महाव्रतों या देशव्रतोंको संवरके कारणरूपसे नहीं बतलाया, क्योंकि सातवें अध्यायके पहले सूत्रमें बताये गये प्रमाणसे

मुनि दशामें नग्न थे तथापि उनके वीतराग होनेके बाद उनके गणधरादिको पात्र रखने वाले अर्थात् परिग्रहधारी मानना पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि भगवानने उस पात्रधारी मुनिको आहार लानेकी आज्ञा की। किन्तु यह सब असंगत है ठीक नहीं है।

१२—पुनश्च, यदि भगवान स्वयं अशन-पान करते हों तो भगवानकी ध्यानमुद्रा दूर हो जायगी, क्योंकि अध्यान मुद्राके अलावा पात्रमें रहे हुये आहारको देखनेका, उसके टुकड़े करने, कौर लेने, दांतसे चबाने, गलेमें उतारने आदिकी क्रियायें नहीं हो सकतीं। अब यदि भगवानके अध्यानमुद्रा या उपरोक्त क्रियायें स्वीकार करें तो वह प्रमाददशा होती है। पुनश्च, आठवें सूत्रमें ऐसा उपदेश देते हैं कि परीषहें सहन करनी चाहिये और भगवान स्वयं ही वैसा नहीं कर सकते अर्थात् भगवान अशक्य कार्योंका उपदेश देते हैं, ऐसा अर्थ करने पर भगवानको मिथ्या-उपदेशी कहना पड़ेगा।

१३–४६ वें सूत्रमें निर्ग्रंथोंके भेद बताये हैं, उनमें 'बकुश' नामक एक भेद बतलाया है; उनके धर्म-प्रभावनाके रागसे शरीर तथा शास्त्र, कमंडल, पीछी पर लगे हुये मैलको दूर करनेका राग हो जाता है। इस परसे कोई यह कहना चाहते हैं कि—उस 'बकुश' मुनिके वस्त्र होनेमें बाधा नहीं, परन्तु उनका यह कथन न्याय-विरुद्ध है, ऐसा छट्ठे अध्यायके तेरहवें सूत्रकी टीकामें बतलाया है। पुनश्च, मुनिका स्वरूप नहीं समझनेवाले ऐसा भी कहना चाहते हैं कि यदि मुनिको शरीरकी रक्षाके लिये अथवा संयमकी रक्षाके लिये वस्त्र हो तो भी वे क्षपकश्रेणी माडकर केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं। यह बात भी मिथ्या है। इस अध्यायके ४७ वें सूत्रकी टीकामें संयमके लब्धिस्थानोंका स्वरूप दिया है, इस परसे मालूम होगा कि बकुश मुनि तीसरी बारके संयमलब्धिस्थानमें रुक जाता है और कषायरहित दशा प्राप्त नहीं कर सकता; तो फिर ऋतु इत्यादिकी विषमतासे शरीरकी रक्षाके लिये वस्त्र रखे तो ऐसे रागवाला सम्यग्दृष्टि हो तो भी मुनिपद प्राप्त नहीं कर सकता और सर्वथा अकषायदशाकी प्राप्ति तो वे कर ही नहीं सकते, यही देखा भी जाता है।

१४—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रके स्वरूपके सम्बन्धमें होनेवाली भूल और उसका निराकरण उन-उन विषयोंसे सम्बन्धित सूत्रोंकी टीकामें दिया है, वहाँसे समझ लेना। कुछ लोग आहार न लेनेको तप मानते हैं किन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं। [illegible] इस सम्बन्धमें होनेवाली भूल दूर करनेके लिये सम्यक्तपका स्वरूप १९ वें सूत्रकी टीकामें तथा टीका शीर्षक ५ में दिया है, उसे समझना चाहिये।

१५—मुमुक्षु जीवोंको मोक्षमार्ग प्रगट करनेके लिये उपरोक्त बातें यथार्थ विचार करके संवर-निर्जरा तत्त्वका स्वरूप बराबर समझना चाहिये। जो जीव [illegible]

सहित इस संवर तथा निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है उस अपने [illegible] स्वभावभावकी ओर झुककर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा संसार-चक्रको तोड़कर अल्प-कालमें वीतरागचारित्रको प्रगट कर निर्वाण-मोक्षको प्राप्त करता है।

१६—इस अध्यायमें सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहते हुए, उसके अनुसंधानमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका स्वरूप भी बतलाया है। (देखो, सूत्र ३६ से ३९) चारित्रके विभागोंमें यथाख्यात चारित्र भी समाविष्ट हो जाता है। चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें परम यथाख्यात चारित्र प्रगट होनेपर सर्वगुणोंके चारित्रकी पूर्णता होती है और उसी समय जीव निर्वाणदशा प्राप्त करता है—मोक्ष प्राप्त करता है। ४७ वें सूत्रमें [illegible] करते हुए उसमें निर्वाण पद प्राप्त होने तककी दशाका वर्णन किया गया है। [illegible] अध्यायमें सब तरहकी 'जिन' दशाका स्वरूप [illegible] बताया है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके
नवमें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

भूमिका

१—आचार्यदेवने इस शास्त्रके प्रारम्भमें पहले अध्यायके पहले ही सूत्र में कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान—चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है—कल्याणमार्ग है। उसके बाद सात तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है; इस प्रकार बतलाकर सात तत्त्वोंके नाम बतलाये और दसवें अध्यायमें उन सात तत्त्वोंका वर्णन किया। उनमें इस अन्तिम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करके यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—मोक्ष संवर-निर्जरा पूर्वक होता है; इसीलिये नववें अध्यायमें संवर-निर्जराका स्वरूप कहा, और चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानमें विराजनेवाले केवलीभगवान तकके समस्त जीवोंके संवर-निर्जरा होती है ऐसा उसमें बतलाया। इस निर्जराकी पूर्णता होनेपर जीव परम समाधानरूप निर्वाणपदमें विराजता है; इस दशाको मोक्ष कहा जाता है। मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जीवोंने सर्व कार्य सिद्ध किया अतः 'सिद्ध भगवान' कहे जाते हैं।

३—केवली भगवानके (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें) संवर-निर्जरा होती है अतः उनका उल्लेख नववें अध्यायमें किया गया है किन्तु वहाँ केवलज्ञानका स्वरूप नहीं बतलाया। केवलज्ञान भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके बलसे द्रव्यमोक्ष (सिद्धदशा) होता है। (देखो, प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ८४ जयसेनाचार्यकी टीका) इसीलिये इस अध्यायमें प्रथम भावमोक्षरूप केवलज्ञानका स्वरूप बताकर फिर द्रव्यमोक्षका स्वरूप बतलाया है।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—[**मोहक्षयात्**] मोहका क्षय होनेसे (अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त क्षीणकषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करनेके बाद) [**ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् च**] और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा अन्तराय इन तीन कर्मोंका एक साथ क्षय होनेसे [**केवलम्**] केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

टीका

१—प्रत्येक जीवद्रव्य एक पूर्ण अखण्ड है, अतः उसका ज्ञान सामर्थ्य-संपूर्ण है।

संपूर्ण वीतराग होनेपर संपूर्ण सर्वज्ञता प्रगट होती है। जव जीव संपूर्ण वीतराग होता है तव कर्मके साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध होता है कि–मोहकर्म जीवके प्रदेशमें संयोग-रूपसे रहता ही नहीं, उसे मोहकर्मका क्षय हुआ कहा जाता है। जीवको सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होनेके वाद अल्पकालमें तत्काल ही संपूर्णज्ञान प्रगट होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध, अखण्ड, रागरहित है। इस दशामें जीवको 'केवली भगवान' कहते । भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसीलिये वे केवली नहीं कहलाते, परन्तु 'केवल' अर्थात् शुद्ध आत्माको जानते–अनुभवते हैं अतः वे 'केवली' कहलाते हैं। भगवान एकसाथ परिणमनेवाले समस्त चैतन्य-विशेषवाले केवलज्ञानके द्वारा अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण स्वसंवेद्यमान् चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतन स्वभावके द्वारा एकरूप होनेसे जो केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली हैं। (देखो, श्री प्रवचनसार गाथा ३३)

यह व्यवहार-कथन है कि भगवान परको जानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि व्यव-हारसे केवलज्ञान लोकालोकको युगपत् जानता है, क्योंकि स्व-पर प्रकाशक निज-शक्तिके कारण भगवान सम्पूर्ण ज्ञानरूपसे परिणमते हैं अतः कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय उनके ज्ञानके वाहर नहीं है। निश्चयसे तो केवलज्ञान अपने शुद्ध स्वभावको ही अखण्डरूपसे जानता है।

२—केवलज्ञान स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है, स्वतंत्र है तथा क्रम-रहित है। यह ज्ञान जव प्रगट हो तव ज्ञानावरण कर्मका सदाके लिये क्षय होता है, इसलिये इस ज्ञानको क्षायिकज्ञान कहते हैं। जव केवलज्ञान प्रगट होता है उसी समय केवलदर्शन और सम्पूर्ण वीर्य भी प्रगट होता है और दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मका सर्वथा अभाव (नाश) हो जाता है।

३—केवलज्ञान होनेपर भावमोक्ष हुआ कहलाता है (यह अरिहन्त दशा है) और आयुष्यकी स्थिति पूरी होनेपर चार अघातिया कर्मोंका अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है, मोक्ष केवलज्ञानपूर्वक ही होता है इसलिये मोक्षका वर्णन करने पर उसमें पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका सूत्र वतलाया है।

प्रश्नः—क्या यह मान्यता ठीक है कि जीवके तेरहवें गुणस्थानमें अनन्तवीर्य प्रगट हुआ है तथापि योग आदि गुणका विकार रहता है और संसारित्व रहता है उसका कारण अघातिकर्मका उदय है ?

उत्तरः—यह मान्यता यथार्थ नहीं है। तेरहवें गुणस्थानमें संसारित्व रहनेका यथार्थ कारण यह है कि वहां जीवके योगगुणका विकार है तथा जीवके प्रदेशकी वर्तमान योग्यता

उस क्षेत्रमें (-शरीरके साथ) रहने की है, तथा जीवके अव्याबाध, *अनामी, अगोत्री और अनायुपी आदि गुण अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुए; इस प्रकार जीव अपने ही कारणसे संसारमें रहता है। वास्तवमें जड़ अघातिकर्मके उदयके कारणसे या किसी परके कारणसे जीव संसारमें रहता है, यह मान्यता बिल्कुल असत् है। यह तो मात्र निमित्तका उपचार करनेवाला व्यवहार-कथन है कि 'तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्मोंका उदय है इसीलिये जीव सिद्धत्वको प्राप्त नहीं होता। जीवके अपने विकारी भावके कारण संसारदशा होनेसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें भी जड़कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है यह बतानेके लिये कर्मशास्त्रोंमें ऊपर बताये अनुसार व्यवहार-कथन किया जाता है। वास्तवमें कर्मके उदय सत्ता इत्यादिके कारण कोई जीव संसारमें रहता है यह मानना सो जीव और जड़कर्मको एकमेक माननेरूप मिथ्या-मान्यता है। शास्त्रोंका अर्थ करनेमें अज्ञानियोंकी मूलभूत भूल यह है कि व्यवहारनयके कथनको वे निश्चयनयका कथन मानकर व्यवहारको ही परमार्थ मान लेते हैं। यह भूल दूर करनेके लिये आचार्य भगवानने इस शास्त्रके प्रथम अध्यायके छट्ठे सूत्रमें प्रमाण तथा नयका यथार्थ ज्ञान करनेकी आज्ञा की है (प्रमाणनयै रधिगमः) जो व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथन मानकर शास्त्रोंका वैसा अर्थ करते हैं उनके उस अज्ञानको दूर करनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारजीमें × ३२४ से ३२६ वीं गाथा कही हैं। इसलिए जिज्ञासुओंको शास्त्रोंका कथन किस नयसे है और उसका परमार्थ (भूतार्थ-सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है यह यथार्थ समझकर शास्त्रकारके कथनके मर्मको जान लेना चाहिये, परन्तु भाषाके शब्दोंको नहीं पकड़ना चाहिये।

६. केवलज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता?

(१) प्रश्नः—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मोक्षके कारणभूत रत्नत्रयकी पूर्णता हो

* इन गुणोंके नाम बृ० द्रव्यसंग्रह गा० १३-१४ की टीकामें हैं।

× वे गाथायें इस प्रकार हैं:-

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥३२६॥

जाती है तो फिर उसीसमय मोक्ष होना चाहिये; इसप्रकार जो सयोगी तथा अयोगी ये केवलियोंके दो गुणस्थान कहे हैं उनके रहनेका कोई समय ही नहीं रहता ?

उत्तरः—यद्यपि केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय यथाख्यातचारित्र हो गया है तथापि अभी परम यथाख्यातचारित्र नहीं हुआ। कषाय और योग अनादिसे अनुसंगी-(साथी) हैं तथापि प्रथम कषायका नाश होता है, इसीलिये केवली भगवानके यद्यपि वीतरागतारूप यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है तथापि योगके व्यापारका नाश नहीं हुआ। योगका परिस्पंदनरूप व्यापार परम यथाख्यातचारित्रमें दूषण उत्पन्न करनेवाला है। इस योगके विकारकी क्रमक्रमसे भावनिर्जरा होती है। इस योगके व्यापारकी सम्पूर्ण भावनिर्जरा हो जाने तक तेरहवाँ गुणस्थान रहता है। योगका अशुद्धतारूप-चंचलतारूप व्यापार बंद पड़नेके बाद भी कितनेक समय तक अव्याबाध, निर्नाम (नाम रहितत्व), अनायुष्य (आयुष्य रहितत्व) और निर्गोत्र* आदि गुण प्रगट नहीं होते; इसीलिये चारित्रमें दूषण रहता है। चौदहवें गुणस्थानके अंतिम समयका व्यय होनेपर उस दोषका अभाव हो जाता है और उसीसमय परम यथाख्यातचारित्र प्रगट होनेसे अयोगी जिन मोक्षरूप अवस्था धारण करता है; इस रीतिसे मोक्ष-अवस्था प्रगट होनेसे पहले सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान प्रत्येक केवली भगवानके होते हैं।

(*देखो-बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३-१४ की टीका)

(२) **प्रश्नः**—यदि ऐसा मानें कि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय मोक्ष-अवस्था प्रगट होजाय तो क्या दूषण लगेगा ?

उत्तरः—ऐसा मानने पर निम्नलिखित दोष आते हैं—

१—जीवमें योगगुणका विकार होनेपर, तथा अन्य (अव्याबाध आदि) गुणोंमें विकार होनेपर और परम यथाख्यातचारित्र प्रगट हुये बिना, जीवकी सिद्धदशा प्रगट हो जायगी जो कि अशक्य है।

२—यदि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय सिद्धदशा प्रगट हो जाय तो धर्म-तीर्थ ही न रहे; यदि अरिहंत दशा ही न रहे तो कोई सर्वज्ञ उपदेशक-आप्त ही न हो। इसका परिणाम यह होगा कि भव्य जीव अपने पुरुषार्थसे धर्म प्राप्त करने योग्य दशा प्रगट करनेके लिये तैयार हो तथापि उसे निमित्तरूप सत्य धर्मके उपदेशका (दिव्यध्वनिका) संयोग न होगा अर्थात् उपादान-निमित्तका मेल टूट जायगा। इसप्रकार बन ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा नियम है। जिस समय जो जीव अपने उपादानकी जागृतिसे धर्म प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करता है उससमय उस जीवके इतना पुण्यका संयोग होता ही है कि

जिससे उसे उपदेशादिक योग्य निमित्त (सामग्री) स्वयं मिलते ही हैं। उपादानकी पर्यायका और निमित्तकी पर्यायका ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यदि ऐसा न हो तो जगतमें कोई जीव धर्म प्राप्त कर ही न सकेंगे। अर्थात् समस्त जीव द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण हैं तथापि अपनी शुद्ध पर्याय कभी प्रगट नहीं कर सकेंगे। ऐसा होनेपर जीवोंका दुःख कभी दूर नहीं होगा और वे सुखस्वरूप कभी नहीं हो सकेंगे।

३—जगतमें यदि कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता तो तीर्थंकर, सिद्ध, अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी भूमिकामें रहनेवाले उपदेशक इत्यादि पद भी जगतमें न रहेंगे, जीवकी साधक और सिद्धदशा भी न रहेगी, सम्यग्दृष्टिकी भूमिका ही प्रगट न होगी, तथा उस भूमिकामें होनेवाला धर्मप्रभावनादिका राग-पुण्यानुबंधी पुण्य, सम्यग्दृष्टिके योग्य देवगति-देवक्षेत्र इत्यादि अवस्थाका भी नाश हो जायग।

(३) इस परसे यह समझना कि जीवके उपादानके प्रत्येक समयकी पर्यायकी जिसप्रकारकी योग्यता हो तदनुसार उस जीवके उस समयके योग्य निमित्तका संयोग स्वयं मिलता ही है—ऐसा निमित्त--नैमित्तिक सम्बन्ध तेरहवें गुणस्थानका अस्तित्व सिद्ध करता है; एक--दूसरेके कर्तारूपमें कोई है ही नहीं। तथा ऐसा भी नहीं कि उपादानकी पर्यायमें जिस समय योग्यता हो उस समय उसे निमित्तकी ही राह देखनी पड़े; दोनोंका सहजरूपसे ऐसा ही मेल होता ही है और यही निमित्त--नैमित्तिक भाव है; तथापि दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। निमित्त परद्रव्य है उसे जीव मिला नहीं सकता। उसी प्रकार वह निमित्त जीवमें कुछ कर नहीं सकता; क्योंकि कोई द्रव्य परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता--हर्ता नहीं है ॥ १ ॥

अब मोक्षका कारण और उसका लक्षण कहते हैं—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—[**बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां**] बंधके कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जराके द्वारा [**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**] समस्त कर्मोंका अत्यन्त नाश हो जाना सो मोक्ष है।

टीका

१–कर्म तीन प्रकारके हैं—(१) भावकर्म, (२) द्रव्यकर्म और (३) नोकर्म। भावकर्म जीवका विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ हैं। भावकर्मका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मका अभाव होता है और द्रव्यकर्मका अभाव होनेपर नोकर्म (--शरीर) का अभाव

होता है। यदि अस्तिकी अपेक्षासे कहें तो जो जीवकी सम्पूर्ण शुद्धता है सो मोक्ष है और यदि नास्तिकी अपेक्षासे कहें तो जीवकी सम्पूर्ण विकारसे जो मुक्तदशा है सो मोक्ष है। इस दशामें जीव कर्म तथा शरीर रहित होता है और इसका आकार अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून पुरुषाकार होता है।

२. मोक्ष यत्नसे साध्य है

(१) **प्रश्नः**—मोक्ष यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य है ?

उत्तरः—मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्नसे (पुरुषार्थसे) प्रथम मिथ्यात्वको दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थसे क्रम-क्रमसे विकारको दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थके विकल्पसे मोक्ष साध्य नहीं है।

(२) मोक्षका प्रथम कारण सम्यग्दर्शन और वह पुरुषार्थसे ही प्रगट होता है। श्री समयसार कलश ३४ में अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि—

हे भव्य! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है? इस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वयं निश्चल होकर देख; इसप्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदय-सरोवरमें आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं? अर्थात् ऐसा प्रयत्न करनेसे अवश्य आत्माकी प्राप्ति होती है।

पुनश्च, कलश २३ में कहते हैं कि—

हे भाई! तू किसी भी तरह महाकष्टसे अथवा मरकर भी (अर्थात् कई प्रयत्नोंके द्वारा) तत्त्वोंका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त्त द्रव्योंका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्माका अनुभव कर कि जिससे निज आत्माको विलासरूप, सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोहको तू तत्क्षण ही छोड़ देगा।

भावार्थः—यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घातिकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो। आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है।

इसमें आत्मानुभव करनेके लिये पुरुषार्थ करना बताया है।

(३) सम्यक् पुरुषार्थके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। बिना कारणके कार्य सिद्ध नहीं होता। पुरुषार्थसे मोक्ष होता है ऐसा सूत्रकारने स्वयं, इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें 'पूर्वप्रयोगात्' शब्दका प्रयोग कर बतलाया है।

(४) समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं कि—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्ततत्त्वं भूतजं यदि ।

अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अर्थ—यदि पृथ्वी आदि भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है, किन्तु यदि ऐसा न हो तो योगसे अर्थात् स्वरूप-संवेदनका अभ्यास करनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो; इस कारण निर्वाण-मोक्षके लिये पुरुषार्थ करनेवाले योगियोंको चाहे जैसा उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी दुःख नहीं होता।

(५) श्री अष्टप्राभृतमें दर्शनपाहुड गाथा ६, सूत्रपाहुड १८ और भावपाहुड गाथा ८७ से ९० में स्पष्ट रीतिसे बतलाया है कि धर्म-संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आत्माके वीर्य-बल-प्रयत्नके द्वारा ही होते हैं; उस शास्त्रकी भूमिका पृष्ठ १५-१६ तथा २४२ में भी ऐसा ही कहा है।

(६) प्रश्नः—इसमें अनेकान्त स्वरूप कहाँ आया?

उत्तरः—आत्माके सत्य पुरुषार्थसे ही धर्म-मोक्ष होता है और अन्य किसी प्रकारसे नहीं होता, यही सम्यक् अनेकान्त हुआ।

(७) प्रश्नः—आप्तमीमांसाकी ८८ वीं गाथामें अनेकान्तका ज्ञान करानेके लिये कहा है कि पुरुषार्थ और दैव दोनों होते हैं, इसका क्या स्पष्टीकरण है?

उत्तरः—जब जीव मोक्षका पुरुषार्थ करता है तब परम-पुण्यकर्मका उदय होता है इतना बतानेके लिये यह कथन है। पुण्योदयसे धर्म या मोक्ष नहीं, परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि मोक्षका पुरुषार्थ करनेवाले जीवके उस समय उत्तम संहनन आदि बाह्य-संयोग होता है। यथार्थ पुरुषार्थ और पुण्य इन दोनोंसे मोक्ष होता है—इसप्रकार कथन करनेके लिये यह कथन नहीं है। किन्तु उससमय पुण्यका उदय नहीं होता ऐसा कहनेवालेकी भूल है—यह बतानेके लिये इस गाथाका कथन है।

इस परसे सिद्ध होता है कि मोक्षकी सिद्धि पुरुषार्थके द्वारा ही होती है, उसके बिना मोक्ष नहीं हो सकता ॥ २ ॥

मोक्षमें समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव होता है यह उपरोक्त सूत्रमें बतलाया; अब यह बतलाते हैं कि कर्मोंके अलावा और किसका अभाव होता है—

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थः—[च] और [औपशमिकादि भव्यत्वानां] औपशमिकादि भावोंका तथा

पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्व भावका मुक्त जीवके अभाव होता—हो जाता है।

टीका

'औपशमिकादि' कहनेसे औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना; क्षायिकभाव इसमें नहीं गिनना-जानना।

जिन जीवोंके सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करनेकी योग्यता हो वे भव्य जीव कहलाते हैं। जब जीवके सम्यग्दर्शनादि पूर्णरूपमें प्रगट हो जाते हैं तब उस आत्मामें 'भव्यत्व' का व्यवहार मिट जाता है। इस सम्बन्धमें यह विशेष ध्यान रहे कि यद्यपि 'भव्यत्व' पारिणामिकभाव है तथापि, जिस प्रकार पर्यायार्थिकनयसे जीवके सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंका-निमित्तरूपसे घातक देशघाति तथा सर्वघाति नामका मोहादिक कर्म सामान्य है उसीप्रकार, जीवके भव्यत्वभावको भी कर्मसामान्य निमित्तरूपमें प्रच्छादक कहा जा सकता है। (देखो, हिन्दी समयसार श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका पृष्ठ ४२३) सिद्धत्व प्रगट होनेपर भव्यत्वभावका नाश हो जाता है ॥३॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ—[केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः अन्यत्र] केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व, इन भावोंके अतिरिक्त अन्य भावोंके अभावसे मोक्ष होता है।

टीका

मुक्त अवस्थामें केवलज्ञानादि गुणोंके साथ जिन गुणोंका सहभावी सम्बन्ध है—ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग इत्यादि गुण भी होते हैं ॥४॥

अब मुक्त जीवोंका स्थान बतलाते हैं

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥५॥

अर्थ—[तदनन्तरम्] तुरन्त ही [ऊर्ध्वं आलोकांतात् गच्छति] ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभाग तक जाता है।

टीका

चौथे सूत्रमें कहा हुआ सिद्धत्व जब प्रगट होता है तब तीसरे सूत्रमें कहे हुये भाव नहीं होते; तथा कर्मोंका भी अभाव हो जाता है; उसी समय जीव ऊर्ध्वगमन करके सीधे

लोकके अग्रभाग तक जाता है और वहाँ शाश्वत स्थित रहता है। छट्ठे और सातवें सूत्रमें ऊर्ध्वगमन होनेका कारण बतलाया है और लोकके अन्तभागसे आगे नहीं जानेका कारण आठवें सूत्रमें बतलाया है ॥५॥

अब मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमनका कारण बतलाते हैं

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

अर्थः—[**पूर्वप्रयोगात्**] १-पूर्वप्रयोगसे, [**असंगत्वात्**] २-संगरहित होनेसे, [**बन्धच्छेदात्**] ३-बन्धका नाश होनेसे [**तथा गतिपरिणामात् च**] और ४-तथा गति-परिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे-मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

नोटः—पूर्व प्रयोगका अर्थ है पूर्वमें किया हुआ पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम; इस सम्बन्धमें इस अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीका तथा सातवें सूत्रके पहले दृष्टांत परकी टीका पढ़कर समझना ॥ ६ ॥

ऊपरके सूत्रमें कहे गये चारों कारणोंके दृष्टांत बतलाते हैं

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवद-ग्निशिखावच्च ॥७॥

अर्थ—मुक्त जीव [**आविद्धकुलालचक्रवत्**] १—कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाककी तरह पूर्व प्रयोगसे, [**व्यपगतलेपालाबुवत्**] २—लेप दूर हो चुका है जिसका ऐसी तूम्बेकी तरह संगरहित होनेसे, [**एरंडबीजवत्**] ३—एरंडके बीजकी तरह बन्धन रहित होनेसे [**च**] और [**अग्निशिखावत्**] ४—अग्निकी शिखा-(लौ) की तरह ऊर्ध्वगमनस्वभावसे ऊर्ध्वगमन (ऊपरको गमन) करता है।

टीका

१-पूर्वप्रयोगका उदाहरणः—जैसे कुम्हार चाकको घुमाकर हाथ रोक लेता है तथापि वह चाक पूर्वके वेगसे घूमता रहता है, उसीप्रकार जीव भी संसार-अवस्थामें मोक्ष-प्राप्तिके लिये बारम्बार अभ्यास (उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है तथापि पूर्वके अभ्यासके संस्कारसे मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

२—असंगका उदाहरणः-जिसप्रकार तूम्बेको जबतक लेपका संयोग रहता है तबतक वह स्वके क्षणिक उपादानकी योग्यताके कारण पानीमें डूबा हुआ रहता है, किन्तु जब लेप

(मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है तब वह पानीके ऊपर-स्वयं अपनी योग्यतासे आ जाता है; उसीप्रकार जबतक जीव संगसहित होता है तबतक अपनी योग्यतासे संसार-समुद्रमें डूबा रहता है और संगरहित होनेपर ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभागमें चला जाता है।

३–बन्धछेदका उदाहरणः–जैसे एरंड वृक्षका सूखा फल-जब चटकता है तब वह बन्धनसे छूट जानेसे उसका बीज ऊपर जाता है, उसीप्रकार जीवकी पक्वदशा (मुक्त-अवस्था) होनेपर कर्मबन्धके छेदपूर्वक वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४–ऊर्ध्वगमन स्वभावका उदाहरणः—जिसप्रकार अग्निकी शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवाके अभावमें जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपरको जाती है उसीप्रकार जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है; इसलिये मुक्तदशा होनेपर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है ॥७॥

लोकाग्रसे आगे नहीं जानेका व्यवहार-कारण बतलाते हैं

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अर्थः—[धर्मास्तिकायाभावात्] आगे (अलोकमें) धर्मास्तिकायका अभाव है अतः मुक्त जीव लोकके अन्ततक ही जाता है।

टीका

१—इस सूत्रका कथन निमित्तकी मुख्यतासे है। गमन करते हुये द्रव्योंको धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्तरूप है, यह द्रव्य लोकाकाशके बराबर है। वह यह बतलाता है कि जीव और पुद्गलकी गति ही स्वभावसे इतनी है कि वह लोकके अन्ततक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाशमें 'लोकाकाश' और 'अलोकाकाश' ऐसे दो भेद ही न रहें। लोक छह द्रव्योंका समुदाय है और अलोकाकाशमें एकाकी आकाशद्रव्य ही है। जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें गमन-शक्ति है; उनकी गति-शक्ति ही स्वभावसे ऐसी है कि वह लोकमें ही रहते हैं। गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है उसका अलोकाकाशमें अभाव है, वह यह बतलाता है कि गमन करनेवाले द्रव्योंकी उपादान-शक्ति ही लोकके अग्रभाग तक गमन करने की है। अर्थात् वास्तवमें जीवकी अपनी योग्यता ही अलोकमें जानेकी नहीं है, अतएव वह अलोकमें नहीं जाता, धर्मास्तिकायका अभाव तो इसमें निमित्तमात्र है।

२—बृहद्द्रव्यसंग्रहमें सिद्धके अगुरुलघुगुणका वर्णन करते हुये बतलाते हैं कि—यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु हो (भारी हो) तो लोहेके गोलेकी तरह उसका सदा अधःपतन होता

रहेगा अर्थात् वह नीचे ही पड़ा रहेगा। और यदि वह सर्वथा लघु (हलका) हो तो जैसे वायुके झकोरेसे आकके वृक्षकी रुई उड़ जाया करती है उसीप्रकार सिद्धस्वरूपका भी निरंतर भ्रमण होता ही रहेगा; परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है, इसीलिये उसमें अगुरुलघुगुण कहा गया है। (बृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ-३८)

इस अगुरुलघुगुणके कारण सिद्ध जीव सदा लोकाग्रमें स्थित रहते हैं, वहाँसे न तो आगे जाते हैं और न नीचे आते हैं ॥८॥

मुक्त जीवोंमें व्यवहारनयकी अपेक्षासे भेद बतलाते हैं—

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थः—[**क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः**] क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व—इन बारह अनुयोगों से [**साध्याः**] मुक्त जीवों (सिद्धों) में भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं।

टीका

१–क्षेत्रः–ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे (वर्तमानकी अपेक्षासे) आत्मप्रदेशोंमें सिद्ध होता है, आकाशप्रदेशोंमें सिद्ध होता है, सिद्धक्षेत्रमें सिद्ध होता है। भूत-नैगमनयकी अपेक्षासे पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुष ही सिद्ध होते हैं। पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुषको यदि कोई देवादि अन्य क्षेत्रमें उठाकर ले जाय तो अढ़ाई द्वीप प्रमाण समस्त मनुष्य-क्षेत्रसे सिद्ध होता है।

२–काल–ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे एक समयमें सिद्ध होता है। भूत-नैगमनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों कालमें सिद्ध होता है; उसने अवसर्पिणी कालके तीसरे कालके अन्तभागमें चौथे कालमें और पाँचवें कालके प्रारम्भमें (जिसने चौथे कालमें जन्म लिया है ऐसा जीव) सिद्ध होता है। उत्सर्पिणी कालके 'दुषमसुषम- कालमें चौबीस तीर्थंकर होते हैं और उस कालमें जीव सिद्ध होते हैं (त्रिलोकप्रज्ञप्ति पृष्ठ ३५०); विदेह-क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे कालके भेद नहीं हैं। पंचमकालमें जन्मे हुए जीव सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करते हैं किन्तु वे उसी भवसे मोक्ष प्राप्त नहीं करते। विदेहक्षेत्रमें उत्पन्न हुए जीव अढ़ाई द्वीपके किसी भी भागमें सर्वकालमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

३-गति:—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे सिद्धगतिसे मोक्ष प्राप्त होता है; भूत नैगमनयकी अपेक्षासे मनुष्यगतिसे ही मोक्ष प्राप्त होता है।

४-लिंग:—ऋजुसूत्रनयसे लिंग (वेद) रहित ही मोक्ष पाता है; भूतनैगमनयसे तीनों प्रकारके भाववेदमें क्षपकश्रेणी मांडकर मोक्ष प्राप्त करते हैं; और द्रव्यवेदमें तो पुरुषलिंग और यथाजातरूप लिंगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है।

५-तीर्थ:—कोई जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते हैं। सामान्य केवलीमें भी कोई तो तीर्थंकरकी मौजूदगीमें मोक्ष प्राप्त करते और कोई तीर्थंकरोंके बाद उनके तीर्थमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

६-चारित्र:—ऋजुसूत्रनयसे चारित्रके भेदका अभाव करके मोक्ष पाते हैं। भूतनैगमनयसे—निकटकी अपेक्षासे यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, दूरकी अपेक्षासे सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसांपराय तथा यथाख्यातसे और किसीके परिहारविशुद्धि हो तो उससे—इन पाँच प्रकारके चारित्रसे मोक्ष प्राप्त होता है।

७-प्रत्येकबुद्धबोधित:—प्रत्येकबुद्ध जीव वर्तमानमें निमित्तकी उपस्थितिके बिना अपनी शक्तिसे बोध प्राप्त करते हैं, किन्तु भूतकालमें या तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तो तब या उससे पहले सम्यग्ज्ञानीके उपदेशका निमित्त हो; और बोधितबुद्ध जीव वर्तमानमें सम्यग्ज्ञानीके उपदेशके निमित्तसे धर्म पाते हैं। ये दोनों प्रकारके जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८-ज्ञान:—ऋजुसूत्रनयसे केवलज्ञानसे ही सिद्ध होता है। भूतनैगमनयसे कोई मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे, कोई मति, श्रुत, अवधि इन तीनसे, अथवा मति, श्रुत, मनःपर्ययसे और कोई मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय, इन चार ज्ञानसे (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होता है।

९-अवगाहना:—किसीके उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम पाँचसौ पच्चीस धनुषकी, किसीके जघन्य साढ़े तीन हाथमें कुछ कम और किसीके मध्य अवगाहना होती है। मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद हैं।

१०-अन्तर:—एक सिद्ध होनेके बाद दूसरा सिद्ध होनेका जघन्य अन्तर एक समयका और उत्कृष्ट अन्तर छह मासका है।

११-संख्या:—जघन्यरूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है. उत्कृष्टरूपसे एक समयमें १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

१२ अल्पबहुत्वः— अर्थात् संख्यामें हीनाधिकता। उपरोक्त ग्यारह भेदोंमें अल्पबहुत्व होता है वह निम्न प्रकार है:—

(१) क्षेत्रः—संहरण सिद्धसे जन्म सिद्ध संख्यातगुणे हैं। समुद्र आदि जल क्षेत्रोंसे अल्प सिद्ध होते हैं और महाविदेहादि क्षेत्रोंसे अधिक सिद्ध होते हैं।

(२) कालः—उत्सर्पिणी कालमें हुए सिद्धोंकी अपेक्षा अवसर्पिणी कालमें हुए सिद्धोंकी संख्या ज्यादा है और इन दोनों कालके विना सिद्ध हुये जीवोंकी संख्या उनसे संख्यातगुनी है, क्योंकि विदेहक्षेत्रमें अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीका भेद नहीं है।

(३) गतिः—सभी जीव मनुष्यगतिसे ही सिद्ध होते हैं, इसलिये इस अपेक्षासे गतिमें अल्पबहुत्व नहीं है; परन्तु एक गतिके अन्तरकी अपेक्षासे (अर्थात् मनुष्यभवसे पहिलेकी गतिकी अपेक्षासे) तिर्यंचगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुए ऐसे जीव थोड़े हैं—कम हैं, उनकी अपेक्षासे संख्यातगुने जीव मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं, उससे संख्यातगुने जीव नरकगतिसे आकर मनुष्य हो सिद्ध होते हैं, और उससे संख्यातगुने जीव देवगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं।

(४) लिंगः—भावनपुंसक वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध हों ऐसे जीव कम हैं—थोड़े हैं। उनसे संख्यातगुने भावस्त्री वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं और उससे संख्यातगुने भावपुरुष वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं।

(५) तीर्थः—तीर्थंकर होकर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, और उनसे संख्यातगुने सामान्यकेवली होकर सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्रः—पांचों चारित्रसे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने जीव परिहारविशुद्धिके अलावा चार चारित्रसे सिद्ध होने वाले हैं।

(७) प्रत्येकबुद्धबोधितः—प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने जीव बोधितबुद्ध होते हैं।

(८) ज्ञानः—मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने चार ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्तकर सिद्ध होते हैं और उनसे संख्यातगुने जीव तीन ज्ञानसे केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध होते हैं।

(९) अवगाहनः—जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने उत्कृष्ट अवगाहनासे और उनसे संख्यातगुने मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होते हैं।

अन्तरः—छह मासके अन्तरवाले सिद्ध सबसे थोड़े हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयके अन्तरवाले सिद्ध होते हैं।

संख्याः—उत्कृष्टरूपमें एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं, उनसे अनन्तगुने एक समयमें १०७ से लगाकर ५० तक सिद्ध होते हैं, उनसे असंख्यातगुने जीव एक समयमें ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयमें २४ से लेकर १ तक सिद्ध होनेवाले जीव हैं।

इस तरह बाह्य-निमित्तोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेदकी कल्पना की जाती है। वास्तवमें अवगाहना गुणके अतिरिक्त अन्य आत्मीय गुणोंकी अपेक्षासे उनमें कोई भेद नहीं है। यहाँ यह न समझना कि 'एक सिद्धमें दूसरा सिद्ध मिल जाता है—इसलिये भेद नहीं है।' सिद्धदशामें भी प्रत्येक जीव अलग-अलग ही रहते हैं, कोई जीव एक-दूसरेमें मिल नहीं जाते ॥ ९ ॥

उपसंहार

१—मोक्षतत्त्वकी मान्यता सम्बन्धी होनेवाली भूल और उसका निराकरण

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि स्वर्गके सुखकी अपेक्षासे अनन्तगुना सुख मोक्षमें है। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इस गुणाकारमें वह स्वर्ग और मोक्षके सुखकी जाति एक गिनता है। स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री-जनित इन्द्रिय-सुख होता है; उसकी जाति उसे मालूम होती है; किन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री नहीं है इसलिये वहाँके अतीन्द्रिय सुखकी जाति उसे नहीं प्रतिभासती-मालूम होती। परन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते हैं इसलिये वे अज्ञानी भी विना समझे बोलते हैं। जैसे कोई गायनके स्वरूपको तो नहीं समझता किन्तु समस्त सभा गायनकी प्रसंशा करती है इसलिये वह भी प्रशंसा करता है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव तो मोक्षका स्वरूप जानकर उसे उत्तम कहते हैं, इसलिये अज्ञानी जीव भी विना समझे ऊपर बताये अनुसार कहता है।

प्रश्नः—यह किस परसे कहा जा सकता है कि अज्ञानी जीव सिद्धके सुखकी और स्वर्गके सुखकी जातिको एक जानता है—समझता है?

उत्तरः—जिस साधनका फल वह स्वर्ग मानता है उसी जातिके साधनका फल वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस किस्मके अल्प साधन हों तो उससे इन्द्रादि पद मिलते हैं और जिसके वह साधन सम्पूर्ण हों वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार

दोनोंके साधनकी एक जाति मानता है, इसीसे यह निश्चय होता है कि उनके कार्यकी (स्वर्ग तथा मोक्षकी) भी एक जाति होनेका उसे श्रद्धान है। इन्द्रादिकको जो सुख है वह तो कषायभावोंसे आकुलतारूप है, अतएव परमार्थतः वह दुःखी है और सिद्धके तो कषायरहित अनाकुल सुख है। इसलिये दोनोंकी जाति एक नहीं है ऐसा समझना चाहिये। स्वर्गका कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षका कारण वीतरागभाव है। इसप्रकार उन दोनोंके कारणमें अन्तर है। जिन जीवोंके ऐसा भाव नहीं भासता उनके मोक्षतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं है।   (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ-२३४)

२. अनादि-कर्मबंधन नष्ट होनेकी सिद्धि

श्री तत्त्वार्थसार अध्याय ८में कहा है कि:—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसंततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥

भावार्थः—जिस वस्तुकी उत्पत्तिका आद्य समय न हो वह अनादि कहा जाता है, जो अनादि हो उसका कभी अन्त नहीं होता। यदि अनादि पदार्थका अन्त हो जाय तो सत्का विनाश मानना पड़ेगा; परन्तु सत्का विनाश होना—यह सिद्धान्त और युक्तिसे विरुद्ध है।

इस सिद्धान्तसे, इस प्रकरणमें ऐसी शंका उपस्थित हो सकती है कि-तो फिर अनादि कर्मबन्धनकी संततिका नाश कैसे हो सकता है? क्योंकि कर्मबन्धनका कोई आद्य-समय नहीं है इससे वह अनादि है, और जो अनादि हो उसका अन्त भी नहीं होना चाहिए, कर्मबन्धन जीवके साथ अनादिसे चला आया है अतः अनन्तकाल तक सदा उसके साथ रहना चाहिए, फलतः कर्मबन्धनसे जीव कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

इस शंकाके दो रूप हो जाते हैं—(१) जीवके कर्मबन्धन कभी नहीं छूटना चाहिए, और (२) कर्मत्वरूप जो पुद्गल हैं उनमें कर्मत्व सदा चलता ही रहना चाहिए; क्योंकि कर्मत्व भी एक जाति है और वह सामान्य होनेसे ध्रुव है। इसलिए उसकी चाहे जितनी पर्यायें बदलती रहें तो भी वे सभी कर्मरूप ही रहनी चाहिए। सिद्धान्त है कि "जो द्रव्य जिस स्वभावका हो वह उसी स्वभावका हमेशा रहता है"। जीव अपने चैतन्यस्वभावको कभी छोड़ता नहीं है और पुद्गल भी अपने रस-रूपादिक स्वभावको कभी छोड़ते नहीं हैं, इसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने-अपने स्वभावको छोड़ते नहीं हैं; फिर कर्म ही अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड़ दें?

उपरोक्त शंकाका समाधान इसप्रकार है—जीवके साथ कर्मका सम्वन्ध संतति-प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे है किन्तु किसी एकके एक ही परमाणुका सम्वन्ध अनादिसे नहीं है, जीवके साथ प्रत्येक परमाणुका सम्वन्ध नियत कालतक ही रहता है। कर्मपिंडरूप परिणत परमाणुओंका जीवके साथ सम्वन्ध होनेका भी काल भिन्न-भिन्न है और उनके छूटनेका भी काल नियत और भिन्न-भिन्न है। इतना सत्य है कि जीवको विकारी अवस्था में कर्मका संयोग चलता ही रहता है। संसारी जीव अपनी स्वयंकी भूलसे विकारी अवस्था अनादिसे करता चला आ रहा है अतः कर्मका सम्वन्ध भी संतति-प्रवाहरूप अनादिसे इसको है, क्योंकि विकार कोई नियतकालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है अतः कर्मका सम्वन्ध भी कोई नियतकालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है—इसप्रकार जीवके साथ कर्मका सम्वन्ध सन्तति-प्रवाहसे अनादिका कहा जाता है; लेकिन कोई एक ही कर्म अनादिकालसे जीवके साथ लगा हुआ चला आया हो—ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

जिसप्रकार कर्मकी उत्पत्ति है उसीप्रकार उनका नाश भी होता है, क्योंकि—"जिसका संयोग हो उसका वियोग अवश्य होता ही है" ऐसा सिद्धान्त है। पूर्व कर्मके वियोगके समय यदि जीव स्वरूपमें सम्यक् प्रकार जागृतिके द्वारा विकारको उत्पन्न नहीं होने दे तो नवीन कर्मोंका वन्ध नहीं होगा। इसप्रकार अनादि कर्म-वन्धनका सन्ततिरूप प्रवाह निर्मूल नष्ट हो सकता है। उसका उदाहरण—जैसे वीज और वृक्षका सम्वन्ध संततिप्रवाहरूपसे अनादिका है, कोई भी वीज पूर्वके वृक्ष विना नहीं होता। वीजका उपादानकारण पूर्व-वृक्ष और पूर्ववृक्षका उपादान पूर्व वीज, इसप्रकार वीज-वृक्षकी संतति अनादिसे होनेपर भी उस संततिका अन्त करनेके लिए अन्तिम वीजको पीस डालें या जला दें तो उसका संतति-प्रवाह नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार कर्मोंकी संतति अनादिसे होनेपर भी कर्मनाशके प्रयोग द्वारा समस्त कर्मोंका नाश कर दिया जाय तो उनकी संतति निःशेष—नष्ट हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मोंके नाशका और नये कर्मोंकी उत्पत्ति न होने देनेका उपाय संवर-निर्जराके नववें अध्यायमें वताया है। इसप्रकार कर्मोंका सम्वन्ध जीवसे कभी नहीं छूट सकता-ऐसी शंका दूर होती है।

शंकाका दूसरा प्रकार यह है कि—कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोड़ता नहीं है तो कर्मरूप पदार्थ भी कर्मत्वको कैसे छोड़ें? इसका समाधान यह है कि-कर्म कोई द्रव्य नहीं है, परन्तु वह तो संयोगरूप पर्याय है। जिस द्रव्यमें कर्मत्वरूप पर्याय होती है वह द्रव्य तो पुद्गलद्रव्य है और पुद्गलद्रव्यका तो कभी नाश होता नहीं है और वह अपने वर्णादि स्वभावको भी कभी छोड़ता नहीं है। पुद्गल द्रव्योंमें उनकी योग्यतानुसार शरीरादि तथा

जल, अग्नि, मिट्टी, पत्थर वगैरह कार्यरूप अनेक अवस्थाएँ होती रहती हैं, और उनकी मर्यादा पूर्ण होनेपर वे विनाशको भी प्राप्त होती रहती हैं; उसीप्रकार कोई पुद्गल जीवके साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप बन्धन अवस्था होनेरूप सामर्थ्य—तथा रागी जीवको रागादि होनेमें निमित्तपनेरूप होनेकी सामर्थ्यसहित जीवके साथ रहते हैं वहाँ तक उनको 'कर्म' कहते हैं। कर्म कोई द्रव्य नहीं है, वह तो पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, पर्यायका स्वभाव ही पलटना है, इसलिये कर्मरूप पर्यायका अभाव होकर अन्य पर्यायरूप होता रहता है।

पुद्गल द्रव्यकी कर्म-पर्याय नष्ट होकर दूसरी जो पर्याय हो वह कर्मरूप भी हो सकती है और अन्यरूप भी हो सकती है। किसी द्रव्यके उत्तरोत्तर कालमें भी उस द्रव्यकी एक समान ही योग्यता होती रहे तो उसकी पर्यायें एक समान ही होती रहेंगी, और यदि उसकी योग्यता बदलती रहे तो उसकी पर्यायें अनेक प्रकार भिन्न-भिन्न जातिकी होती रहेंगी। जैसे मिट्टीमें जिससमय घटरूप होनेकी योग्यता हो तब वह मिट्टी घटरूप परिणमती है और फिर वही मिट्टी पूर्व अवस्था बदलकर दूसरी बार भी घट हो सकती है। अथवा अपनी योग्यतानुसार कोई अन्य पर्यायरूप (-अवस्थारूप) भी हो सकती है। इसीप्रकार कर्मरूप पर्यायमें भी समझना चाहिये। जो 'कर्म' कोई अलग द्रव्य ही हो तो उसका अन्यरूप (अकर्मरूप) होना नहीं बन सकता, परन्तु 'कर्म' पर्याय होनेसे वह जीवसे छूट सकते हैं और कर्मपना छोड़कर अन्यरूप (-अकर्मरूप) हो सकते हैं।

३. इसप्रकार पुद्गल जीवसे कर्मरूप अवस्थाको छोड़कर अकर्मरूप घट-पटादिरूप हो सकते हैं यह सिद्ध हुआ। परन्तु जीवसे कुछ कर्मोंका अकर्मरूप हो जाने मात्रसे ही जीव कर्मरहित नहीं हो जाता, क्योंकि जैसे कुछ कर्मरूप पुद्गल कर्मत्वको छोड़कर अकर्मरूप हो जाते हैं वैसे ही अकर्मरूप अवस्थावाले पुद्गल जिनमें कर्मरूप होनेकी योग्यता हो, वह जीवके विकारभावकी उपस्थितिमें कर्मरूप हुआ करते हैं। जहांतक जीव विकारी भाव करे वहाँ तक उसकी विकारदशा हुआ करती है और अन्य पुद्गल कर्मरूप होकर उसके साथ बन्धनरूप हुआ करते हैं; इसप्रकार संसारमें कर्मशृङ्खला चलती रहती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि—कर्म सदा कर्म ही रहें, अथवा तो कोई जीव सदा अमुक ही कर्मोंसे बँधे हुए ही रहें, अथवा विकारी दशामें भी सर्व कर्म सर्व जीवोंके छूट जाते हैं और सर्व जीव मुक्त हो जाते हैं।

४. इस तरह अनादिकालीन कर्मशृङ्खला अनेक काल तक चलती ही रहती है, ऐसा देखा जाता है; परन्तु शृङ्खलाओंका ऐसा नियम नहीं है कि जो अनादिकालीन हो वह अनन्तकाल तक रहना ही चाहिए, क्योंकि शृङ्खला संयोगसे होती है और संयोगका किसी न किसी समय वियोग हो सकता है। यदि वह वियोग आंशिक हो तो वह शृङ्खला बाद

रहती है, किन्तु जब उसका आत्यंतिक वियोग हो जाता है तब शृङ्खलाका प्रवाह टूट जाता है। जैसे शृङ्खला बलवान कारणोंके द्वारा टूटती है उसीप्रकार कर्मशृङ्खला अर्थात् संसार-शृङ्खला (संसाररूपी जंजीर) भी जीवके सम्यग्दर्शनादि सत्य पुरुषार्थके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जाती है। विकारी शृङ्खलामें अर्थात् मलिन पर्यायमें अनन्तताका नियम नहीं है, इसीलिये जीव विकारी पर्यायका अभाव कर सकता है। और विकारका अभाव करनेपर कर्मका सम्बन्ध भी छूट जाता है और उसका कर्मत्व नष्ट होकर अन्यरूपसे परिणमन हो जाता है।

५. अब आत्माके बन्धनकी सिद्धि करते हैं —

कोई जीव कहते हैं कि आत्माके बन्धन होता ही नहीं। उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बिना बन्धनके परतन्त्रता नहीं होती। जैसे गाय, भैंस आदि पशु जब बन्धनमें नहीं होते तब परतन्त्र नहीं होते; परतन्त्रता बन्धनकी दशा बतलाती है, इसलिये आत्माके बन्धन मानना योग्य है। आत्माके यथार्थ बन्धन अपने-निज विकारीभावका ही है, उसका निमित्त पाकर स्वतः जड़कर्मका बन्धन होता है और उसके फलस्वरूप शरीरका संयोग होता है। शरीरके संयोगमें आत्मा रहती है, वह परतंत्रता बतलाती है। यह ध्यान रहे कि कर्म, शरीर इत्यादि कोई भी परद्रव्य आत्माको परतंत्र नहीं करते; किन्तु जीव स्वयं अज्ञानतासे स्वको परतन्त्र मानता है और पर-वस्तुसे निजको लाभ या नुकसान होता है—ऐसी विपरीत पकड़ करके परमें इष्ट-अनिष्टत्वकी कल्पना करता है। पराधीनता दुःखका कारण है। जीवको शरीरके ममत्वसे-शरीरके साथ एकत्वबुद्धिसे दुःख होता है। इसलिये जो जीव शरीरादि परद्रव्यसे अपनेको लाभ-नुकसान मानते हैं वे परतन्त्र ही रहते हैं। कर्म या परवस्तु जीवको परतन्त्र नहीं करती, किन्तु जीव स्वयं परतन्त्र होता है। इस तरह जहाँ तक अपनेमें अपराध, अशुद्धभाव किंचित् भी हो वहां तक कर्म-नोकर्मका सम्बन्धरूप बन्ध है।

६. मुक्त होनेके बाद फिर बंध या जन्म नहीं होता

जीवके मिथ्यादर्शनादि विकारी भावोंका अभाव होनेसे कर्मका कारण-कार्य सम्बन्ध भी टूट जाता है। जानना-देखना यह किसी कर्मबन्धका कारण नहीं किन्तु परवस्तुओंमें तथा राग-द्वेषमें आत्मीयताकी भावना बंधका कारण होती है। मिथ्याभावनाके कारण जीवके ज्ञान तथा दर्शन (श्रद्धान) को मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस मिथ्यात्व आदि विकारभावके छूट जानेसे विश्वकी चराचर वस्तुओंका जानना-देखना होता है; क्योंकि ज्ञान-दर्शन तो जीवका स्वाभाविक असाधारण धर्म है। वस्तुके स्वाभाविक असाधारण धर्मका कभी नाश नहीं होता; यदि उसका नाश हो तो वस्तुका भी नाश हो जाय। इसलिए मिथ्यावासनाके अभावमें भी जानना-देखना तो होता है; किन्तु अमर्यादित

उत्तर:—पदार्थमें स्थानांतर होनेका कारण स्थान नहीं है परन्तु स्थानांतरका कारण तो उसकी क्रियावती शक्ति है। जैसे नावमें जब पानी आकर भरता है तब वह डगमग होती है और नीचे डूब जाती है, उसी प्रकार आत्मामें भी जब कर्मास्रव होता रहता है तब वह संसारमें डूबता है और स्थान बदलता रहता है, किन्तु मुक्त अवस्थामें तो जीव कर्मास्रवसे रहित हो जाता है, इसलिये ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण लोकाग्रमें स्थित होनेके बाद फिर स्थानांतर होनेका कोई कारण नहीं रहता।

यदि स्थानांतरका कारण स्थानको मानें तो कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थानवाला न हो; क्योंकि जितने पदार्थ हैं वे सब किसी न किसी स्थानमें रहे हुए हैं और इसीलिये उन सभी पदार्थोंका स्थानांतर होना चाहिये। परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल आदि द्रव्य स्थानांतर रहित देखे जाते हैं, अतः वह हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि संसारी जीवके अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनकी उस समयकी योग्यता उस क्षेत्रांतरका मूल कारण है और धर्मका उदय तो मात्र निमित्तकारण है। मुक्तात्मा कर्मास्रवसे सर्वथा रहित हैं, अतः वे स्वस्थानसे विचलित नहीं होते। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८७) पुनश्च, तत्त्वार्थसार अध्याय ८ की १२ वीं गाथामें बतलाया है कि गुरुत्वके अभावको लेकर मुक्तात्माका नीचे पतन नहीं होता।

९—जीवकी मुक्त दशा मनुष्य-पर्यायसे ही होती है और मनुष्य ढाई द्वीपमें ही होता है, इसीलिये मुक्त होनेवाले जीव (मोड़ बिना) सीधे ऊर्ध्वगतिसे लोकांतमें जाते हैं। उसमें उन्हें एक ही समय लगता है।

१०. अधिक जीव थोड़े क्षेत्रमें रहते हैं

प्रश्न:—सिद्धक्षेत्रके प्रदेश तो असंख्यात हैं और मुक्त जीव अनन्त हैं तो असंख्यात प्रदेशमें अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं?

उत्तर:—सिद्ध जीवोंके शरीर नहीं है और जीव सूक्ष्म (अरूपी) है, इसीलिये एक स्थान पर अनन्त जीव एक साथ रह सकते हैं। जैसे एक ही स्थानमें अनेक दीपोंका प्रकाश रह सकता है उसी तरह अनन्त सिद्ध जीव एक साथ रह सकते हैं। प्रकाश तो पुद्गल है; पुद्गल द्रव्य भी इस तरह रह सकता है तो फिर अनन्त शुद्ध जीवोंके एक क्षेत्रमें साथ रहनेमें कोई बाधा नहीं।

११. सिद्ध जीवोंके आकार है?

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीव अरूपी है इसलिये उसके आकार नहीं होता, यह

मान्यता मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थमें प्रदेशत्व नामका गुण है, इसीलिये वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है उसका अपना आकार होता है। जीव अरूपी-अमूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तुके भी अमूर्तिक आकार होता है। जीव जिस शरीरको छोड़कर मुक्त होता है उस शरीरके आकारसे कुछ न्यून आकार मुक्त दशामें भी जीवके होता है।

प्रश्नः—यदि आत्माके आकार हो तो उसे निराकार क्यों कहते हैं ?

उत्तरः—आकार दो तरहका होता है—एक तो लम्बाई चौड़ाई मोटाईरूप आकार और दूसरा मूर्तिकरूप आकार। मूर्तिकतारूप आकार एक पुद्गल द्रव्यमें ही होता है अन्य किसी द्रव्यमें नहीं होता। इसीलिये जब आकारका अर्थ मूर्तिकता किया जावे तब पुद्गलके अतिरिक्त सर्व द्रव्योंको निराकार कहते हैं। इस तरह जीवमें पुद्गलका मूर्तिक आकार न होनेकी अपेक्षासे जीवको निराकार कहा जाता है। परन्तु स्वक्षेत्रकी लम्बाई चौड़ाई मोटाईकी अपेक्षासे समस्त द्रव्य आकारवान हैं। जब इस सद्भावसे आकारका सम्बन्ध माना जाय तो आकारका अर्थ लम्बाई चौड़ाई मोटाई ही होता है। आत्माके स्वका आकार है, इसीलिये वह साकार है।

संसारदशामें जीवकी योग्यता के कारण उसके आकारकी पर्यायें संकोच-विस्ताररूप होती थीं। अब पूर्ण शुद्ध होने पर संकोच-विस्तार नहीं होता। सिद्धदशा होने पर जीवके स्वभावव्यंजनपर्याय प्रगट होती है और उसी तरह अनन्तकाल तक रहा करती है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९८ से ४०६)

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाका दसवें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट–१

इस मोक्षशास्त्रके आधारसे श्री अमृतचन्द्रसूरिने 'श्री तत्त्वार्थसार' शास्त्र बनाया है। उसके उपसंहारमें उस ग्रन्थका सारांश २३ गाथाओं द्वारा दिया है, वह इस शास्त्रमें भी लागू होता है, अतः यहाँ दिया जाता हैः—

ग्रन्थका सारांश

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः ।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अर्थः—जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप क्रमसे कहा गया है उसे प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगोंके द्वारा जानकर मोक्षमार्गका यथार्थरूपसे आश्रय करना चाहिये।

प्रश्नः—इस शास्त्रके पहले सूत्रका अर्थ निश्चयनय, व्यवहारनय और प्रमाण द्वारा क्या होगा?

उत्तरः—'जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है'—इस कथनमें अभेदस्वरूप निश्चयनयकी विवक्षा है, अतः यह निश्चयनयका कथन जानना; मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेदसे कहना, इसमें भेदस्वरूप व्यवहारनयकी विवक्षा है, अतः यह व्यवहारनयका कथन जानना; और इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना सो प्रमाण है। मोक्षमार्ग पर्याय है इसीलिये आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी अपेक्षासे वह सद्भूतव्यवहार है।

प्रश्नः—निश्चयनयका क्या अर्थ है?

उत्तरः—'सत्यार्थ इसी प्रकार है' ऐसा जानना सो निश्चयनय है।

प्रश्नः—व्यवहारनयका क्या अर्थ है?

उत्तरः—ऐसा जानना कि 'सत्यार्थ इस प्रकार नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है' सो व्यवहारनय है। अथवा पर्यायभेदका कथन भी व्यवहारनयसे कथन है।

मोक्षमार्गका दो तरहसे कथन

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ २ ॥

अर्थः—निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो तरहसे मोक्षमार्गका कथन

व्यवहारमोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

अर्थ—आत्मामें जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्‌चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रगट हो रहे हैं उस सम्यक्‌दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहारमार्ग समझना चाहिये ।

नोटः—निश्चय और व्यवहार मुक्तिमार्गका कथन दूसरे प्रकारसे आगेके सूत्र २१ में भी बतलाया है, अतः वह भी पढ़ना ।

व्यवहारी मुनिका स्वरूप

श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥५॥

अर्थ—जो परद्रव्यकी (सात तत्त्वोंकी, भेदरूपसे) श्रद्धा करता है, उसी तरह भेदरूपसे जानता है और उसी तरह भेदरूपसे उपेक्षा करता है उस मुनिको व्यवहारी मुनि कहते हैं ।

निश्चयी मुनिका स्वरूप

स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥६॥

अर्थ—जो स्व द्रव्यको ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते हैं और जिनके आत्माकी प्रवृत्ति उपेक्षारूप ही हो जाती है ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चयरत्नत्रययुक्त हैं ।

निश्चयीके अभेदका समर्थन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शन चारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

अर्थ—जो जानता है सो आत्मा है; ज्ञान जानता है इसीलिये ज्ञान ही आत्मा है । इसी तरह जो सम्यक् श्रद्धा करता है सो आत्मा है; श्रद्धा करनेवाला सम्यग्दर्शन है अतएव वही आत्मा है । जो उपेक्षित होता है सो आत्मा है । उपेक्षा गुण उपेक्षित होता है अतएव वही आत्मा है अथवा आत्मा ही वह है । यह अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, ऐसी अभेदरूप स्वस्थदशा उनके ही हो सकती है कि जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयाधीन नहीं रहता ।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रय बताया है; उस रत्नत्रयको मोक्षका

कारण मानकर जहाँ तक उसके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है वहां तक साधु उस रत्नत्रयको विषयरूप (ध्येयरूप) मानकर उसका चिंतवन करता है; वह विचार करता है कि रत्नत्रय इसप्रकारके होते हैं। जहां तक ऐसी दशा रहती है वहां तक स्वकीय विचार द्वारा रत्नत्रय भेदरूप ही जाना जाता है, इसीलिये साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं; यह व्यवहारकी दशा है। ऐसी दशामें निर्विकल्प अभेदरूप रत्नत्रय कभी हो नहीं सकता। परन्तु जहां तक ऐसी दशा भी न हो अथवा ऐसे रत्नत्रयका स्वरूप समझ न ले वहाँ तक उसे निश्चयदशा कैसे प्राप्त हो सकती है ? यह ध्यान रहे कि व्यवहार करते करते निश्चयदशा प्रगट ही नहीं होती।

यह भी ध्यान रहे कि व्यवहार दशाके समय राग है इसलिये वह दूर करने योग्य है, वह लाभदायक नहीं है। स्वाश्रित एकतारूप निश्चयदशा ही लाभदायक है, ऐसा यदि पहलेसे ही लक्ष हो तभी उसके व्यवहारदशा होती है। यदि पहलेसे ही ऐसी मान्यता न हो और उस रागदशाको ही धर्म या धर्मका कारण माने तो उसे कभी धर्म नहीं होता और उसके वह व्यवहारदशा भी नहीं कहलाती; वास्तवमें वह व्यवहाराभास है—ऐसा समझना। इसलिये रागरूप व्यवहारदशाको टालकर निश्चयदशा प्रगट करनेका लक्ष्य पहलेसे ही होना चाहिये।

ऐसी दशा हो जानेपर जब साधु स्वसन्मुखताके बलसे स्वरूपकी तरफ झुकता है तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय–सम्यक्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय हो जाता है। इसीलिये वह स्वसे अभेदरूप रत्नत्रयकी दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होनेके कारण निश्चय-रत्नत्रयरूप कही जाती है।

इस अभेद और भेदका तात्पर्य समझ जानेपर यह बात माननी पड़ेगी कि जो व्यवहाररत्नत्रय है वह यथार्थ रत्नत्रय नहीं है। इसीलिये उसे हेय कहा जाता है। यदि साधु उसीमें लगा रहे तो उसका तो व्यवहारमार्ग–मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। यों कहना चाहिये कि उन साधुओंने उसे हेयरूप न जानकर उपादेयरूप समझ रखा है। जो जिसे उपादेयरूप जानता और मानता है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता; इसीलिये उस साधुका व्यवहारमार्ग–मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप संसारका कारण है।

पुनश्च, उसीप्रकार जो व्यवहारको हेय समझकर अशुभभावमें रहता है और निश्चयका अवलम्बन नहीं करता वह उभयभ्रष्ट (शुद्ध और शुभ दोनोंसे भ्रष्ट) है। निश्चयनयका अवलम्बन प्रगट नहीं हुआ और जो व्यवहारको तो हेय मानकर अशुभमें रहा करते हैं वे निश्चयके लक्ष्यसे शुभमें भी नहीं जाते, तो फिर वे निश्चय तक नहीं पहुँच सकेंगे—यह निर्विवाद है।

इस श्लोकमें अभेद रत्नत्रयका स्वरूप कृदन्त शब्दों द्वारा शब्दोंका अभेदत्व बताकर कर्तृभावसाधन सिद्ध किया। अब आगेके श्लोकोंमें क्रियापदों द्वारा कर्ताकर्मभाव आदिमें सर्व विभक्तियोंके रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

निश्चयरत्नत्रयकी कर्ताके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥८॥

अर्थ—जो निज स्वरूपको देखता है, निजस्वरूपको जानता है और निजस्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है, अतएव दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनोंरूप आत्मा ही है।

कर्मरूपके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥९॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपको देखा जाता है, जाना जाता है और धारण किया जाता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

करणरूपके साथ अभेदता

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१०॥

अर्थ— जो निजस्वरूप द्वारा देखा जाता है, निजस्वभाव द्वारा जाना जाता है, और निजस्वरूप द्वारा स्थिरता होती है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है किंतु तन्मय आत्मा ही है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

सम्प्रदानरूपके साथ अभेदता

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥११॥

अर्थ— जो स्वरूपकी प्राप्तिके लिये देखता है, जानता है तथा प्रवृत्ति करता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र नामवाला रत्नत्रय है; वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है परन्तु तन्मय आत्मा ही है अर्थात् आत्मा रत्नत्रयसे भिन्न नहीं किन्तु तन्मय ही है।

अपादानस्वरूपके साथ अभेदता

यस्मात् पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१२॥

अर्थ—जो निश्चयरूपसे देखता है, जानता है तथा जो निजस्वरूपसे वर्तता-रहता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है, वह दूसरा कोई नहीं किन्तु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

सम्बन्धस्वरूपके साथ अभेदता

यस्य पश्यति जानाति स्वस्वरूपस्य चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१३॥

अर्थ—जो निजस्वरूपके संबंधको देखता है, निजस्वरूपके संबंधको जानता है तथा निजस्वरूपके संबंधकी प्रवृत्ति करता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं, किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

आधारस्वरूपके साथ अभेदता

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१४॥

अर्थ—जो निजस्वरूपमें देखता है, जानता है तथा निजस्वरूपमें स्थिर होता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

क्रियास्वरूपकी अभेदता

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१५॥

अर्थ—जो देखनेरूप, जाननेरूप तथा चारित्ररूप क्रियाएँ हैं वह दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु ये क्रियाएं आत्मासे कोई भिन्न पदार्थ नहीं, तन्मय आत्मा ही है।

गुणस्वरूपकी अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१६॥

अर्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंका आश्रय है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

रत्नत्रय है। आत्मासे भिन्न दर्शनादि गुण कोई पदार्थ नहीं परन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेदत्व

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय पर्यायोंका आश्रय है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। आत्मा ही तन्मय होकर रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

प्रदेशस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ १८ ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रके जो प्रदेश बताये गये हैं वे आत्माके प्रदेशोंसे कहीं अलग नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्माका ही वह प्रदेश है। अथवा दर्शन-प्रदेशरूप ही आत्मा है और वही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्माके प्रदेश और रत्नत्रयके प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार परस्पर दर्शनादि तीनोंके प्रदेश भी भिन्न नहीं हैं, अतएव आत्मा और रत्नत्रय भिन्न नहीं किन्तु आत्मा तन्मय ही है।

अगुरुलघुस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते ॥ १९ ॥

अर्थ—अगुरुलघु नामक गुण है, अतः वस्तुमें जितने गुण हैं वे सीमासे अधिक अपनी हानि-वृद्धि नहीं करते; यही सभी द्रव्योंमें अगुरुलघु गुणका प्रयोजन है। इस गुणके निमित्तसे समस्त गुणोंमें जो सीमाका उल्लंघन नहीं होता उसे भी अगुरुलघु कहते हैं; इसलिये यहां अगुरुलघुको दर्शनादिकका विशेषण कहना चाहिये।

अर्थात्—अगुरुलघुत्व प्राप्त होनेवाले जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वे आत्मासे पृथक् नहीं हैं और परस्परमें भी वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो रत्नत्रय है,

उसका वह (अगुरुलघु) स्वरूप है और वह तन्मय ही है इस तरह अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है. किन्तु आत्मा उससे पृथक् पदार्थ नहीं। क्योंकि आत्माका अगुरुलघु स्वभाव है और आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है इसीलिये वह सर्व आत्मा अभिन्न हैं।

उत्पाद व्यय-ध्रौव्यस्वरूपकी अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्रध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ये ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ २० ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है वह सब आत्माका ही है; क्योंकि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है वह आत्मासे अलग नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मामय ही हैं इसीलिये रत्नत्रयके जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आत्माके ही हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी परस्परमें अभिन्न ही हैं।

इस तरह यदि रत्नत्रयके जितने विशेषण हैं वे सब आत्माके ही हैं और आत्मासे अभिन्न हैं तो रत्नत्रयको भी आत्मस्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माका दर्शन-चारित्र है वह निश्चयरत्नत्रय है, इसके समुदायको (एकताको) निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं, यही मोक्षमार्ग है।

निश्चय व्यवहार माननेका प्रयोजन

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ।
एको ज्ञाता सर्वदेवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ २१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप पृथक् पृथक् पर्यायों द्वारा जीवको जानना सो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है और इन सब पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है, पर्याय तथा जीवके कोई भेद नहीं है—इस प्रकार रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न जानना सो द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

अर्थात्—रत्नत्रयसे जीव अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा जानना सो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयका स्वरूप है; परन्तु रत्नत्रयमें भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहारमोक्षमार्ग है और अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चयमोक्षमार्ग है। अतएव उपरोक्त श्लोकका तात्पर्य यह है कि—

आत्माको प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय द्वारा जानकर पर्यायपरसे लक्ष्य

हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्यस्वभाव-जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी ओर झुकनेसे शुद्धता और निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है।

नोटः—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयसे जो मुक्तिमार्गका स्वरूप बतलाया है, ऐसा स्वरूप श्री प्रवचनसारकी गाथा २४२ तथा उसकी टीकामें भी बतलाया है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थका प्रयोजन

(वसंततिलका)

तत्त्वार्थसारमिति यः समधिर्विदित्वा,
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह-
श्चैतन्यरूपममलं शिवतत्त्वमेति ॥ २२ ॥

अर्थः—बुद्धिमान और संसारसे उपेक्षित हुए जो जीव इस ग्रन्थको अथवा तत्त्वार्थके सारको ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझकर निश्चलतापूर्वक मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा वह जीव मोहका नाश कर संसार-बन्धनको दूर करके निश्चयचैतन्यस्वरूपी मोक्षतत्त्वको (शिवतत्त्वको) प्राप्त कर सकता है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता पुद्गल हैं, आचार्य नहीं—

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥

अर्थः—वर्ण (अर्थात् अनादिसिद्ध अक्षरोंका समूह) इन पदोंके कर्त्ता हैं, पदावलि वाक्योंकी कर्त्ता है और वाक्योंने यह शास्त्र बनाया है। कोई यह न समझे कि यह शास्त्र मैंने (आचार्यने) बनाया है। (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ ४२१ से ४२८)

नोटः—(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता नहीं हो सकता—यह सिद्धांत सिद्ध करके यहाँ आचार्य भगवानने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जीव जड़ शास्त्रको नहीं बना सकता।

(२) श्री समयसारकी टीका, श्री प्रवचनसारकी टीका, श्री पंचास्तिकायकी टीका और श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय शास्त्रके कर्तृत्वके सम्बन्धमें भी आचार्य भगवान श्री अमृतचन्द्रजी सूरिने बतलाया है कि—इस शास्त्रका अथवा टीकाका कर्ता पुद्गल द्रव्य है, मैं (आचार्य) नहीं। यह बात तत्त्वजिज्ञासुओंको विशेष ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है, अतः आचार्य भगवानने तत्त्वार्थसार पूर्ण करनेपर भी यह स्पष्टरूपसे बतलाया है। इसलिये पहले भेद-

विज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता। यह निश्चय करने पर जीवका स्वकी ओर ही झुकाव रहता है। अब स्वकी ओर झुकानेमें दो पहलू हैं। उनमें एक त्रिकाली चैतन्यस्वभावभाव जो परमपारिणामिकभाव कहा जाता है—वह है, और दूसरा स्वकी वर्तमान पर्याय। पर्यायपर लक्ष करनेसे विकल्प (राग) दूर नहीं होता, इसलिये त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी तरफ झुकनेके लिये सर्व वीतरागी शास्त्रोंकी, और श्रीगुरुओंकी आज्ञा है। अतः उसकी तरफ झुकना और अपनी शुद्धदशा प्रगट करना यही जीवका कर्त्तव्य है। इसलिये तदनुसार ही सर्व जीवोंको पुरुषार्थ करना चाहिये। इस शुद्धदशाको ही मोक्ष कहते हैं। मोक्षका अर्थ निज–शुद्धताकी पूर्णता अथवा सर्व समाधान है। और वही अविनाशी और शाश्वत–सच्चा सुख है। जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने ज्ञानके अनुसार प्रवृत्ति भी करता है, किन्तु उसे मोक्षके सच्चे उपायकी खबर नहीं है, इसलिये दुःख (बन्धन) के उपायको सुखका (मोक्षका) उपाय मानता है। अतः विपरीत उपाय प्रति–समय किया करता है। इस विपरीत उपायसे पीछे हटकर सच्चे उपायकी ओर पात्र जीव झुकें और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करें यह इस शास्त्रका हेतु है।

परिशिष्ट–२

प्रत्येक द्रव्य और उसकी प्रत्येक पर्यायकी स्वतंत्रताकी घोषणा

१—प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी त्रिकाली पर्यायका पिंड है इसलिये वह तीनों कालकी पर्यायोंके योग्य है; और पर्याय प्रति–समयकी है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें उस–उस समयकी पर्यायके योग्य है और उस–उस समयकी पर्याय उस–उस समयमें होने योग्य है अत: होती है; किसी द्रव्यकी पर्याय आगे या पीछे होती ही नहीं।

२—मिट्टी द्रव्य (मिट्टीके परमाणु) अपने तीनों कालकी पर्यायोंके योग्य है तथापि यदि ऐसा माना जाय कि उसमें तीनों कालमें एक घड़ा होनेकी योग्यता है तो मिट्टी द्रव्य एक पर्याय जितना ही हो जायगा और उसके द्रव्यत्वका भी नाश हो जायगा।

३—जो यों कहा जाता है कि मिट्टी द्रव्य तीन कालमें घड़ा होनेके योग्य है सो परद्रव्यसे मिट्टीको भिन्न बतलाकर यह बतलाया जाता है कि मिट्टीके अतिरिक्त अन्य द्रव्य किसी कालमें मिट्टीका घड़ा होनेके योग्य नहीं है। परन्तु जिस समय मिट्टी द्रव्यका तथा उसकी पर्यायकी योग्यताका निर्णय करना हो तब यों मानना मिथ्या है कि 'मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है; क्योंकि ऐसा माननेसे, मिट्टी द्रव्यकी अन्य जो–जो पर्यायें होती हैं उन पर्यायोंके होनेके योग्य मिट्टी द्रव्यकी योग्यता नहीं है तथापि होती हैं—ऐसा मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असत् है। इसलिये मिट्टी मात्र घटरूप होने योग्य है–यह मानना मिथ्या है।

४—उपरोक्त कारणोंको लेकर यह मानना कि "मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है और जहाँ तक कुम्हार न आये वहाँ तक घड़ा नहीं होता"—यह मानना मिथ्या है; किन्तु मिट्टी द्रव्यकी पर्याय जिस समय घड़ेरूप होनेके योग्य है वह एक समयकी ही योग्यता है अत: उसी समय घड़ेरूप पर्याय होती है, आगे-पीछे नहीं होती, और उस समय कुम्हार आदि निमित्त स्वयं स्वत: होते ही हैं।

५—प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्यायका स्वामी है अत: उसकी पर्याय उस–उस समयकी योग्यताके अनुसार स्वयं स्वत: हुआ ही करती है; इस तरह प्रत्येक द्रव्यकी अपनी पर्याय प्रत्येक समय उस-उस द्रव्यके ही अधीन है; किसी दूसरे द्रव्यके आधीन वह पर्याय नहीं है।

६—जीव द्रव्य त्रिकाल पर्यायोंका पिंड है, [illegible] योग्य है और प्रगट पर्याय एक समयकी है [illegible] होने योग्य है।

७—यदि ऐसा न माना जावे तो एक पर्यायमात्र ही द्रव्य हो जायगा। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका स्वामी है अतः उसकी वर्तमानमें होनेवाली एक-एक [illegible] है वह उस द्रव्यके आधीन है।

८—जीवको पराधीन कहते हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि परद्रव्य उसे आधीन करता है अथवा परद्रव्य उसे अपना खिलौना बनाता है, किन्तु उस-उस समयकी पर्याय जीव स्वयं परद्रव्यकी पर्यायके आधीन होकर करता है। यह मान्यता मिथ्या है कि परद्रव्य या उसकी कोई पर्याय जीवको कभी भी आश्रय दे सकती है, उसे रमा सकती है, हैरान कर सकती है या सुखी-दुःखी कर सकती है।

९—प्रत्येक द्रव्य सत् है अतः वह द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे भी सत् है और इसीलिये वह हमेशा स्वतंत्र है। जीव पराधीन होता है वह भी स्वतंत्रतासे पराधीन होता है। कोई परद्रव्य या उसकी पर्याय उसे पराधीन या परतंत्र नहीं बनाते।

१०—इस तरह श्री वीतरागदेवने संपूर्ण स्वतंत्रताकी घोषणा की है।

परिशिष्ट–३

साधक जीवकी दृष्टिको मापनेकी रीति

अध्यात्म-शास्त्रोंमें ऐसा नहीं कहा कि "जो निश्चय है सो मुख्य है"। यदि निश्चयका ऐसा अर्थ करें कि जो निश्चयनय है सो मुख्य है, तो किसी समय निश्चयनय मुख्य हो और किसी समय व्यवहारनय मुख्य हो; अर्थात् किसी समय 'द्रव्य' मुख्य हो और किसी समय 'गुण-पर्यायके भेद' मुख्य हों, लेकिन द्रव्यके साथ अभेद हुई पर्यायको भी निश्चय कहा जाता है। इसलिये निश्चय सो मुख्य न मानकर मुख्य सो निश्चय मानना चाहिये। और आगम-शास्त्रोंमें किसी समय व्यवहारनयको मुख्य और निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है। अध्यात्म-शास्त्रोंमें तो हमेशा 'जो मुख्य है सो निश्चयनय' है और उसीके आश्रयसे धर्म होता है—ऐसा समझाया जाता है और उसमें सदा निश्चयनय मुख्य ही रहता है। पुरुषार्थके द्वारा स्वमें शुद्ध पर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय दूर करनेके लिये हमेशा निश्चयनय ही आदरणीय है। उस समय दोनों नयोंका ज्ञान होता है किन्तु धर्म प्रगट करनेके लिये दोनों नय कभी आदरणीय नहीं। व्यवहारनयके आश्रयसे कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता, परन्तु उसके आश्रयसे तो राग-द्वेषके विकल्प ही उठते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये किसी समय निश्चयनयकी मुख्यता और व्यवहारनय की गौणता रखकर कथन किया जाता है और किसी समय व्यवहारनयको मुख्य करके तथा निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है; स्वयं विचार करनेमें भी किसी समय निश्चयनयकी मुख्यता और किसी समय व्यवहार-नयकी मुख्यता की जाती है। अध्यात्म-शास्त्रमें भी जीव विकारी पर्याय स्वयं करता है इसलिये होती है और वह जीवके अनन्य परिणाम हैं—ऐसा व्यवहार द्वारा कहा और समझाया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक समयमें निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है ऐसा ज्ञानियोंका कथन है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और किसी समय व्यवहारनय आदरणीय है सो भूल है। तीनों काल अकेले निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है —ऐसा समझना।

प्रश्नः-क्या साधक जीवके नय होते ही नहीं ?

उत्तरः-साधक दशामें ही नय होते हैं। क्योंकि केवलीके तो प्रमाण है अतः उनके नय नहीं होते। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि व्यवहारनयके आश्रयसे धर्म होता है इसलिये उनको तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया, इसलिये अज्ञानीके सच्चे नय नहीं होते। इस तरह साधक जीवके ही उनके श्रुतज्ञानमें नय होते हैं। निर्विकल्पदशासे अतिरिक्त कालमें जब उनके नयरूपसे श्रुतज्ञानका भेदरूप उपयोग होता है तब, और संसारके शुभाशुभभावोंमें हों या स्वाध्याय, व्रत, नियमादि कार्योंमें हों तब जो विकल्प उठते हैं वह सब व्यवहारनयके विषय हैं, परन्तु उस समय भी उनके ज्ञानमें एक निश्चयनय ही आदरणीय (अतः उस समय व्यवहारनय है तथापि वह आदरणीय नहीं होनेसे) उनकी शुद्धता बढ़ती है। इस तरह सविकल्पदशामें भी निश्चयनय आदरणीय है और जब व्यवहारनय उपयोगरूप हो तब भी ज्ञानमें उसी समय हेयरूपसे है; इस तरह निश्चय और व्यवहारनय-ये दोनों साधक जीवोंके एक ही समयमें होते हैं।

इसलिये यह मन्यता ठीक नहीं है कि साधक जीवोंके नय होते ही नहीं, किन्तु साधक जीवोंके ही निश्चय और व्यवहार दोनों नय एक ही साथ होते हैं। निश्चयनयके आश्रयके बिना सच्चा व्यवहारनय होता ही नहीं। जिसके अभिप्रायमें व्यवहारनयका आश्रय हो उसके तो निश्चयनय रहा ही नहीं, क्योंकि उसके तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया।

चारों अनुयोगोंमें किसी समय व्यवहारनयकी मुख्यता से कथन किया जाता है और किसी समय निश्चयनयको मुख्य करके कथन किया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक अनुयोगमें कथनका सार एक ही है और वह यह है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों जानने योग्य हैं, किन्तु शुद्धताके लिये आश्रय करने योग्य एक निश्चयनय ही है और व्यवहारनय कभी भी आश्रय करने योग्य नहीं है—वह हमेशा हेय ही है—ऐसा समझना।

व्यवहारनयके ज्ञानका फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चयनयका आश्रय करना है। यदि व्यवहारनयको उपादेय माना जाय तो वह व्यवहारनयके सच्चे ज्ञानका फल नहीं है। किन्तु व्यवहारनयके अज्ञानका अर्थात् मिथ्याज्ञानका फल है।

निश्चयनयका आश्रय करनेका अर्थ यह है कि निश्चयनयके विषयभूत आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वरूपका आश्रय करना और व्यवहारनयका आश्रय छोड़ना-उसे हेय समझना। इसका यह अर्थ है कि व्यवहारनयके विषयरूप विकल्प, परद्रव्य या स्वद्रव्यकी अपूर्ण अवस्थाकी ओरका आश्रय छोड़ना।

अध्यात्मका रहस्य

अध्यात्ममें जो मुख्य है सो निश्चय और जो गौण है सो व्यवहार; यह माप है, अतः इसमें मुख्यता सदा निश्चयनयकी ही है और व्यवहार सदा गौणरूपसे ही है। साधक जीवका यह माप है। साधक जीवकी दृष्टिको मापनेकी हमेशा यही रीति है।

साधक जीव प्रारम्भसे अन्ततक निश्चयनयकी मुख्यता रखकर व्यवहारको गौण ही करता जाता है; इसलिये साधकको साधकदशामें निश्चयकी मुख्यताके बलसे शुद्धताकी वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता हटती ही जाती है। इस तरह निश्चयकी मुख्यताके बलसे ही पूर्ण केवलज्ञान होता है फिर वहां मुख्यता-गौणता नहीं होती और नय भी नहीं होते।

वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके!

वस्तुमें द्रव्य और पर्याय, नित्यत्व और अनित्यत्व इत्यादि जो विरुद्ध धर्मस्वभाव दूर नहीं होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं उनमें एकके आश्रयसे विकल्प टूटता है और दूसरेके आश्रयसे राग होता है। अर्थात् द्रव्यके आश्रयसे विकल्प टूटता है और पर्यायके आश्रयसे राग होता है, इससे इन दो नयोंमें विरोध है। अब, द्रव्यस्वभावकी मुख्यता और अवस्थाकी-पर्यायकी गौणता करके जब साधक जीव द्रव्यस्वभावकी तरफ झुक गया तब विकल्प दूर होकर स्वभावमें अभेद होनेपर ज्ञान प्रमाण हो गया। अब यदि वह ज्ञान पर्यायको जाने तो भी वहां मुख्यता तो सदा द्रव्यस्वभावकी ही रहती है। इसतरह जो निज-द्रव्यस्वभावकी मुख्यता करके स्व-सन्मुख होने पर ज्ञान प्रमाण हुआ वही द्रव्य-स्वभावकी मुख्यता साधक दशाकी पूर्णता तक निरन्तर रहा करती है। और जहां द्रव्य-स्वभावकी ही मुख्यता है वहां सम्यग्दर्शन से पीछे हटना कभी होता ही नहीं; इसलिये साधक जीवके सतत द्रव्यस्वभावकी मुख्यताके बलसे शुद्धता बढ़ते-बढ़ते जब केवलज्ञान हो जाता है, तब वस्तुके परस्पर विरुद्ध दोनों धर्मोंको (द्रव्य और पर्यायको) एक साथ जानता है, किन्तु वहाँ अब एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता करके झुकना नहीं रहा। वहाँ सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान हो जाने पर दोनों नयोंका विरोध दूर हो गया (अर्थात् नय ही दूर हो गये) तथापि वस्तुमें जो विरुद्ध धर्मस्वभाव हैं वह तो दूर नहीं होते।

है, इस अपेक्षासे बारहवें गुणस्थान तक असत्य-मनयोगका सद्भाव होता है, तो इसमें भी कोई विरोध नहीं है कि उभयसंयोगज सत्यमृषा वचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है।

शंका:—वचनगुप्तिका पूर्णरीतिसे पालन करनेवाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे संभव होता है ?

समाधान:— कषायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्प होनेमें कोई विरोध नहीं है॥

(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८६) ॥ ४० ॥

शुक्लध्यानके पहले दो भेदोंकी विशेषता बतलाते हैं

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थ:–[**एकाश्रये**] एक (–परिपूर्ण) श्रुतज्ञानीके आश्रयसे रहनेवाले [**पूर्वे**] शुक्लध्यानके पहले दो भेद [**सवितर्कवीचारे**] वितर्क और वीचार सहित हैं, परन्तु–

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ:–[**द्वितीयम्**] ऊपर कहे गये शुक्लध्यानोंमेंसे दूसरा शुक्लध्यान [**अवीचारं**] वीचारसे रहित है, किन्तु सवितर्क होता है।

टीका

१—४२ वाँ सूत्र ४१ वें सूत्रका अपवादरूप है, अर्थात् शुक्लध्यानका दूसरा भेद वीचार रहित है। जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों वह पहला पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान है और जो वीचार रहित तथा वितर्क सहित मणिके दीपककी तरह अचल है सो दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है; इसमें अर्थ, वचन और योगका पलटना दूर हुआ होता है अर्थात् वह संक्रांति रहित है। वितर्ककी व्याख्या ४३ वें और वीचारकी व्याख्या ४४ वें सूत्रमें आवेगी।

२—जो ध्यान सूक्ष्म काययोगके अवलंबनसे होता है उसे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (तृतीय) शुक्लध्यान कहते हैं; और जिसमें आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंद और श्वासोच्छ्वासादि समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती हैं उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति (चौथा) शुक्लध्यान कहते हैं। ॥ ४१-४२ ॥

वितर्कका लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—[**श्रुतम्**] श्रुतज्ञानको [**वितर्कः**] वितर्क कहते हैं।

नोटः—'श्रुतज्ञान' शब्द-श्रवणपूर्वक ज्ञानका ग्रहण बतलाता है। मतिज्ञानके भेदरूप चिंताको भी तर्क कहते हैं, वह यहाँ ग्रहण नहीं करना ॥ ४३ ॥

वीचारका लक्षण

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थः-[अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः] अर्थ, व्यंजन और योगका बदलना सो [**वीचारः**] वीचार है।

टीका

अर्थसंक्रान्तिः— अर्थका तात्पर्य है ध्यान करने योग्य पदार्थ और संक्रान्तिका अर्थ बदलना है। ध्यान करने योग्य पदार्थमें द्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायका ध्यान करे अथवा पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करे सो अर्थसंक्रान्ति है।

व्यंजनसंक्रान्तिः—व्यंजनका अर्थ वचन और संक्रांतिका अर्थ बदलना है। श्रुतके किसी एक वचनको छोड़कर अन्यका अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलम्बन करना सो व्यंजनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्तिः—काययोगको छोड़कर मनोयोग या वचनयोगको ग्रहण करना और उसे छोड़कर अन्य योगको ग्रहण करना सो योगसंक्रान्ति है।

यह ध्यान रहे कि जिस जीवके शुक्लध्यान होता है वह जीव निर्विकल्प दशामें ही है, इसीलिये उसे इस संक्रान्तिकी खबर नहीं है; किन्तु उस दशामें ऐसी पलटना होती है अर्थात् संक्रान्ति होती है वह केवलज्ञानी जानता है।

ऊपर कही गई संक्रान्ति—परिवर्तनको वीचार कहते हैं। जहाँ तक यह वीचार रहता है वहाँ तक इस ध्यानको सवीचार (अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्क) कहते हैं। पश्चात् ध्यानमें दृढ़ता होती है तब वह परिवर्तन रुक जाता है, इस ध्यानको अवीचार (अर्थात् दूसरा एकत्ववितर्क कहते हैं।

प्रश्नः—क्या केवली भगवानके ध्यान होता है?

उत्तरः—'एकाग्रचिंतानिरोध' यह ध्यानका लक्षण है। एक-एक पदार्थका चिंतवन तो क्षायोपशमिक ज्ञानीके होता है और केवली भगवानके तो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहा कि जिसका वे ध्यान करें। केवली भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, अतएव उनके वास्तवमें ध्यान

नहीं है। तथापि आयु पूर्ण होने पर तथा अन्य तीन कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होने पर योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा स्वयमेव होती है और ध्यानका कार्य भी योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा होना है; इसीलिये केवली भगवानके ध्यानके सदृश कार्य देखकर—उपचारसे उनके शुक्लध्यान कहा जाता है, यथार्थमें उनके ध्यान नहीं है ("भगवान परम सुखको ध्याते हैं" ऐसा प्रवचनसार गाथा १९८में कहा है; वहाँ उनकी पूर्ण अनुभवदशा दिखाना है) ॥४४॥

यहाँ ध्यान तपका वर्णन पूर्ण हुआ।

इस नववें अध्यायके पहले अठारह सूत्रोंमें संवर और उसके कारणोंका वर्णन किया। उसके बाद निर्जरा और उसके कारणोंका वर्णन प्रारम्भ किया। वीतरागभावरूप तपसे निर्जरा होती है ('तपसा निर्जरा च' सूत्र-३) उसे भेद द्वारा समझानेके लिये तपके बारह भेद बतलाये, इसके बाद छह प्रकारके अन्तरंग तपके उपभेदोंका यहाँ तक वर्णन किया।

व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, बारह प्रकारके तप आदि सम्बन्धी खास ध्यानमें रखने योग्य स्पष्टीकरण

१—कितने ही जीव सिर्फ व्यवहारनयका अवलम्बन करते हैं, उनके परद्रव्यरूप भिन्न साधनसाध्यभावकी दृष्टि है, इसलिये वे व्यवहारमें ही खेद-खिन्न रहते हैं। वे निम्नलिखित अनुसार होते हैं—

श्रद्धाके सम्बन्धमें:—धर्मद्रव्यादि परद्रव्योंकी श्रद्धा करते हैं।

ज्ञानके सम्बन्धमें:—द्रव्यश्रुतके पठन-पाठनादि संस्कारोंसे अनेक प्रकारके विकल्प-जालसे कलंकित चैतन्यवृत्तिको धारण करते हैं।

चारित्रके सम्बन्धमें—यतिके समस्त व्रत समुदायरूप तपादि-प्रवृत्तिरूप कर्मकाण्डोंको अचलितरूपसे आचरते हैं, इसमें किसी समय पुण्यकी रुचि करते हैं, कभी दयावन्त होते हैं।

दर्शनाचारके सम्बन्धमें:—किसी समय प्रशमता, किसी समय वैराग्य, किसी समय अनुकम्पा-दया और किसी समय आस्तिक्यमें वर्तते हैं; तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि आदि भाव उत्पन्न न हों ऐसी शुभोपयोगरूप सावधानी रखते हैं; मात्र व्यवहार-नयरूप उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन अंगोंकी भावना विचारते हैं और इस सम्बन्धी उत्साह बार-बार बढ़ाते हैं।

ज्ञानाचारके सम्बन्धमें:—स्वाध्यायका काल विचारते हैं, अनेक प्रकारकी विनयमें प्रवृत्ति करते हैं, शास्त्रकी भक्तिके लिये दुर्धर उपधान करते हैं—आरम्भ करते हैं, शास्त्रका

भले प्रकारसे बहुमान करते हैं, गुरु आदिमें उपकार प्रवृत्तिको नहीं भूलते; अर्थ-व्यंजन और इन दोनोंकी शुद्धतामें सावधान रहते हैं।

चारित्राचारके सम्बन्धमें:—हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री-सेवन और परिग्रह इन सबसे विरतिरूप पंचमहाव्रतमें स्थिर वृत्ति धारण करते हैं; योग (मन-वचन-काय) के निग्रहरूप गुप्तियोंके अवलम्बनका उद्योग करते हैं; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियोंमें सर्वथा प्रयत्नवन्त रहते हैं।

तपाचारके सम्बन्धमें:—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेशमें निरन्तर उत्साह रखते हैं; प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, और ध्यानके लिये चित्तको वशमें करते हैं।

वीर्याचारके सम्बन्धमें:—कर्मकांडमें सर्वशक्तिपूर्वक वर्तते हैं।

ये जीव उपरोक्त प्रकारसे कर्मचेतनाकी प्रधानतापूर्वक अशुभभावकी प्रवृत्ति छोड़ते हैं, किन्तु शुभभावकी प्रवृत्तिको आदरने योग्य मानकर अंगीकार करते हैं, इसलिये सम्पूर्ण क्रियाकांडके आडम्बरसे अतिक्रांत दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतनाको वे किसी भी समय प्राप्त नहीं होते।

वे बहुत पुण्यके भारसे मंथर (-मन्द, सुस्त) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हैं, इसीलिये स्वर्गलोकादिके क्लेश प्राप्त करके परम्परासे दीर्घकाल तक संसार-सागरमें परिभ्रमण करते हैं।

(देखो, पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

वास्तवमें तो शुद्धभाव ही संवर--निर्जरारूप है। यदि शुभभाव यथार्थमें संवर-निर्जरा-का कारण हो तो केवल व्यवहारावलम्बीके समस्त प्रकारका निरतिचार व्यवहार है, इसलिये उसके शुद्धता प्रगट होनी चाहिये। परन्तु राग संवर--निर्जराका कारण ही नहीं है। अज्ञानी शुभभावको धर्म मानता है इस वजहसे तथा शुभ करते-करते धर्म होगा ऐसा माननेसे और शुभ-अशुभ दोनों दूर करने पर धर्म होगा ऐसा नहीं माननेसे उसका समस्त व्यवहार निरर्थक है, इसीलिये उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

भव्य तथा अभव्य जीवोंने ऐसा व्यवहार (जो वास्तवमें व्यवहाराभास है) अनन्तवार किया है और इसके फलसे अनन्तवार नववें ग्रैवेयक स्वर्ग तक गया है, किन्तु इससे धर्म नहीं हुआ। धर्म तो शुद्ध निश्चयस्वभावके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही होता है।

श्री समयसारमें कहा है कि—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करने पर भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है ।

टीकाः—यद्यपि अभव्य जीव शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे वर्तता हुआ अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र करता है तथापि वह निश्चारित्र (चारित्ररहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान-श्रद्धानसे शून्य है—रहित है ।

भावार्थः—अभव्य जीव यद्यपि महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्रका पालन करते हैं तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धाके बिना वह चारित्र सम्यक्-चारित्र नाम नहीं पाता; इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है ।

नोटः—यहाँ अभव्य जीवका उदाहरण दिया है, किन्तु यह सिद्धान्त व्यवहारके आश्रयसे हित माननेवाले समस्त जीवोंके एक सरीखा लागू होता है ।

३—जो शुद्धात्माका अनुभव है सो यथार्थ मोक्षमार्ग है । इसलिये उसके निश्चय कहा है । व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नहीं, किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहा है, इसलिये इसे व्यवहार कहते हैं । इसप्रकार यह जानना कि भूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा निश्चयनय और अभूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा व्यवहारनय कहा है । किन्तु इन दोनोंको ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्याबुद्धि ही है ।

(देखो, आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४९–२५०)

४—किसी भी जीवके निश्चय-व्यवहारका स्वरूप समझे बिना धर्म या संवर-निर्जरा नहीं होती । शुद्ध आत्माका यथार्थ स्वरूप समझे बिना निश्चय-व्यवहारका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता; इसलिये पहले आत्माका यथार्थ स्वरूप समझनेकी आवश्यकता है ।

अब पात्रकी अपेक्षासे निर्जरामें होनेवाली न्यूनाधिकता बतलाते हैं

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थः— [सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोह-

क्षपकक्षीणमोहजिनाः] सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत-मुनि, अनन्तानुवन्धीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणी मांडनेवाला, उपशांतमोह, क्षपकश्रेणी मांडनेवाला, क्षीणमोह और जिन—इन सबके (अंतर्मुहूर्तपर्यन्त परिणामोंकी विशुद्धताकी अधिकतासे आयुकर्मको छोड़कर) प्रति समय [क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जराः] क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

टीका

(१) यहाँ पहले सम्यग्दृष्टिकी—चौथे गुणस्थानकी दशा वतलायी है। जो असंख्यातगुणी निर्जरा कही है वह निर्जरा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले की एकदम समीप की (अत्यन्त निकटकी) आत्माकी दशामें होनेवाली निर्जरासे असंख्यात गुणी जानना। प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिके पहले तीन करण होते हैं, उनमें अनिवृत्तिकरणके अन्त समयमें वर्तनेवाली विशुद्धतासे विशुद्ध, जो सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है उसके आयुको छोड़कर सात कर्मोंकी जो निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करने पर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रतिसमय (निर्जरा) होती है अर्थात् सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टिकी निर्जरासे सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणी निर्जरामें असंख्यगुणा द्रव्य है। यह चौथे गुणस्थानवाले अविरत-सम्यग्दृष्टि की निर्जरा है।

(२) जव यह जीव पाँचवाँ गुणस्थान—श्रावकदशा प्रगट करता है तव अन्तर्मुहूर्तपर्यंत निर्जरा होने योग्य कर्मपुद्गलरूप गुणश्रेणी निर्जराद्रव्य चौथे गुणस्थानसे असंख्यातगुणा है।

(३) पाँचवेंसे जव सकलसंयमरूप अप्रमत्तसंयत (-सातवाँ) गुणस्थान प्रगट करे तव पंचमगुणस्थानसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। पाँचवेंके वाद पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठने पर छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान होता है। सूत्रमें 'विरत' शब्द कहा है, इसमें सातवें और छट्ठे दोनों गुणस्थानवाले जीवोंका समावेश होता है।

(४) तीन करणके प्रभावसे चार अनन्तानुवन्धी कपायको, वारह कपाय तथा नव नोकपायरूप परिणमा दे, उन जीवोंके अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रतिसमय असंख्यातगुणी द्रव्य-निर्जरा होती है। अनन्तानुवन्धीका यह विसंयोजन चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें, इन चार गुणस्थानोंमें होता है।

(५) अनन्तवियोजकसे असंख्यातगुणी निर्जरा दर्शनमोहके क्षपकके (उस जीवके) होती है। पहले अनन्तानुवन्धीका विसंयोजन करनेके वाद दर्शनमोहके त्रिकका क्षय करे ऐसा क्रम है।

उत्तरः—पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवशसे या जबरदस्तीसे व्रतोंमें क्षणिक दोष हो जाता है किन्तु यथाजातरूप है, इसीलिये नैगमनयसे वह निर्ग्रंथ है। श्रावकके यथाजातरूप (नग्नता) नहीं है, इसीलिये उसके निर्ग्रन्थत्व नहीं कहलाता। [उद्देशिक और अधःकर्मके आहार-जलको जानते हुए भी लेते हैं उसकी गणना पुलाकादि किसी भेदमें नहीं है।]

(२) प्रश्न—पुलाक मुनिको यदि यथाजात रूपको लेकर ही निग्रंथ कहोगे तो अनेक मिथ्यादृष्टि भी नग्न रहते हैं, उनको भी निग्रंथ कहनेका प्रसंग आवेगा।

उत्तरः—उनके सम्यग्दर्शन नहीं है। मात्र नग्नत्व तो पागलके, बालकके तथा तिर्यंचोंके भी होता है, परन्तु इसीलिये उन्हें निग्रंथ नहीं कहते। किन्तु जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-पूर्वक संसार और देह, भोगसे विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है, चारित्र-मोहकी तीन जातिके कषायका अभाव किये है उसे निग्रंथ कहा जाता है, दूसरेको नहीं ॥४६॥

पुलाकादि मुनियोंमें विशेपता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थः—उपरोक्त मुनि [**संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः**] संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [**साध्याः**] भेदरूपसे साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकारसे इन पुलाकादि मुनियोंमें विशेष भेद होते हैं।

टीका

(१) संयमः—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील साधुके सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो संयम होते हैं। कषाय कुशील साधुके सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय, ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातकके यथाख्यातचारित्र होता है।

(२) श्रुतः—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादासे ज्यादा सम्पूर्ण दस पूर्वधारी होते हैं। पुलाकके जघन्य आचारांगमें आचार वस्तुका ज्ञान होता है और वकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलके जघन्य अष्टप्रवचन माताका ज्ञान होता है अर्थात् आचारांगके १८००० पदोंमेंसे पांच समिति और तीन गुप्तिका परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओंका ज्ञान होता है; कषाय कुशील और निग्रंथके उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्वका होता है और जघन्य-ज्ञान आठ प्रवचन माताका होता है। स्नातक तो केवलज्ञानी हैं, इसलिये वे श्रुतज्ञानसे दूर

हैं। [अष्ट प्रवचन माता=तीन गुप्ति, पाँच समिति]

(३) प्रतिसेवनाः-(—विराधना) पुलाकमुनिके परवशसे या जबर्दस्तीसे पांच महाव्रत और रात्रिभोजनका त्याग इन छहमेंसे किसी एकको विराधना हो जाती है। महाव्रतोंमें तथा रात्रिभोजन-त्यागमें कृत, कारित, अनुमोदनासे पाँचों पापोंका त्याग है, उनमेंसे किसी प्रकारमें सामर्थ्यकी हीनतासे दूषण लगता है। उपकरण—वकुश मुनिके कमंडल पीछी, पुस्तकादि उपकरणकी शोभाकी अभिलाषाके संस्कारका सेवन होता है, सो विराधना जानना। तथा वकुशमुनिके शरीरके संस्काररूप विराधना होती है; प्रतिसेवनाकुशील मुनि पाँच महाव्रतकी विराधना नहीं करता किन्तु उत्तरगुणमें किसी एककी विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकके विराधना नहीं होती।

(४) तीर्थः—ये पुलाकादि पाँचों प्रकारके निर्ग्रंथ समस्त तीर्थङ्करोंके धर्मशासनमें होते हैं।

(५) लिंगः—इसके दो भेद हैं १—द्रव्यलिंग और २-भावलिंग। पांचों प्रकारके निर्ग्रंथ भावलिंगी होते हैं। वे सम्यग्दर्शन सहित संयम पालनेमें सावधान हैं। भावलिंगका द्रव्यलिंगके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथाजातरूप लिंगमें किसीके भेद नहीं है किन्तु प्रवृत्तिरूप लिंगमें अन्तर होता है; जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थमें विहार करता है, कोई अनेक आसनरूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेता है, कोई दूषण नहीं लगाता; कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यानमें श्रेणीका प्रारम्भ करता है; इत्यादि राग (—विकल्प) रूप द्रव्यलिंगमें मुनिगणोंके भेद होता है। मुनिके शुभभावको द्रव्यलिंग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं; इन प्रकारोंको द्रव्यलिंग कहा जाता है।

(६) लेश्याः—पुलाक मुनिके तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। वकुश तथा प्रतिसेवना-कुशील मुनिके छहों लेश्या भी होती हैं। कषायसे अनुरंजित योग-परिणति को लेश्या कहते हैं।

प्रश्नः—वकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें किस तरह होती हैं?

उत्तरः—उन दोनों प्रकारके मुनिके उपकरणकी कुछ आसक्तिके कारण किसी समय आर्तध्यान भी हो जाता है और इसीलिये उनके कृष्णादि अशुभ लेश्याएं भी हो सकती हैं।

कपायकुशील मुनिके कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती हैं। सूक्ष्म-सांपराय गुणस्थानवर्तीके तथा निग्रंथके शुक्ल लेश्या होती है। स्नातकके उपचारसे शुक्ल लेश्या है, अयोगकेवलीके लेश्या नहीं होती।

(७) उपपादः—पुलाक मुनिका—उत्कृष्ट अठारह सागरकी आयुके साथ—बारहवें सहस्रार स्वर्गमें जन्म होता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशीलका उत्कृष्ट जन्म बाईस सागरकी आयुके साथ पन्द्रहवें आरण और सोलहवें अच्युत स्वर्गमें होता है। कपायकुशील और निग्रंथका–उत्कृष्ट जन्म तेतीस सागरकी आयुके साथ सर्वार्थसिद्धिमें होता है। इन सबका जघन्य सौधर्म स्वर्गमें दो सागरकी आयुके साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं, उनका उपपाद निर्वाण–मोक्षरूपसे होता है।

(८) स्थानः—तीव्र या मंद कपाय होनेके कारण असंख्यात संयम–लब्धिस्थान होते हैं; उनमेंसे सबसे छोटा संयमलब्धिस्थान पुलाक मुनिके और कषायकुशीलके होता है। ये दोनों एक साथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं; पुलाक मुनि इन असंख्यात लब्धिस्थानोंके बाद आगेके लब्धिस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। कषायकुशील मुनि उनसे आगेके असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

यहाँ दूसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंसे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश मुनि ये तीनों एकसाथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

वकुशमुनि इन तीसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंमें रुक जाता है, आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। प्रतिसेवनाकुशील वहाँसे आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं।

कपायकुशील मुनि इन चौथी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंमेंसे आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं; इससे आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकते।

निग्रंथ मुनि इन पाँचवीं बार कहे गये लब्धिस्थानोंसे आगे कषायरहित संयमलब्धि-स्थानोंको प्राप्त कर सकता है। ये निग्रंथ मुनि भी आगेके असंख्यात लब्धिस्थानोंकी प्राप्ति कर सकते हैं, पश्चात् रुक जाते हैं। उसके बाद एक संयमलब्धिस्थानको प्राप्त करके स्नातक निर्वाणको प्राप्त करता है।

इसप्रकार संयमलब्धिके स्थान हैं। उनमें अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे संयमकी प्राप्ति अनन्तगुणी होती है ॥४७॥

उपसंहार

१—इस अध्यायमें आत्माकी धर्मपरिणतिका स्वरूप कहा है; इस परिणतिको 'जिन' कहते हैं।

२—अपूर्वकरण परिणामको प्राप्त हुये प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोंको 'जिन' कहा जाता है। (गोम्मटसार जीवकांड गाथा १ टीका, पृष्ठ १६) यहाँसे लेकर पूर्णशुद्धि प्राप्त करनेवाले सब जीव सामान्यतया 'जिन' कहलाते हैं। श्री प्रवचनसारके तीसरे अध्यायकी पहली गाथामें श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—"दूसरे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीव 'एकदेश जिन' हैं, केवली भगवान 'जिनवर' हैं और तीर्थंकर भगवान 'जिनवर-वृषभ' हैं।" मिथ्यात्व रागादिको जीतनेसे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनिको 'जिन' कहते हैं। उनमें गणधरादि श्रेष्ठ हैं इसलिए उन्हें 'श्रेष्ठ जिन' अथवा 'जिनवर' कहा जाता है और तीर्थंकरदेव उनसे भी प्रधान-श्रेष्ठ हैं इसीलिये उन्हें 'जिनवर-वृषभ' कहते हैं। (देखो, द्रव्यसंग्रह गाथा १ टीका) श्री समयसारजीकी ३१ वीं गाथामें भी सम्यग्दृष्टिको 'जितेन्द्रिय जिन' कहा है।

सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि और अधःकरण, अपूर्णकरण तथा अनिवृत्तिकरणका स्वरूप श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ में दिया है। गुणस्थानोंका स्वरूप श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिकाके अन्तिम अध्यायमें दिया है, सो वहाँसे समझ लेना।

३—चतुर्थ गुणस्थानसे निश्चय सम्यग्दर्शन होता है और निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है, यह बतानेके लिये इस शास्त्रमें पहले अध्यायका पहला ही सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' दिया है। धर्ममें पहले निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके कालमें अपूर्वकरणसे संवर-निर्जराका प्रारम्भ होता है। इस अधिकारके दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनको संवर-निर्जराके कारणरूपमें पृथक् नहीं कहा। इसका कारण यह है कि इस अध्यायके ४५ वें सूत्रमें इसका समावेश हो जाता है।

४—जिनधर्मका अर्थ है वस्तुस्वभाव। जितने अंशमें आत्माकी स्वभावदशा (-शुद्ध-दशा) प्रगट होती है उतने अंशमें जीवके 'जिनधर्म' प्रगट हुआ कहलाता है। जिनधर्म कोई संप्रदाय, वाड़ा या संघ नहीं किन्तु आत्माकी शुद्धदशा है; और आत्माकी शुद्धतामें तारतम्यता होने पर शुद्धरूप तो एक ही तरहका है। अतः जिनधर्ममें प्रभेद नहीं हो सकते। जैन-धर्मके नामसे जो वाड़ाबंदी देखी जाती है उसे यथार्थमें जिन-धर्म नहीं कह सकते। भरत-

क्षेत्रमें जिनधर्म पांचवें कालके अन्त तक रहनेवाला है अर्थात् वहां तक अपनी शुद्धता प्रगट करनेवाले मनुष्य इस क्षेत्रमें ही होते हैं और उनके शुद्धताके उपादानकारणको [illegible] ऐसे आत्मज्ञानी गुरु और सत्-शास्त्रोंका निमित्त भी होता ही है। जैनधर्मके नामसे कहे जानेवाले शास्त्रोंमेंसे कौनसे शास्त्र परम सत्यके उपदेशक हैं इसका निर्णय धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको अवश्य करना चाहिये। जबतक जीव स्वयं यथार्थ परीक्षा करके कौन सच्चा देव-शास्त्र और गुरु है इसका निर्णय नहीं करता, तथा आत्मज्ञानी गुरु कौन है उसका निर्णय नहीं करता तबतक गृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। गृहीत मिथ्यात्व दूर हुये बिना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है? इसीलिये जीवोंको स्वमें जिनधर्म प्रगट करनेके लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

५—सम्यग्दृष्टि जीवने आत्मस्वभावकी प्रतीति करके अज्ञान और दर्शनमोहको जीत लिया है इसलिये वह रागद्वेषका कर्ता और स्वामी नहीं होता; वह कभी हजारों रानियोंके संयोगके बीचमें हो तथापि 'जिन' है। चौथे, पांचवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीवोंका ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शनका महात्म्य कैसा है यह बतानेके लिये अनन्त ज्ञानियोंने यह स्वरूप कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके अपनी शुद्धपर्यायके अनुसार (-शुद्धताके प्रमाणमें) संवर-निर्जरा होती है।

६—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको नहीं समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंकी बाह्य-संयोगों और बाह्य-त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिये वे उपरोक्त कथनका आशय नहीं समझ सकते और सम्यग्दृष्टिके अन्तरंग परिणमनको वे नहीं समझ सकते। इसलिये धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको संयोगदृष्टि छोड़कर वस्तुस्वरूप समझने की और यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उन पूर्वक सम्यक्चारित्रके बिना संवर-निर्जरा प्रगट करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। इस नववें अध्यायके २९ वें सूत्रकी टीकासे मालूम पड़ेगा कि मोक्ष और संसार इन दोके अलावा और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं है। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग।

७—सम्यक्त्व मोक्षमार्गका मूल है और मिथ्यात्व संसारका मूल है। जो जीव संसार-मार्गसे विमुख हों वे ही जीव मोक्षमार्ग (अर्थात् सच्चे सुखके उपायरूप धर्म) को प्राप्त कर सकते हैं। बिना सम्यग्दर्शनके जीवके संवर-निर्जरा नहीं होती; इसलिए दूसरे सूत्रमें संवरके कारण बतलाते हुए उनमें प्रथम गुप्ति बतलाई, उसके बाद दूसरे कारण कहे हैं।

८—यह ध्यान रहे कि इस शास्त्रमें आचार्य महाराजने महाव्रतों या देशव्रतोंको संवरके कारणरूपसे नहीं बतलाया, क्योंकि सातवें अध्यायके पहले सूत्रमें बताये गये प्रमाणसे

वह शुभास्रव है।

९—यह समझानेके लिये चौथे सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका प्रयोग किया है कि गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, दस प्रकारका धर्म, परीषहजय और चारित्र ये सभी सम्यग्दर्शनके विना नहीं होते।

१०—छट्ठे सूत्रमें धर्मके दस भेद वतलाये हैं। उसमें दिया गया उत्तम विशेषण यह वतलाता है कि धर्मके भेद सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकते हैं। इसके वाद सातवें सूत्रमें अनुप्रेक्षाका स्वरूप और ८ वें सूत्रसे १७ वें सूत्र तक परीषहजयका स्वरूप कहा है। शरीर और दूसरी वाह्य वस्तुओंकी जिस अवस्थाको लोग प्रतिकूल मानते हैं उसे यहाँ परीषह कहा गया है। आठवें सूत्रमें 'परिषोढव्या' शब्दका प्रयोग करके उन परीषहोंको सहन करनेका उपदेश दिया है। निश्चयसे परीषह क्या है और उपचारसे परीषह किसे कहते हैं—यह नहीं समझनेवाले जीव १०-११ सूत्रका आश्रय लेकर (कुतर्क द्वारा) ऐसा मानते हैं कि—'केवली भगवानके क्षुधा और तृषा (भूख और प्यास)की व्याधिरूप परीषह होती है, और छद्मस्थ रागी जीवोंकी तरह केवली भगवान भी भूख और प्यासकी व्याधिको दूर करनेके लिए खान-पान ग्रहण करते हैं और रागी जीवोंकी तरह भगवान भी अतृप्त रहते हैं,' परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है। सातवें गुणस्थानसे ही आहारसंज्ञा नहीं होती (गोम्मटसार जीवकांड गाथा १३९ की वड़ी टीका, पृष्ठ ३५१-३५२) तथापि जो लोग केवली भगवानके खान-पान मानते हैं वे भगवानको आहार संज्ञासे भी दूर हुए नहीं मानते (देखो सूत्र १०-११ की टीका।)

११—जव भगवान मुनि अवस्थामें थे तव तो करपात्री होनेसे स्वयं ही आहारके लिये निकलते, और जो दाता श्रावक भक्तिपूर्वक पड़गाहन करते तो वे खड़े रहकर करपात्रमें आहार लेते। परन्तु जो ऐसा मानते हैं कि वीतरागी होनेके वाद भी असह्य वेदनाके कारण भगवान आहार लेते हैं, उन्हें ऐसा मानना पड़ता है या पड़ेगा कि 'भगवानके कोई गणधर या मुनि आहार लाकर देते हैं, वे स्वयं नहीं जाते।' अव देखो कि छद्मस्थ अवस्थामें तो भगवान आहारके लिये किसीसे याचना नहीं करते और अव वीतराग होनेके वाद आहार लानेके लिये शिष्योंसे याचना करें, यह वड़े आश्चर्यकी वात है। पुनश्च, भगवानको आहार-पानीका दाता तो वह आहार लानेवाला मुनि ही हुआ। भगवान कितना आहार लेंगे, क्या क्या लेंगे, अपन जो कुछ ले जायेंगे वह सव भगवान लेंगे, उसमेंसे कुछ वचेगा या नहीं? इत्यादि वातें भगवान स्वयं पहलेसे निश्चय करके मुनिको कहते हैं या आहार लाने वाले मुनि स्वयं निश्चय करते हैं? ये भी विचारणीय प्रश्न है। पुनश्च, नग्न मुनिके पास पात्र तो होता नहीं, इसी कारण वह आहार लानेके लिये निरुपयोगी हैं, और इसीलिये भगवान स्वयं

मुनि दशामें नग्न थे तथापि उनके वीतराग होनेके बाद उनके गणधरादिको पात्र रखने वाले अर्थात् परिग्रहधारी मानना पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि भगवानने उस पात्रधारी मुनिको आहार लानेकी आज्ञा की। किन्तु यह सब असंगत है ठीक नहीं है।

१२—पुनश्च, यदि भगवान स्वयं अशन-पान करते हों तो भगवानकी ध्यानमुद्रा दूर हो जायगी, क्योंकि अध्यान मुद्राके अलावा पात्रमें रहे हुये आहारको देखनेका, उसके टुकड़े करने, कौर लेने, दांतसे चवाने, गलेमें उतारने आदिकी क्रियायें नहीं हो सकतीं। अब यदि भगवानके अध्यानमुद्रा या उपरोक्त क्रियायें स्वीकार करें तो वह प्रमाददशा होती है। पुनश्च, आठवें सूत्रमें ऐसा उपदेश देते हैं कि परीषहें सहन करनी चाहिये और भगवान स्वयं ही वैसा नहीं कर सकते अर्थात् भगवान अशक्य कार्योंका उपदेश देते हैं, ऐसा अर्थ करने पर भगवानको मिथ्या-उपदेशी कहना पड़ेगा।

१३-४६ वें सूत्रमें निर्ग्रंथोंके भेद बताये हैं, उनमें 'बकुश' नामक एक भेद बतलाया है; उनके धर्म-प्रभावनाके रागसे शरीर तथा शास्त्र, कमंडल, पीछी पर लगे हुये मैलको दूर करनेका राग हो जाता है। इस परसे कोई यह कहना चाहते हैं कि—उस 'बकुश' मुनिके वस्त्र होनेमें बाधा नहीं, परन्तु उनका यह कथन न्याय-विरुद्ध है, ऐसा छट्ठे अध्यायके तेरहवें सूत्रकी टीकामें बतलाया है। पुनश्च, मुनिका स्वरूप नहीं समझनेवाले ऐसा भी कहना चाहते हैं कि यदि मुनिको शरीरकी रक्षाके लिये अथवा संयमकी रक्षाके लिये वस्त्र हो तो भी वे क्षपकश्रेणी मांडकर केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं। यह बात भी मिथ्या है। इस अध्यायके ४७ वें सूत्रकी टीकामें संयमके लब्धिस्थानोंका स्वरूप दिया है, इस परसे मालूम होगा कि बकुश मुनि तीसरी बारके संयमलब्धिस्थानमें रुक जाता है और कषायरहित दशा प्राप्त नहीं कर सकता; तो फिर ऋतु इत्यादिकी विषमतासे शरीरकी रक्षाके लिये वस्त्र रखे तो ऐसे रागवाला सम्यग्दृष्टि हो तो भी मुनिपद प्राप्त नहीं कर सकता और सर्वथा अकषायदशाकी प्राप्ति तो वे कर ही नहीं सकते, यही देखा भी जाता है।

१४—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रके स्वरूपके सम्बन्धमें होनेवाली भूल और उसका निराकरण उन-उन विषयोंसे सम्बन्धित सूत्रोंकी टीकामें दिया है, वहाँ समझ लेना। कुछ लोग आहार न लेनेको तप मानते हैं किन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं। तपकी इस व्याख्यामें होनेवाली भूल दूर करनेके लिये सम्यक्तपका स्वरूप १९ वें सूत्रकी भूमिकामें तथा टीका पैराग्राफ ५ में दिया है, उसे समझना चाहिये।

१५—मुमुक्षु जीवोंको मोक्षमार्ग प्रगट करनेके लिये उपरोक्त बारेमें यथार्थ विचार करके संवर-निर्जरा तत्त्वका स्वरूप बराबर समझना चाहिये। जो जीव अन्य पाँच तत्त्वों

सहित इस संवर तथा निर्जरातत्वकी श्रद्धा करता है, जानता है उस अपने चैतन्यस्वरूप स्वभावभावकी ओर झुककर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा संसार-चक्रको तोड़कर अल्प-कालमें वीतरागचारित्रको प्रगट कर निर्वाण-मोक्षको प्राप्त करता है।

१६—इस अध्यायमें सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहते हुए उसके अनुसंधानमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका स्वरूप भी बतलाया है। (देखो, सूत्र ३६ से ३९) चारित्रके विभागमें यथाख्यात चारित्र भी समाविष्ट हो जाता है। चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें परम यथाख्यात चारित्र प्रगट होनेपर सर्वगुणोंके चारित्रकी पूर्णता होती है और उसी समय जीव निर्वाणदशा प्राप्त करता है-मोक्ष प्राप्त करता है। ४७ वें सूत्रमें संयमलब्धिस्थानका कथन करते हुए उसमें निर्वाण पद प्राप्त होने तककी दशाका वर्णन किया गया है। इस तरह इस अध्यायमें सब तरहकी 'जिन' दशाका स्वरूप आचार्य भगवानने बहुत थोड़े सूत्रों द्वारा बताया है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके
नवमें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र-अध्याय दसवाँ

भूमिका

१—आचार्यदेवने इस शास्त्रके प्रारम्भमें पहले अध्यायके पहले ही सूत्र में कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान—चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है—कल्याणमार्ग है। उसके बाद सात तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है; इस प्रकार बतलाकर सात तत्त्वोंके नाम बतलाये और दसवें अध्यायमें उन सात तत्त्वोंका वर्णन किया। उनमें इस अन्तिम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करके यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—मोक्ष संवर-निर्जरा पूर्वक होता है; इसीलिये नववें अध्यायमें संवर-निर्जराका स्वरूप कहा, और चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानमें विराजनेवाले केवलीभगवान तकके समस्त जीवोंके संवर-निर्जरा होती है ऐसा उसमें बतलाया। इस निर्जराकी पूर्णता होनेपर जीव परम समाधानरूप निर्वाणपदमें विराजता है; इस दशाको मोक्ष कहा जाता है। मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जीवोंने सर्व कार्य सिद्ध किया अतः 'सिद्ध भगवान' कहे जाते हैं।

३—केवली भगवानके (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें) संवर-निर्जरा होती है अतः उनका उल्लेख नववें अध्यायमें किया गया है किन्तु वहाँ केवलज्ञानका स्वरूप नहीं बतलाया। केवलज्ञान भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके बलसे द्रव्यमोक्ष (सिद्धदशा) होता है। (देखो, प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ८४ जयसेनाचार्यकी टीका) इसीलिये इस अध्यायमें प्रथम भावमोक्षरूप केवलज्ञानका स्वरूप बताकर फिर द्रव्यमोक्षका स्वरूप बतलाया है।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—[मोहक्षयात्] मोहका क्षय होनेसे (अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त क्षीणकषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करनेके बाद) [ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् च] और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीन कर्मोंका एक साथ क्षय होनेसे [केवलम्] केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

टीका

१—[illegible] पूर्ण प्रगट है, अतः उसका ज्ञान सामर्थ्य-संपूर्ण है।

संपूर्ण वीतराग होनेपर संपूर्ण सर्वज्ञता प्रगट होती है। जब जीव संपूर्ण वीतराग होता है तब कर्मके साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है कि-मोहकर्म जीवके प्रदेशमें संयोग-रूपसे रहता ही नहीं, उसे मोहकर्मका क्षय हुआ कहा जाता है। जीवको सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होनेके बाद अल्पकालमें तत्काल ही संपूर्णज्ञान प्रगट होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध, अखण्ड, रागरहित है। इस दशामें जीवको 'केवली भगवान' कहते । भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसीलिये वे केवली नहीं कहलाते, परन्तु 'केवल' अर्थात् शुद्ध आत्माको जानते-अनुभवते हैं अतः वे 'केवली' कहलाते हैं। भगवान एकसाथ परिणमनेवाले समस्त चैतन्य-विशेषवाले केवलज्ञानके द्वारा अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण स्वसंवेद्यमान् चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतन स्वभावके द्वारा एकरूप होनेसे जो केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली हैं। (देखो, श्री प्रवचनसार गाथा ३३)

यह व्यवहार-कथन है कि भगवान परको जानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारसे केवलज्ञान लोकालोकको युगपत् जानता है, क्योंकि स्व-पर प्रकाशक निज-शक्तिके कारण भगवान सम्पूर्ण ज्ञानरूपसे परिणमते हैं अतः कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय उनके ज्ञानके बाहर नहीं है। निश्चयसे तो केवलज्ञान अपने शुद्ध स्वभावको ही अखण्डरूपसे जानता है।

२—केवलज्ञान स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है, स्वतंत्र है तथा क्रम-रहित है। यह ज्ञान जब प्रगट हो तब ज्ञानावरण कर्मका सदाके लिये क्षय होता है, इसलिये इस ज्ञानको क्षायिकज्ञान कहते हैं। जब केवलज्ञान प्रगट होता है उसी समय केवलदर्शन और सम्पूर्ण वीर्य भी प्रगट होता है और दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मका सर्वथा अभाव (नाश) हो जाता है।

३—केवलज्ञान होनेपर भावमोक्ष हुआ कहलाता है (यह अरिहन्त दशा है) और आयुष्यकी स्थिति पूरी होनेपर चार अघातिया कर्मोंका अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है, मोक्ष केवलज्ञानपूर्वक ही होता है इसलिये मोक्षका वर्णन करने पर उसमें पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका सूत्र बतलाया है।

प्रश्नः—क्या यह मान्यता ठीक है कि जीवके तेरहवें गुणस्थानमें अनन्तवीर्य प्रगट हुआ है तथापि योग आदि गुणका विकार रहता है और संसारित्व रहता है उसका कारण अघातिकर्मका उदय है ?

उत्तरः—यह मान्यता यथार्थ नहीं है। तेरहवें गुणस्थानमें संसारित्व रहनेका यथार्थ कारण यह है कि वहां जीवके योगगुणका विकार है तथा जीवके प्रदेशकी वर्तमान योग्यता

उस क्षेत्रमें (-शरीरके साथ) रहने की है, तथा जीवके अव्याबाध, *अनिर्नामी, निर्गोत्री और अनायुषी आदि गुण अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुए; इस प्रकार जीव अपने ही कारणसे संसारमें रहता है। वास्तवमें जड़ अघातिकर्मके उदयके कारणसे या किसी परके कारणसे जीव संसारमें रहता है, यह मान्यता बिल्कुल असत् है। यह तो मात्र निमित्तका उपचार करनेवाला व्यवहार-कथन है कि 'तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्मोंका उदय है इसीलिये जीव सिद्धत्वको प्राप्त नहीं होता। जीवके अपने विकारी भावके कारण संसारदशा होनेसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें भी जड़कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है यह बतानेके लिये कर्मशास्त्रोंमें ऊपर बताये अनुसार व्यवहार-कथन किया जाता है। वास्तवमें कर्मके उदय सत्ता इत्यादिके कारण कोई जीव संसारमें रहता है यह मानना सो जीव और जड़कर्मको एकमेक माननेरूप मिथ्या-मान्यता है। शास्त्रोंका अर्थ करनेमें अज्ञानियोंकी मूलभूत भूल यह है कि व्यवहारनयके कथनको वे निश्चयनयका कथन मानकर व्यवहारको ही परमार्थ मान लेते हैं। यह भूल दूर करनेके लिये आचार्य भगवानने इस शास्त्रके प्रथम अध्यायके छट्ठे सूत्रमें प्रमाण तथा नयका यथार्थ ज्ञान करनेकी आज्ञा की है (प्रमाणनयै रधिगमः) जो व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथन मानकर शास्त्रोंका वैसा अर्थ करते हैं उनके उस अज्ञानको दूर करनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारजीमें × ३२४ से ३२६ वीं गाथा कही हैं। इसलिए जिज्ञासुओंको शास्त्रोंका कथन किस नयसे है और उसका परमार्थ (भूतार्थ-सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है यह यथार्थ समझकर शास्त्रकारके कथनके मर्मको जान लेना चाहिये, परन्तु भाषाके शब्दोंको नहीं पकड़ना चाहिये।

६. केवलज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता ?

(१) प्रश्नः—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मोक्षके कारणभूत रत्नत्रयकी पूर्णता हो

---

* इन गुणोंके नाम बृ० द्रव्यसंग्रह गा० १३–१४ की टीकामें हैं।

× वे गाथायें इस प्रकार हैं:–

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥

यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥

एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥३२६॥

जाती है तो फिर उसीसमय मोक्ष होना चाहिये; इसप्रकार जो सयोगी तथा अयोगी ये केवलियोंके दो गुणस्थान कहे हैं उनके रहनेका कोई समय ही नहीं रहता ?

उत्तरः—यद्यपि केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय यथाख्यातचारित्र हो गया है तथापि अभी परम यथाख्यातचारित्र नहीं हुआ। कषाय और योग अनादिसे अनुसंगी-(साथी) हैं तथापि प्रथम कषायका नाश होता है, इसीलिये केवली भगवानके यद्यपि वीतरागतारूप यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है तथापि योगके व्यापारका नाश नहीं हुआ। योगका परिस्पंदनरूप व्यापार परम यथाख्यातचारित्रमें दूषण उत्पन्न करनेवाला है। इस योगके विकारकी क्रमक्रमसे भावनिर्जरा होती है। इस योगके व्यापारकी सम्पूर्ण भावनिर्जरा हो जाने तक तेरहवाँ गुणस्थान रहता है। योगका अशुद्धतारूप-चंचलतारूप व्यापार बंद पड़नेके बाद भी कितनेक समय तक अव्याबाध, निर्नाम (नाम रहितत्व), अनायुष्य (आयुष्य रहितत्व) और निर्गोत्र* आदि गुण प्रगट नहीं होते; इसीलिये चारित्रमें दूषण रहता है। चौदहवें गुणस्थानके अंतिम समयका व्यय होनेपर उस दोषका अभाव हो जाता है और उसीसमय परम यथाख्यातचारित्र प्रगट होनेसे अयोगी जिन मोक्षरूप अवस्था धारण करता है; इस रीतिसे मोक्ष-अवस्था प्रगट होनेसे पहले सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान प्रत्येक केवली भगवानके होते हैं।

(*देखो-बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३-१४ की टीका)

(२) **प्रश्नः**—यदि ऐसा मानें कि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय मोक्ष-अवस्था प्रगट होजाय तो क्या दूषण लगेगा ?

उत्तरः—ऐसा मानने पर निम्नलिखित दोष आते हैं—

१—जीवमें योगगुणका विकार होनेपर, तथा अन्य (अव्याबाध आदि) गुणोंमें विकार होनेपर और परम यथाख्यातचारित्र प्रगट हुये बिना, जीवकी सिद्धदशा प्रगट हो जायगी जो कि अशक्य है।

२—यदि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय सिद्धदशा प्रगट हो जाय तो धर्म-तीर्थ ही न रहे; यदि अरिहंत दशा ही न रहे तो कोई सर्वज्ञ उपदेशक-आप्त ही न हो। इसका परिणाम यह होगा कि भव्य जीव अपने पुरुषार्थसे धर्म प्राप्त करने योग्य दशा प्रगट करनेके लिये तैयार हो तथापि उसे निमित्तरूप सत्य धर्मके उपदेशका (दिव्यध्वनिका) संयोग न होगा अर्थात् उपादान-निमित्तका मेल टूट जायगा। इसप्रकार बन ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा नियम है। जिस समय जो जीव अपने उपादानकी जागृतिसे धर्म प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करता है उससमय उस जीवके इतना पुण्यका संयोग होता ही है कि

जिससे उसे उपदेशादिक योग्य निमित्त (सामग्री) स्वयं मिलती ही है। उपादानकी योग्यता और निमित्तकी पर्यायका ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यदि ऐसा न हो तो जगतमें कोई जीव धर्म प्राप्त कर ही न सकेंगे। अर्थात् समस्त जीव द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण हैं तथापि अपनी शुद्ध पर्याय कभी प्रगट नहीं कर सकेंगे। ऐसा होनेपर जीवोंका दुःख कभी दूर नहीं होगा और वे सुखस्वरूप कभी नहीं हो सकेंगे।

३—जगतमें यदि कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता तो तीर्थंकर, सिद्ध, अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी भूमिकामें रहनेवाले उपदेशक इत्यादि पद भी जगतमें न रहेंगे, जीवकी साधक और सिद्धदशा भी न रहेगी, सम्यग्दृष्टिकी भूमिका ही प्रगट न होगी, तथा उस भूमिकामें होनेवाला धर्मप्रभावनादिका राग-पुण्यानुबंधी पुण्य, सम्यग्दृष्टिके योग्य देवगति-देवक्षेत्र इत्यादि अवस्थाका भी नाश हो जायग।

(३) इस परसे यह समझना कि जीवके उपादानके प्रत्येक समयकी पर्यायकी जिसप्रकारकी योग्यता हो तदनुसार उस जीवके उस समयके योग्य निमित्तका संयोग स्वयं मिलता ही है—ऐसा निमित्त--नैमित्तिक सम्बन्ध तेरहवें गुणस्थानका अस्तित्व सिद्ध करता है; एक--दूसरेके कर्तारूपमें कोई है ही नहीं। तथा ऐसा भी नहीं कि उपादानको पर्यायमें जिस समय योग्यता हो उस समय उसे निमित्तकी ही राह देखनी पड़े; दोनोंका सहजरूपसे ऐसा ही मेल होता ही है और यही निमित्त--नैमित्तिक भाव है; तथापि दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। निमित्त परद्रव्य है उसे जीव मिला नहीं सकता। उसी प्रकार वह निमित्त जीवमें कुछ कर नहीं सकता; क्योंकि कोई द्रव्य परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता--हर्ता नहीं है ॥ १ ॥

अब मोक्षका कारण और उसका लक्षण कहते हैं—

वंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—[**वंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां**] वंधके कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जराके द्वारा [**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**] समस्त कर्मोंका अत्यन्त नाश हो जाना सो मोक्ष है।

टीका

१-कर्म तीन प्रकारके हैं—(१) भावकर्म, (२) द्रव्यकर्म और (३) नोकर्म। भावकर्म जीवका विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ हैं। भावकर्मका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मका अभाव होता है और द्रव्यकर्मका अभाव होनेपर नोकर्म (--शरीर) का अभाव

होता है। यदि अस्तिकी अपेक्षासे कहें तो जो जीवकी सम्पूर्ण शुद्धता है सो मोक्ष है और यदि नास्तिकी अपेक्षासे कहें तो जीवकी सम्पूर्ण विकारसे जो मुक्तदशा है सो मोक्ष है। इस दशामें जीव कर्म तथा शरीर रहित होता है और इसका आकार अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून पुरुषाकार होता है।

२. मोक्ष यत्नसे साध्य है

(१) **प्रश्नः**—मोक्ष यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य है ?

उत्तरः—मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्नसे (पुरुषार्थसे) प्रथम मिथ्यात्वको दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थसे क्रम-क्रमसे विकारको दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थके विकल्पसे मोक्ष साध्य नहीं है।

(२) मोक्षका प्रथम कारण सम्यग्दर्शन और वह पुरुषार्थसे ही प्रगट होता है। श्री समयसार कलश ३४ में अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि—

हे भव्य ! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है ? इस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वयं निश्चल होकर देख; इसप्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदय-सरोवरमें आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं ? अर्थात् ऐसा प्रयत्न करनेसे अवश्य आत्माकी प्राप्ति होती है।

पुनश्च, कलश २३ में कहते हैं कि—

हे भाई ! तू किसी भी तरह महाकष्टसे अथवा मरकर भी (अर्थात् कई प्रयत्नोंके द्वारा) तत्त्वोंका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त्त द्रव्योंका एक मुहूर्त्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्माका अनुभव कर कि जिससे निज आत्माको विलासरूप, सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोहको तू तत्क्षण ही छोड़ देगा।

भावार्थः—यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घातिकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो। आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है।

इसमें आत्मानुभव करनेके लिये पुरुषार्थ करना बताया है।

(३) सम्यक् पुरुषार्थके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। बिना कारणके कार्य सिद्ध नहीं होता। पुरुषार्थसे मोक्ष होता है ऐसा सूत्रकारने स्वयं, इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें 'पूर्वप्रयोगात्' शब्दका प्रयोग कर बतलाया है।

(४) समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद आचार्य बतलाते हैं कि—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि ।

अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अर्थ—यदि पृथ्वी आदि पंचभूतसे जीवतत्त्वकी उत्पत्ति हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है, किन्तु यदि ऐसा न हो तो योगसे अर्थात् स्वरूप-संवेदनका अभ्यास करनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो; इस कारण निर्वाण-मोक्षके लिये पुरुषार्थ करनेवाले योगियोंको चाहे जैसा उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी दुःख नहीं होता।

(५) श्री अष्टप्राभृतमें दर्शनप्राभृत गाथा ६, सूत्रप्राभृत १६ और भावप्राभृत गाथा ८७ से ९० में स्पष्ट रीतिसे बतलाया है कि धर्म-संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आत्माके वीर्य-बल-प्रयत्नके द्वारा ही होते हैं; उस शास्त्रकी वचनिका पृष्ठ १५-१६ तथा २४२ में भी ऐसा ही कहा है।

(६) **प्रश्नः**—इसमें अनेकान्त स्वरूप कहाँ आया?

उत्तरः—आत्माके सत्य पुरुषार्थसे ही धर्म-मोक्ष होता है और अन्य किसी प्रकारसे नहीं होता, यही सम्यक् अनेकान्त हुआ।

(७) **प्रश्नः**—आप्तमीमांसाकी ८८ वीं गाथामें अनेकान्तका ज्ञान करानेके लिये कहा है कि पुरुषार्थ और दैव दोनों होते हैं, इसका क्या स्पष्टीकरण है?

उत्तरः—जब जीव मोक्षका पुरुषार्थ करता है तब परम-पुण्यकर्मका उदय होता है इतना बतानेके लिये यह कथन है। पुण्योदयसे धर्म या मोक्ष नहीं, परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि मोक्षका पुरुषार्थ करनेवाले जीवके उस समय उत्तम संहनन आदि बाह्य-संयोग होता है। यथार्थ पुरुषार्थ और पुण्य इन दोनोंसे मोक्ष होता है—इसप्रकार कथन करनेके लिये यह कथन नहीं है। किन्तु उससमय पुण्यका उदय नहीं होता ऐसा कहनेवालेकी भूल है—यह बतानेके लिये इस गाथाका कथन है।

इस परसे सिद्ध होता है कि मोक्षकी सिद्धि पुरुषार्थके द्वारा ही होती है, उसके बिना मोक्ष नहीं हो सकता ॥ २ ॥

मोक्षमें समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव होता है यह उपरोक्त सूत्रमें बतलाया; अब यह बतलाते हैं कि कर्मोंके अलावा और किसका अभाव होता है—

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थः—[च] और [औपशमिकादि भव्यत्वानां] औपशमिकादि भावोंका तथा

पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्व भावका मुक्त जीवके अभाव होता—हो जाता है।

टीका

'औपशमिकादि' कहनेसे औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना; क्षायिकभाव इसमें नहीं गिनना-जानना।

जिन जीवोंके सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करनेकी योग्यता हो वे भव्य जीव कहलाते हैं। जब जीवके सम्यग्दर्शनादि पूर्णरूपमें प्रगट हो जाते हैं तब उस आत्मामें 'भव्यत्व' का व्यवहार मिट जाता है। इस सम्बन्धमें यह विशेष ध्यान रहे कि यद्यपि 'भव्यत्व' पारिणामिकभाव है तथापि, जिस प्रकार पर्यायार्थिकनयसे जीवके सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंका-निमित्तरूपसे घातक देशघाति तथा सर्वघाति नामका मोहादिक कर्म सामान्य है उसीप्रकार, जीवके भव्यत्वभावको भी कर्मसामान्य निमित्तरूपमें प्रच्छादक कहा जा सकता है। (देखो, हिन्दी समयसार श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका पृष्ठ ४२३) सिद्धत्व प्रगट होनेपर भव्यत्वभावका नाश हो जाता है ॥३॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ—[केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः अन्यत्र] केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व, इन भावोंके अतिरिक्त अन्य भावोंके अभावसे मोक्ष होता है।

टीका

मुक्त अवस्थामें केवलज्ञानादि गुणोंके साथ जिन गुणोंका सहभावी सम्बन्ध है—ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग इत्यादि गुण भी होते हैं ॥४॥

अब मुक्त जीवोंका स्थान बतलाते हैं

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥५॥

अर्थ—[तदनन्तरम्] तुरन्त ही [ऊर्ध्वं आलोकांतात् गच्छति] ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभाग तक जाता है।

टीका

चौथे सूत्रमें कहा हुआ सिद्धत्व जब प्रगट होता है तब तीसरे सूत्रमें कहे हुये भाव नहीं होते, तथा कर्मोंका भी अभाव हो जाता है; उसी समय जीव ऊर्ध्वगमन करके सीधे

लोकके अग्रभाग तक जाता है और वहाँ शाश्वत स्थित रहता है। छट्ठे और सातवें सूत्रमें ऊर्ध्वगमन होनेका कारण बतलाया है और लोकके अन्तभागसे आगे नहीं जानेका कारण आठवें सूत्रमें बतलाया है ॥५॥

अब मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमनका कारण बतलाते हैं

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

अर्थः—[पूर्वप्रयोगात्] १-पूर्वप्रयोगसे, [असंगत्वात्] २-संगरहित होनेसे, [बन्धच्छेदात्] ३-बन्धका नाश होनेसे [तथा गतिपरिणामात् च] और ४-तथा गति-परिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे-मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

नोटः—पूर्व प्रयोगका अर्थ है पूर्वमें किया हुआ पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम; इस सम्बन्धमें इस अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीका तथा सातवें सूत्रके पहले दृष्टांत परकी टीका पढ़कर समझना ॥ ६ ॥

ऊपरके सूत्रमें कहे गये चारों कारणोंके दृष्टांत बतलाते हैं

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवद- ग्निशिखावच्च ॥७॥

अर्थ—मुक्त जीव [आविद्धकुलालचक्रवत्] १—कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाककी तरह पूर्व प्रयोगसे, [व्यपगतलेपालाबुवत्] २—लेप दूर हो चुका है जिसका ऐसी तुम्बेकी तरह संगरहित होनेसे, [एरंडबीजवत्] ३—एरंडके बीजकी तरह बन्धन रहित होनेसे [च] और [अग्निशिखावत्] ४—अग्निकी शिखा-(लौ) की तरह ऊर्ध्वगमनस्वभावसे ऊर्ध्वगमन (ऊपरको गमन) करता है।

टीका

१-पूर्वप्रयोगका उदाहरणः—जैसे कुम्हार चाकको घुमाकर हाथ रोक लेता है तो भी वह चाक पूर्वके वेगसे घूमता रहता है, उसीप्रकार जीव भी संसार-अवस्थामें मोक्ष-प्राप्तिके लिये बारम्बार अभ्यास (उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है तो भी पूर्वके अभ्याससे संस्कारसे मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

२—असंगका उदाहरणः-जिसप्रकार तुम्बेको जबतक लेपका संयोग रहता है तबतक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुआ हुआ रहता है, किन्तु जब लेप

(मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है तब वह पानीके ऊपर-स्वयं अपनी योग्यतासे आ जाता है; उसीप्रकार जबतक जीव संगसहित होता है तबतक अपनी योग्यतासे संसार-समुद्रमें डूबा रहता है और संगरहित होनेपर ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभागमें चला जाता है।

३–बन्धछेदका उदाहरणः–जैसे एरंड वृक्षका सूखा फल-जब चटकता है तब वह बन्धनसे छूट जानेसे उसका बीज ऊपर जाता है, उसीप्रकार जीवकी पक्वदशा (मुक्त-अवस्था) होनेपर कर्मबन्धके छेदपूर्वक वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४–ऊर्ध्वगमन स्वभावका उदाहरणः—जिसप्रकार अग्निकी शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवाके अभावमें जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपरको जाती है उसीप्रकार जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है; इसलिये मुक्तदशा होनेपर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है ॥७॥

लोकाग्रसे आगे नहीं जानेका व्यवहार-कारण बतलाते हैं

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अर्थः—[धर्मास्तिकायाभावात्] आगे (अलोकमें) धर्मास्तिकायका अभाव है अतः मुक्त जीव लोकके अन्ततक ही जाता है।

टीका

१—इस सूत्रका कथन निमित्तकी मुख्यतासे है। गमन करते हुये द्रव्योंको धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्तरूप है, यह द्रव्य लोकाकाशके बराबर है। वह यह बतलाता है कि जीव और पुद्गलकी गति ही स्वभावसे इतनी है कि वह लोकके अन्ततक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाशमें 'लोकाकाश' और 'अलोकाकाश' ऐसे दो भेद ही न रहें। लोक छह द्रव्योंका समुदाय है और अलोकाकाशमें एकाकी आकाशद्रव्य ही है। जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें गमन-शक्ति है; उनकी गति-शक्ति ही स्वभावसे ऐसी है कि वह लोकमें ही रहते हैं। गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है उसका अलोकाकाशमें अभाव है, वह यह बतलाता है कि गमन करनेवाले द्रव्योंकी उपादान-शक्ति ही लोकके अग्रभाग तक गमन करने की है। अर्थात् वास्तवमें जीवकी अपनी योग्यता ही अलोकमें जानेकी नहीं है, अतएव वह अलोकमें नहीं जाता, धर्मास्तिकायका अभाव तो इसमें निमित्तमात्र है।

२—बृहद्द्रव्यसंग्रहमें सिद्धके अगुरुलघुगुणका वर्णन करते हुये बतलाते हैं कि—यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु हो (भारी हो) तो लोहेके गोलेकी तरह उसका सदा अधःपतन होता

रहेगा अर्थात् वह नीचे ही पड़ा रहेगा। और यदि वह सर्वथा लघु (हलका) हो तो जैसे वायुके झकोरेसे आकके वृक्षकी रुई उड़ जाया करती है उसीप्रकार सिद्धस्वरूपका भी निरंतर भ्रमण होता ही रहेगा; परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है, इसीलिये उसमें अगुरुलघुगुण कहा गया है। (बृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ-३८)

इस अगुरुलघुगुणके कारण सिद्ध जीव सदा लोकाग्रमें स्थित रहते हैं, वहाँसे न तो आगे जाते हैं और न नीचे आते हैं ॥८॥

मुक्त जीवोंमें व्यवहारनयकी अपेक्षासे भेद बतलाते हैं—

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थः—[**क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः**] क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व—इन बारह अनुयोगों से [**साध्याः**] मुक्त जीवों (सिद्धों) में भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं।

टीका

१—क्षेत्रः—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे (वर्तमानकी अपेक्षासे) आत्मप्रदेशोंमें सिद्ध होता है; आकाशप्रदेशोंमें सिद्ध होता है, सिद्धक्षेत्रमें सिद्ध होता है। भूत-नैगमनयकी अपेक्षासे पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुष ही सिद्ध होते हैं। पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुषको यदि कोई देवादि अन्य क्षेत्रमें उठाकर ले जाय तो अढ़ाई द्वीप प्रमाण समस्त मनुष्य-क्षेत्रसे सिद्ध होता है।

२—काल—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे एक समयमें सिद्ध होता है। भूत-नैगमनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों कालमें सिद्ध होता है; उसने अवसर्पिणी कालके तीसरे कालके अन्तभागमें चौथे कालमें और पाँचवें कालके प्रारम्भमें (जिसने चौथे कालमें जन्म लिया है ऐसा जीव) सिद्ध होता है। उत्सर्पिणी कालके 'दुषमसुषम- कालमें चौबीस तीर्थंकर होते हैं और उस कालमें जीव सिद्ध होते हैं (त्रिलोकप्रज्ञप्ति पृष्ठ ३५०); विदेह-क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे कालके भेद नहीं हैं। पंचमकालमें जन्मे हुए जीव सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करते हैं किन्तु वे उसी भवसे मोक्ष प्राप्त नहीं करते। विदेहक्षेत्रमें उत्पन्न हुए जीव अढ़ाई द्वीपके किसी भी भागमें सर्वकालमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

३-गतिः—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे सिद्धगतिसे मोक्ष प्राप्त होता है; भूत नैगमनयकी अपेक्षासे मनुष्यगतिसे ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

४-लिंगः—ऋजुसूत्रनयसे लिंग (वेद) रहित ही मोक्ष पाता है; भूतनैगमनयसे तीनों प्रकारके भाववेदमें क्षपकश्रेणी मांडकर मोक्ष प्राप्त करते हैं; और द्रव्यवेदमें तो पुरुषलिंग और यथाजातरूप लिंगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है ।

५-तीर्थः—कोई जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते हैं । सामान्य केवलीमें भी कोई तो तीर्थंकरकी मौजूदगीमें मोक्ष प्राप्त करते और कोई तीर्थंकरोंके बाद उनके तीर्थमें मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

६-चारित्रः—ऋजुसूत्रनयसे चारित्रके भेदका अभाव करके मोक्ष पाते हैं । भूतनैगमनयसे—निकटकी अपेक्षासे यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, दूरकी अपेक्षासे सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसांपराय तथा यथाख्यातसे और किसीके परिहारविशुद्धि हो तो उससे—इन पाँच प्रकारके चारित्रसे मोक्ष प्राप्त होता है ।

७-प्रत्येकबुद्धबोधितः—प्रत्येकबुद्ध जीव वर्तमानमें निमित्तकी उपस्थितिके बिना अपनी शक्तिसे बोध प्राप्त करते हैं, किन्तु भूतकालमें या तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तो तब या उससे पहले सम्यग्ज्ञानीके उपदेशका निमित्त हो; और बोधितबुद्ध जीव वर्तमानमें सम्यग्ज्ञानीके उपदेशके निमित्तसे धर्म पाते हैं । ये दोनों प्रकारके जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

८-ज्ञानः—ऋजुसूत्रनयसे केवलज्ञानसे ही सिद्ध होता है । भूतनैगमनयसे कोई मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे, कोई मति, श्रुत, अवधि इन तीनसे, अथवा मति, श्रुत, मनःपर्ययसे और कोई मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय, इन चार ज्ञानसे (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होता है ।

९-अवगाहनाः—किसीके उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम पांचसौ पच्चीस धनुषकी, किसीके जघन्य साढ़े तीन हाथमें कुछ कम और किसीके मध्य अवगाहना होती है । मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद हैं ।

१०-अन्तरः—एक सिद्ध होनेके बाद दूसरा सिद्ध होनेका जघन्य अन्तर एक समयका और उत्कृष्ट अन्तर छह मासका है ।

११-संख्याः—जघन्यरूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है. उत्कृष्टरूपसे एक समयमें १०८ जीव सिद्ध होते हैं ।

१२ अल्पबहुत्वः— अर्थात् संख्यामें हीनाधिकता। उपरोक्त बारह भेदोंमें अल्पबहुत्व होता है वह निम्न प्रकार है:—

(१) क्षेत्रः—संहरण सिद्धसे जन्म सिद्ध संख्यातगुणे हैं। समुद्र आदि जल क्षेत्रोंसे अल्प सिद्ध होते हैं और महाविदेहादि क्षेत्रोंसे अधिक सिद्ध होते हैं।

(२) कालः—उत्सर्पिणी कालमें हुए सिद्धोंकी अपेक्षा अवसर्पिणी कालमें हुए सिद्धोंकी संख्या ज्यादा है और इन दोनों कालके बिना सिद्ध हुए जीवोंकी संख्या उनसे संख्यातगुनी है, क्योंकि विदेहक्षेत्रमें अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीका भेद नहीं है।

(३) गतिः—सभी जीव मनुष्यगतिसे ही सिद्ध होते हैं, इसलिये इस अपेक्षासे गतिमें अल्पबहुत्व नहीं है; परन्तु एक गतिके अन्तरकी अपेक्षासे (अर्थात् मनुष्यभवसे पहिलेकी गतिकी अपेक्षासे) तिर्यंचगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुए ऐसे जीव थोड़े हैं—कम हैं, उनकी अपेक्षासे संख्यातगुने जीव मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं, उससे संख्यातगुने जीव नरकगतिसे आकर मनुष्य हो सिद्ध होते हैं, और उससे संख्यातगुने जीव देवगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं।

(४) लिंगः—भावनपुंसक वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध हों ऐसे जीव कम हैं—थोड़े हैं। उनसे संख्यातगुने भावस्त्री वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं और उससे संख्यातगुने भावपुरुष वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं।

(५) तीर्थः—तीर्थंकर होकर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, और उनसे संख्यातगुने सामान्यकेवली होकर सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्रः—पाँचों चारित्रसे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने जीव परिहारविशुद्धिके अलावा चार चारित्रसे सिद्ध होने वाले हैं।

(७) प्रत्येकबुद्धबोधितः—प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने जीव बोधितबुद्ध होते हैं।

(८) ज्ञानः—मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने चार ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्तकर सिद्ध होते हैं और उनसे संख्यातगुने तीन ज्ञानसे केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध होते हैं।

(९) अवगाहनाः—जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने उत्कृष्ट अवगाहनासे और उनसे संख्यातगुने मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होते हैं।

अन्तरः—छह मासके अन्तरवाले सिद्ध सबसे थोड़े हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयके अन्तरवाले सिद्ध होते हैं।

संख्याः—उत्कृष्टरूपमें एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं, उनसे अनन्तगुने एक समयमें १०७ से लगाकर ५० तक सिद्ध होते हैं, उनसे असंख्यातगुने जीव एक समयमें ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयमें २४ से लेकर १ तक सिद्ध होनेवाले जीव हैं।

इस तरह बाह्य-निमित्तोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेदकी कल्पना की जाती है। वास्तवमें अवगाहना गुणके अतिरिक्त अन्य आत्मीय गुणोंकी अपेक्षासे उनमें कोई भेद नहीं है। यहाँ यह न समझना कि 'एक सिद्धमें दूसरा सिद्ध मिल जाता है—इसलिये भेद नहीं है।' सिद्धदशामें भी प्रत्येक जीव अलग-अलग ही रहते हैं, कोई जीव एक-दूसरेमें मिल नहीं जाते ॥ ९ ॥

उपसंहार

१—मोक्षतत्त्वकी मान्यता सम्बन्धी होनेवाली भूल और उसका निराकरण

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि स्वर्गके सुखकी अपेक्षासे अनन्तगुना सुख मोक्षमें है। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इस गुणाकारमें वह स्वर्ग और मोक्षके सुखकी जाति एक गिनता है। स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री-जनित इन्द्रिय-सुख होता है; उसकी जाति उसे मालूम होती है, किन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री नहीं है इसलिये वहाँके अतीन्द्रिय सुखकी जाति उसे नहीं प्रतिभासती-मालूम होती। परन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते हैं इसलिये वे अज्ञानी भी विना समझे बोलते हैं। जैसे कोई गायनके स्वरूपको तो नहीं समझता किन्तु समस्त सभा गायनकी प्रशंसा करती है इसलिये वह भी प्रशंसा करता है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव तो मोक्षका स्वरूप जानकर उसे उत्तम कहते हैं, इसलिये अज्ञानी जीव भी विना समझे ऊपर बताये अनुसार कहता है।

प्रश्नः—यह किस परसे कहा जा सकता है कि अज्ञानी जीव सिद्धके सुखकी और स्वर्गके सुखकी जातिको एक जानता है—समझता है?

उत्तरः—जिस साधनका फल वह स्वर्ग मानता है उसी जातिके साधनका फल वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस किस्मके अल्प साधन हों तो उससे इन्द्रादि पद मिलते हैं और जिसके वह साधन सम्पूर्ण हों वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार

दोनोंके साधनकी एक जाति मानता है, इसीसे यह निश्चय होता है कि उनके कार्यों (स्वर्ग तथा मोक्षकी) भी एक जाति होनेका उसे श्रद्धान है। इन्द्र आदिको जो सुख है वह तो कषायभावोंसे आकुलतारूप है, अतएव परमार्थतः वह दुःखी है और सिद्धोंको तो कषायरहित अनाकुल सुख है। इसलिये दोनोंकी जाति एक नहीं है ऐसा समझना चाहिये। स्वर्गका कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षका कारण वीतरागभाव है। इसप्रकार उन दोनोंके कारणमें अन्तर है। जिन जीवोंके ऐसा भाव नहीं भासता उनके मोक्षतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ-२३४)

२. अनादि-कर्मबंधन नष्ट होनेकी सिद्धि

श्री तत्त्वार्थसार अध्याय ८में कहा है कि:—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसंततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥

भावार्थः—जिस वस्तुकी उत्पत्तिका आद्य समय न हो वह अनादि कहा जाता है, जो अनादि हो उसका कभी अन्त नहीं होता। यदि अनादि पदार्थका अन्त हो जाय तो सत्का विनाश मानना पड़ेगा; परन्तु सत्का विनाश होना—यह सिद्धान्त और युक्तिसे विरुद्ध है।

इस सिद्धान्तसे, इस प्रकरणमें ऐसी शंका उपस्थित हो सकती है कि-तो फिर अनादि कर्मबन्धनकी संततिका नाश कैसे हो सकता है? क्योंकि कर्मबन्धनका कोई आद्य-समय नहीं है इससे वह अनादि है, और जो अनादि हो उसका अन्त भी नहीं होना चाहिए, कर्मबन्धन जीवके साथ अनादिसे चला आया है अतः अनन्तकाल तक सदा उसके साथ रहना चाहिए, फलतः कर्मबन्धनसे जीव कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

इस शंकाके दो रूप हो जाते हैं—(१) जीवके कर्मबन्धन कभी नहीं छूटना चाहिए, और (२) कर्मस्वरूप जो पुद्गल हैं उनमें कर्मत्व सदा चलता ही रहना चाहिए; क्योंकि कर्मत्व भी एक जाति है और वह सामान्य होनेसे ध्रुव है। इसलिए उसकी चाहे जितनी पर्यायें बदलती रहें तो भी वे सभी कर्मरूप ही रहनी चाहिए। सिद्धान्त है कि "जो द्रव्य जिस स्वभावका हो वह उसी स्वभावका हमेशा रहता है"। जीव अपने चैतन्यस्वभावको कभी छोड़ता नहीं है और पुद्गल भी अपने रस-रूपादिक स्वभावको कभी छोड़ते नहीं हैं, इसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने-अपने स्वभावको छोड़ते नहीं हैं, फिर कर्म ही अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड़ दें?

उपरोक्त शंकाका समाधान इसप्रकार है—जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध संतति-प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे है किन्तु किसी एकके एक ही परमाणुका सम्बन्ध अनादिसे नहीं है, जीवके साथ प्रत्येक परमाणुका सम्बन्ध नियत कालतक ही रहता है। कर्मपिंडरूप परिणत परमाणुओंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेका भी काल भिन्न-भिन्न है और उनके छूटनेका भी काल नियत और भिन्न-भिन्न है। इतना सत्य है कि जीवको विकारी अवस्था में कर्मका संयोग चलता ही रहता है। संसारी जीव अपनी स्वयंकी भूलसे विकारी अवस्था अनादिसे करता चला आ रहा है अतः कर्मका सम्बन्ध भी संतति-प्रवाहरूप अनादिसे इसको है, क्योंकि विकार कोई नियतकालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है अतः कर्मका सम्बन्ध भी कोई नियतकालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है—इसप्रकार जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध सन्तति-प्रवाहसे अनादिका कहा जाता है; लेकिन कोई एक ही कर्म अनादिकालसे जीवके साथ लगा हुआ चला आया हो—ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

जिसप्रकार कर्मकी उत्पत्ति है उसीप्रकार उनका नाश भी होता है, क्योंकि—"जिसका संयोग हो उसका वियोग अवश्य होता ही है" ऐसा सिद्धान्त है। पूर्व कर्मके वियोगके समय यदि जीव स्वरूपमें सम्यक् प्रकार जागृतिके द्वारा विकारको उत्पन्न नहीं होने दे तो नवीन कर्मोंका वन्ध नहीं होगा। इसप्रकार अनादि कर्म-वन्धनका सन्ततिरूप प्रवाह निर्मूल नष्ट हो सकता है। उसका उदाहरण—जैसे बीज और वृक्षका सम्बन्ध संततिप्रवाहरूपसे अनादिका है, कोई भी बीज पूर्वके वृक्ष विना नहीं होता। बीजका उपादानकारण पूर्व-वृक्ष और पूर्ववृक्षका उपादान पूर्व बीज, इसप्रकार बीज-वृक्षकी संतति अनादिसे होनेपर भी उस संततिका अन्त करनेके लिए अन्तिम बीजको पीस डालें या जला दें तो उसका संतति-प्रवाह नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार कर्मोंकी संतति अनादिसे होनेपर भी कर्मनाशके प्रयोग द्वारा समस्त कर्मोंका नाश कर दिया जाय तो उनकी संतति निःशेप—नष्ट हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मोंके नाशका और नये कर्मोंकी उत्पत्ति न होने देनेका उपाय संवर-निर्जराके नववें अध्यायमें बताया है। इसप्रकार कर्मोंका सम्बन्ध जीवसे कभी नहीं छूट सकता-ऐसी शंका दूर होती है।

शंकाका दूसरा प्रकार यह है कि—कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोड़ता नहीं है तो कर्मरूप पदार्थ भी कर्मत्वको कैसे छोड़ें? इसका समाधान यह है कि-कर्म कोई द्रव्य नहीं है, परन्तु वह तो संयोगरूप पर्याय है। जिस द्रव्यमें कर्मत्वरूप पर्याय होती है वह द्रव्य तो पुद्गलद्रव्य है और पुद्गलद्रव्यका तो कभी नाश होता नहीं है और वह अपने वर्णादि स्वभावको भी कभी छोड़ता नहीं है। पुद्गल द्रव्योंमें उनकी योग्यतानुसार शरीरादि तथा

जल, अग्नि, मिट्टी, पत्थर वगैरह कार्यरूप अनेक अवस्थाएँ होती रहती हैं, और उनकी मर्यादा पूर्ण होनेपर वे विनाशको भी प्राप्त होती रहती हैं; उसीप्रकार कोई पुद्गल जीवके साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप बन्धन अवस्था होनेरूप सामर्थ्य—तथा रागी जीवको रागादि होनेमें निमित्तपनेरूप होनेकी सामर्थ्यसहित जीवके साथ रहते हैं वहाँ तक उनको 'कर्म' कहते हैं। कर्म कोई द्रव्य नहीं है, वह तो पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, पर्यायका स्वभाव ही पलटना है, इसलिये कर्मरूप पर्यायका अभाव होकर अन्य पर्यायरूप होता रहता है।

पुद्गल द्रव्यकी कर्म-पर्याय नष्ट होकर दूसरी जो पर्याय हो वह कर्मरूप भी हो सकती है और अन्यरूप भी हो सकती है। किसी द्रव्यके उत्तरोत्तर कालमें भी उस द्रव्यकी एक समान ही योग्यता होती रहे तो उसकी पर्यायें एक समान ही होती रहेंगी, और यदि उसकी योग्यता बदलती रहे तो उसकी पर्यायें अनेक प्रकार भिन्न-भिन्न जातिकी होती रहेंगी। जैसे मिट्टीमें जिससमय घटरूप होनेकी योग्यता हो तब वह मिट्टी घटरूप परिणमती है और फिर वही मिट्टी पूर्व अवस्था बदलकर दूसरी बार भी घट हो सकती है। अथवा अपनी योग्यतानुसार कोई अन्य पर्यायरूप (–अवस्थारूप) भी हो सकती है। इसीप्रकार कर्मरूप पर्यायमें भी समझना चाहिये। जो 'कर्म' कोई अलग द्रव्य ही हो तो उसका अन्यरूप (अकर्मरूप) होना नहीं बन सकता, परन्तु 'कर्म' पर्याय होनेसे वह जीवसे छूट सकते हैं और कर्मपना छोड़कर अन्यरूप (–अकर्मरूप) हो सकते हैं।

३. इसप्रकार पुद्गल जीवसे कर्मरूप अवस्थाको छोड़कर अकर्मरूप घट-पटादिरूप हो सकते हैं यह सिद्ध हुआ। परन्तु जीवसे कुछ कर्मोंका अकर्मरूप हो जाने मात्रसे ही जीव कर्मरहित नहीं हो जाता, क्योंकि जैसे कुछ कर्मरूप पुद्गल कर्मत्वको छोड़कर अकर्मरूप हो जाते हैं वैसे ही अकर्मरूप अवस्थावाले पुद्गल जिनमें कर्मरूप होनेकी योग्यता हो, वह जीवके विकारभावकी उपस्थितिमें कर्मरूप हुआ करते हैं। जहांतक जीव विकारी भाव करे वहाँ तक उसकी विकारदशा हुआ करती है और अन्य पुद्गल कर्मरूप होकर उसके साथ बन्धनरूप हुआ करते हैं; इसप्रकार संसारमें कर्मशृङ्खला चलती रहती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि—कर्म सदा कर्म ही रहें, अथवा तो कोई जीव सदा अमुक ही कर्मोंसे बँधे हुए ही रहें, अथवा विकारी दशामें भी सर्व कर्म सर्व जीवोंके छूट जाते हैं और सर्व जीव मुक्त हो जाते हैं।

४. इस तरह अनादिकालीन कर्मशृङ्खला अनेक काल तक चलती ही रहती है, ऐसा देखा जाता है; परन्तु शृङ्खलाओंका ऐसा नियम नहीं है कि जो अनादिकालीन हो वह अनन्तकाल तक रहना ही चाहिए, क्योंकि शृङ्खला संयोगसे होती है और संयोगका किसी न किसी समय वियोग हो सकता है। यदि वह वियोग आंशिक हो तो वह शृङ्खला चालू

रहती है, किन्तु जब उसका आत्यंतिक वियोग हो जाता है तब शृङ्खलाका प्रवाह टूट जाता है। जैसे शृङ्खला बलवान कारणोंके द्वारा टूटती है उसीप्रकार कर्मशृङ्खला अर्थात् संसार-शृङ्खला (संसाररूपी जंजीर) भी जीवके सम्यग्दर्शनादि सत्य पुरुषार्थके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जाती है। विकारी शृङ्खलामें अर्थात् मलिन पर्यायमें अनन्तताका नियम नहीं है, इसीलिये जीव विकारी पर्यायका अभाव कर सकता है। और विकारका अभाव करनेपर कर्मका सम्बन्ध भी छूट जाता है और उसका कर्मत्व नष्ट होकर अन्यरूपसे परिणमन हो जाता है।

५. अब आत्माके बन्धनकी सिद्धि करते हैं—

कोई जीव कहते हैं कि आत्माके बन्धन होता ही नहीं। उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बिना बन्धनके परतन्त्रता नहीं होती। जैसे गाय, भैंस आदि पशु जब बन्धनमें नहीं होते तब परतन्त्र नहीं होते; परतन्त्रता बन्धनकी दशा बतलाती है, इसलिये आत्माके बन्धन मानना योग्य है। आत्माके यथार्थ बन्धन अपने-निज विकारीभावका ही है, उसका निमित्त पाकर स्वतः जड़कर्मका बन्धन होता है और उसके फलस्वरूप शरीरका संयोग होता है। शरीरके संयोगमें आत्मा रहती है, वह परतंत्रता बतलाती है। यह ध्यान रहे कि कर्म, शरीर इत्यादि कोई भी परद्रव्य आत्माको परतंत्र नहीं करते; किन्तु जीव स्वयं अज्ञानतासे स्वको परतन्त्र मानता है और पर-वस्तुसे निजको लाभ या नुकसान होता है—ऐसी विपरीत पकड़ करके परमें इष्ट-अनिष्टत्वकी कल्पना करता है। पराधीनता दुःखका कारण है। जीवको शरीरके ममत्वसे-शरीरके साथ एकत्वबुद्धिसे दुःख होता है। इसलिये जो जीव शरीरादि परद्रव्यसे अपनेको लाभ-नुकसान मानते हैं वे परतन्त्र ही रहते हैं। कर्म या परवस्तु जीवको परतन्त्र नहीं करती, किन्तु जीव स्वयं परतन्त्र होता है। इस तरह जहां तक अपनेमें अपराध, अशुद्धभाव किंचित् भी हो वहां तक कर्म-नोकर्मका सम्बन्धरूप बन्ध है।

६. मुक्त होनेके बाद फिर बंध या जन्म नहीं होता

जीवके मिथ्यादर्शनादि विकारी भावोंका अभाव होनेसे कर्मका कारण-कार्य सम्बन्ध भी टूट जाता है। जानना-देखना यह किसी कर्मबन्धका कारण नहीं किन्तु परवस्तुओंमें तथा राग-द्वेषमें आत्मीयताकी भावना बंधका कारण होती है। मिथ्याभावनाके कारण जीवके ज्ञान तथा दर्शन (श्रद्धान) को मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस मिथ्यात्व आदि विकारभावके छूट जानेसे विश्वकी चराचर वस्तुओंका जानना-देखना होता है; क्योंकि ज्ञान-दर्शन तो जीवका स्वाभाविक असाधारण धर्म है। वस्तुके स्वाभाविक असाधारण धर्मका कभी नाश नहीं होता; यदि उसका नाश हो तो वस्तुका भी नाश हो जाय। इसलिए मिथ्यावासनाके अभावमें भी जानना-देखना तो होता है; किन्तु अमर्यादित

बंधके कारण-कार्यका अभाव मिथ्यावासनाके अभावके साथ ही हो जाता है। कर्मके आनेके सर्व कारणोंका अभाव होनेके बाद भी जानना-देखना होता है तथापि जीवके कर्मोंका बंध नहीं होता और कर्मबन्ध न होनेसे उसके फलरूप स्थूल शरीरका संयोग भी नहीं मिलता; इसलिये उसके फिर जन्म नहीं होता। (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८४)

७. बंध जीवका स्वाभाविक धर्म नहीं

यदि बन्ध जीवका स्वाभाविक धर्म हो तो वह बन्ध जीवके सदा रहना चाहिये; किन्तु वह तो संयोग-वियोगरूप है; इसलिये पुराने कर्म दूर होते हैं और यदि जीव विकार करे तो नवीन बंधते हैं। यदि बन्ध स्वाभाविक हो तो बन्धसे पृथक् कोई मुक्तात्मा हो नहीं सकता। पुनश्च, यदि बन्ध स्वाभाविक हो तो जीवोंमें परस्पर अन्तर न दिखे। भिन्न कारणके बिना एक जातिके पदार्थोंमें अन्तर नहीं होता, किन्तु जीवोंमें अन्तर देखा जाता है। इसका कारण यह है कि जीवोंका लक्ष भिन्न-भिन्न पर-वस्तु पर है। पर वस्तुएँ अनेक प्रकारकी होती हैं, अतः परद्रव्योंके आलंबनसे जीवकी अवस्था एक सदृश नहीं रहती। जीव स्वयं पराधीन होता रहता है, यह पराधीनता ही बन्धनका कारण है। जैसे बन्धन स्वाभाविक नहीं, उसीप्रकार वह आकस्मिक भी नहीं अर्थात् बिना कारणके उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्येक कार्य अपने-अपने कारणके अनुसार होता है। स्थूलबुद्धिवाले लोग उसका सच्चा कारण नहीं जानते अतः अकस्मात् कहते हैं। बन्धका कारण जीवका अपराधरूप विकारीभाव है। जीवके विकारी भावोंमें तारतम्यता देखी जाती है, इसलिये वह क्षणिक है, अतः उसके कारणसे होनेवाला कर्मबन्ध भी क्षणिक है। तारतम्यता सहित होनेसे कर्मबन्ध शाश्वत नहीं। शाश्वत और तारतम्यता इन दोनोंके शीत और उष्णताकी तरह परस्पर विरोध है। तारतम्यताका कारण क्षणभंगुर है। जिसका कारण क्षणिक हो वह कार्य शाश्वत कैसे हो सकता है? कर्मका बन्ध और उदय तारतम्यता सहित ही होता है, इसलिये बन्ध शाश्वतिक या स्वाभाविक वस्तु नहीं; इसलिये यह स्वीकार करना ही चाहिये कि बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर पूर्व-बन्धकी समाप्ति पूर्वक मोक्ष होता है।

(देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८६)

८. सिद्धोंका लोकाग्रसे स्थानांतर नहीं होता

प्रश्नः—आत्मा मुक्त होनेपर भी स्थानवाला होता है। जिसको स्थान हो वह एक स्थानमें स्थिर नहीं रहता किन्तु नीचे जाता है अथवा विचलित होता रहता है, इसलिये मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वलोकमें ही स्थिर न रहकर नीचे जाय अर्थात् एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाय—ऐसा क्यों नहीं होता?

उत्तरः—पदार्थमें स्थानांतर होनेका कारण स्थान नहीं है परन्तु स्थानांतरका कारण तो उसकी क्रियावती शक्ति है । जैसे नावमें जब पानी आकर भरता है तब वह डगमग होती है और नीचे डूब जाती है, उसी प्रकार आत्मामें भी जब कर्मास्रव होता रहता है तब वह संसारमें डूबता है और स्थान बदलता रहता है, किन्तु मुक्त अवस्थामें तो जीव कर्मास्रवसे रहित हो जाता है, इसलिये ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण लोकाग्रमें स्थित होनेके बाद फिर स्थानांतर होनेका कोई कारण नहीं रहता ।

यदि स्थानांतरका कारण स्थानको मानें तो कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थानवाला न हो; क्योंकि जितने पदार्थ हैं वे सब किसी न किसी स्थानमें रहे हुए हैं और इसीलिये उन सभी पदार्थोंका स्थानांतर होना चाहिये । परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल आदि द्रव्य स्थानांतर रहित देखे जाते हैं, अतः वह हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है । अतः सिद्ध हुआ कि संसारी जीवके अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनकी उस समयकी योग्यता उस क्षेत्रांतरका मूल कारण है और धर्मका उदय तो मात्र निमित्तकारण है । मुक्तात्मा कर्मास्रवसे सर्वथा रहित हैं, अतः वे स्वस्थानसे विचलित नहीं होते । (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८७) पुनश्च, तत्त्वार्थसार अध्याय ८ की १२ वीं गाथामें बतलाया है कि गुरुत्वके अभावको लेकर मुक्तात्माका नीचे पतन नहीं होता ।

९—जीवकी मुक्त दशा मनुष्य-पर्यायसे ही होती है और मनुष्य ढाई द्वीपमें ही होता है, इसीलिये मुक्त होनेवाले जीव (मोड़ बिना) सीधे ऊर्ध्वगतिसे लोकांतमें जाते हैं । उसमें उन्हें एक ही समय लगता है ।

१०. अधिक जीव थोड़े क्षेत्रमें रहते हैं

प्रश्नः—सिद्धक्षेत्रके प्रदेश तो असंख्यात हैं और मुक्त जीव अनन्त हैं तो असंख्यात प्रदेशमें अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं ?

उत्तरः—सिद्ध जीवोंके शरीर नहीं है और जीव सूक्ष्म (अरूपी) है, इसीलिये एक स्थान पर अनन्त जीव एक साथ रह सकते हैं । जैसे एक ही स्थानमें अनेक दीपोंका प्रकाश रह सकता है उसी तरह अनन्त सिद्ध जीव एक साथ रह सकते हैं । प्रकाश तो पुद्गल है; पुद्गल द्रव्य भी इस तरह रह सकता है तो फिर अनन्त शुद्ध जीवोंके एक क्षेत्रमें साथ रहनेमें कोई बाधा नहीं ।

११. सिद्ध जीवोंके आकार है ?

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीव अरूपी है इसलिये उसके आकार नहीं होता, यह

मान्यता मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थमें प्रदेशत्व नामका गुण है, इसीलिये वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है उसका अपना आकार होता है। जीव अरूपी-अमूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तुके भी अमूर्तिक आकार होता है। जीव जिस शरीरको छोड़कर मुक्त होता है उस शरीरके आकारसे कुछ न्यून आकार मुक्त दशामें भी जीवके होता है।

प्रश्नः—यदि आत्माके आकार हो तो उसे निराकार क्यों कहते हैं?

उत्तरः—आकार दो तरहका होता है—एक तो लम्बाई चौड़ाई मोटाईरूप आकार और दूसरा मूर्तिकरूप आकार। मूर्तिकतारूप आकार एक पुद्गल द्रव्यमें ही होता है अन्य किसी द्रव्यमें नहीं होता। इसीलिये जब आकारका अर्थ मूर्तिकता किया जावे तब पुद्गलके अतिरिक्त सर्व द्रव्योंको निराकार कहते हैं। इस तरह जीवमें पुद्गलका मूर्तिक आकार न होनेकी अपेक्षासे जीवको निराकार कहा जाता है। परन्तु स्वक्षेत्रकी लम्बाई चौड़ाई मोटाईकी अपेक्षासे समस्त द्रव्य आकारवान हैं। जब इस सद्भावसे आकारका सम्बन्ध माना जाय तो आकारका अर्थ लम्बाई चौड़ाई मोटाई ही होता है। आत्माके स्वका आकार है, इसीलिये वह साकार है।

संसारदशामें जीवकी योग्यता के कारण उसके आकारकी पर्यायें संकोच-विस्ताररूप होती थीं। अब पूर्ण शुद्ध होने पर संकोच-विस्तार नहीं होता। सिद्धदशा होने पर जीवके स्वभावव्यंजनपर्याय प्रगट होती है और उसी तरह अनन्तकाल तक रहा करती है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९८ से ४०६)

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाका दसवें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट-१

इस मोक्षशास्त्रके आधारसे श्री अमृतचन्द्रसूरिने 'श्री तत्त्वार्थसार' शास्त्र बनाया है। उसके उपसंहारमें उस ग्रन्थका सारांश २३ गाथाओं द्वारा दिया है, वह इस शास्त्रमें भी लागू होता है, अतः यहाँ दिया जाता है:—

ग्रन्थका सारांश

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः ।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अर्थः—जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप क्रमसे कहा गया है उसे प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगोंके द्वारा जानकर मोक्षमार्गका यथार्थरूपसे आश्रय करना चाहिये।

प्रश्नः—इस शास्त्रके पहले सूत्रका अर्थ निश्चयनय, व्यवहारनय और प्रमाण द्वारा क्या होगा?

उत्तरः—'जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है'—इस कथनमें अभेदस्वरूप निश्चयनयकी विवक्षा है, अतः यह निश्चयनयका कथन जानना; मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेदसे कहना, इसमें भेदस्वरूप व्यवहारनयकी विवक्षा है, अतः यह व्यवहारनयका कथन जानना; और इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना सो प्रमाण है। मोक्षमार्ग पर्याय है इसीलिये आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी अपेक्षासे वह सद्भूतव्यवहार है।

प्रश्नः—निश्चयनयका क्या अर्थ है?

उत्तरः—'सत्यार्थ इसी प्रकार है' ऐसा जानना सो निश्चयनय है।

प्रश्नः—व्यवहारनयका क्या अर्थ है?

उत्तरः—ऐसा जानना कि 'सत्यार्थ इस प्रकार नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है' सो व्यवहारनय है। अथवा पर्यायभेदका कथन भी व्यवहारनयसे कथन है।

मोक्षमार्गका दो तरहसे कथन

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ २ ॥

अर्थः—निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो तरहसे मोक्षमार्गका कथन

है। उसमें पहला साध्यरूप है और दूसरा उसका साधनरूप है।

१. प्रश्नः—व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है इसका क्या अर्थ है?

उत्तरः—पहले रागरहित दर्शन-चारित्रका स्वरूप जानना और उसी समय राग धर्म नहीं या धर्मका साधन नहीं है' ऐसा मानना। ऐसा माननेके बाद जब जीव रागको तोड़कर निर्विकल्प हो तब उसके निश्चयमोक्षमार्ग होता है और उसी समय रागसहित दर्शन-ज्ञान-चारित्रका व्यय हुआ उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। इस रीतिसे 'व्यय' यह साधन है।

२—इस सम्बन्ध श्री परमात्म-प्रकाशमें निम्नप्रकार बताया है—

प्रश्नः—निश्चयमोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग है नहीं, तो वह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे होता है?

उत्तरः—भूतनैगमनयकी अपेक्षासे परम्परासे साधक होता है अर्थात् पहले वह था किन्तु वर्तमानमें नहीं है तथापि भूतनैगमनयसे वह वर्तमानमें है ऐसा संकल्प करके उसे साधक कहा है (पृष्ठ १४२ संस्कृत टीका) इस सम्बन्धमें छठवें अध्यायके १८ वें सूत्रकी टीकाके पाँचवें पैरेमें दिये गये अन्तिम प्रश्न और उत्तरको पढ़ें।

३—शुद्धनिश्चयनयसे शुद्धानुभूतिरूप वीतराग (-निश्चय) सम्यक्त्वका कारण नित्य-आनन्दस्वभावरूप निज शुद्धात्मा ही है। (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १४५)

४—मोक्षमार्ग दो नहीं

मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो तरहसे है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपण किया है वह निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग है; तथा जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्गमें निमित्त है अथवा साथमें होता है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा जाता है, लेकिन वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

अर्थः—निज शुद्धात्माकी अभेदरूप श्रद्धा करना, अभेदरूपसे ही ज्ञान करना तथा अभेदरूपसे ही उसमें लीन होना—इसप्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा है सो निश्चयमोक्षमार्ग है।

व्यवहारमोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

अर्थ—आत्मामें जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रगट हो रहे हैं उस सम्यक्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहारमार्ग समझना चाहिये ।

नोट:—निश्चय और व्यवहार मुक्तिमार्गका कथन दूसरे प्रकारसे आगेके सूत्र २१ में भी बतलाया है, अतः वह भी पढ़ना ।

व्यवहारी मुनिका स्वरूप

श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥५॥

अर्थ—जो परद्रव्यकी (सात तत्त्वोंकी, भेदरूपसे) श्रद्धा करता है, उसी तरह भेदरूपसे जानता है और उसी तरह भेदरूपसे उपेक्षा करता है उस मुनिको व्यवहारी मुनि कहते हैं ।

निश्चयी मुनिका स्वरूप

स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥६॥

अर्थ—जो स्व द्रव्यको ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते हैं और जिनके आत्माकी प्रवृत्ति उपेक्षारूप ही हो जाती है ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चयरत्नत्रययुक्त हैं ।

निश्चयीके अभेदका समर्थन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शन चारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

अर्थ—जो जानता है सो आत्मा है; ज्ञान जानता है इसीलिये ज्ञान ही आत्मा है । इसी तरह जो सम्यक् श्रद्धा करता है सो आत्मा है; श्रद्धा करनेवाला सम्यग्दर्शन है अतएव वही आत्मा है । जो उपेक्षित होता है सो आत्मा है । उपेक्षा गुण उपेक्षित होता है अतएव वही आत्मा है अथवा आत्मा ही वह है । यह अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, ऐसी अभेदरूप स्वस्थदशा उनके ही हो सकती है कि जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयाधीन नहीं रहता ।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रय बताया है; उस रत्नत्रयको मोक्षका

कारण मानकर जहाँ तक उसके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है वहां तक साधु उस रत्नत्रयको विषयरूप (ध्येयरूप) मानकर उसका चिंतवन करता है; वह विचार करता है कि रत्नत्रय इसप्रकारके होते हैं। जहां तक ऐसी दशा रहती है वहाँ तक स्वकीय विचार द्वारा रत्नत्रय भेदरूप ही जाना जाता है, इसीलिये साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं; यह व्यवहारकी दशा है। ऐसी दशामें निर्विकल्प अभेदरूप रत्नत्रय कभी हो नहीं सकता। परन्तु जहां तक ऐसी दशा भी न हो अथवा ऐसे रत्नत्रयका स्वरूप समझ न ले वहां तक उसे निश्चयदशा कैसे प्राप्त हो सकती है ? यह ध्यान रहे कि व्यवहार करते करते निश्चयदशा प्रगट ही नहीं होती।

यह भी ध्यान रहे कि व्यवहार दशाके समय राग है इसलिये वह दूर करने योग्य है, वह लाभदायक नहीं है। स्वाश्रित एकतारूप निश्चयदशा ही लाभदायक है, ऐसा यदि पहलेसे ही [illegible] हो तभी उसके व्यवहारदशा होती है। यदि पहलेसे ही ऐसी मान्यता न हो और उस रागदशाको ही धर्म या धर्मका कारण माने तो उसे कभी धर्म नहीं होता और उसके वह व्यवहारदशा भी नहीं कहलाती; वास्तवमें वह व्यवहाराभास है—ऐसा समझना। इसलिये रागरूप व्यवहारदशाको टालकर निश्चयदशा प्रगट करनेका लक्ष्य पहलेसे ही होना चाहिये।

ऐसी दशा हो जानेपर जब साधु स्वसन्मुखताके बलसे स्वरूपकी तरफ झुकता है तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय–सम्यक्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय हो जाता है। इसीलिये यह सच्चे अभेदरूप रत्नत्रयकी दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होनेके कारण निश्चय-रत्नत्रयरूप कही जाती है।

इस अभेद और भेदका तात्पर्य समझ जानेपर यह बात माननी पड़ेगी कि जो व्यवहाररत्नत्रय है वह यथार्थ रत्नत्रय नहीं है। इसीलिये उसे हेय कहा जाता है। यदि साधु उसीमें लगा रहे तो उसका तो व्यवहारमार्ग–मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। यों कहना चाहिये कि उन साधुओंने उसे हेयरूप न जानकर उपादेयरूप समझ रखा है। जो जिसे [illegible] मानता है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता; इसीलिये उस साधुका [illegible] मार्ग–मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप संसारका कारण है।

[illegible] इसीप्रकार जो व्यवहारको हेय समझकर अशुभभावमें रहता है और निश्चयका [illegible] वह उभयभ्रष्ट (शुद्ध और शुभ दोनोंसे भ्रष्ट) है। निश्चयका [illegible] व्यवहारको तो हेय मानकर अशुभमें रहा करते हैं [illegible] शुभमें भी नहीं आते, तो फिर वे निश्चय तक कैसे पहुंच सकते—? [illegible]

इस श्लोकमें अभेद रत्नत्रयका स्वरूप कृदन्त शब्दों द्वारा शब्दोंका अभेदत्व बताकर कर्तृभावसाधन सिद्ध किया। अब आगेके श्लोकोंमें क्रियापदों द्वारा कर्ताकर्मभाव आदिमें सर्व विभक्तियोंके रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

निश्चयरत्नत्रयकी कर्ताके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥८॥

अर्थ—जो निज स्वरूपको देखता है, निजस्वरूपको जानता है और निजस्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है, अतएव दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनोंरूप आत्मा ही है।

कर्मरूपके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥९॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपको देखा जाता है, जाना जाता है और धारण किया जाता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

करणरूपके साथ अभेदता

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१०॥

अर्थ—जो निजस्वरूप द्वारा देखा जाता है, निजस्वभाव द्वारा जाना जाता है, और निजस्वरूप द्वारा स्थिरता होती है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है किंतु तन्मय आत्मा ही है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

सम्प्रदानरूपके साथ अभेदता

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥११॥

अर्थ—जो स्वरूपकी प्राप्तिके लिये देखता है, जानता है तथा प्रवृत्ति करता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र नामवाला रत्नत्रय है; वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है परन्तु तन्मय आत्मा ही है अर्थात् आत्मा रत्नत्रयसे भिन्न नहीं किन्तु तन्मय ही है।

रत्नत्रय है। आत्मासे भिन्न दर्शनादि गुण कोई पदार्थ नहीं परन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेदत्व

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय पर्यायोंका आश्रय है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। आत्मा ही तन्मय होकर रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

प्रदेशस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ १८ ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रके जो प्रदेश बताये गये हैं वे आत्माके प्रदेशोंसे कहीं अलग नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्माका ही वह प्रदेश है। अथवा दर्शन-प्रदेशरूप ही आत्मा है और वही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्माके प्रदेश और रत्नत्रयके प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार परस्पर दर्शनादि तीनोंके प्रदेश भी भिन्न नहीं हैं, अतएव आत्मा और रत्नत्रय भिन्न नहीं किन्तु आत्मा तन्मय ही है।

अगुरुलघुस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते ॥ १९ ॥

अर्थ—अगुरुलघु नामक गुण है, अतः वस्तुमें जितने गुण हैं वे सीमासे अधिक अपनी हानि-वृद्धि नहीं करते; यही सभी द्रव्योंमें अगुरुलघु गुणका प्रयोजन है। इस गुणके निमित्तसे समस्त गुणोंमें जो सीमाका उल्लंघन नहीं होता उसे भी अगुरुलघु कहते हैं; इसलिये यहां अगुरुलघुको दर्शनादिकका विशेषण कहना चाहिये।

अर्थात्—अगुरुलघुत्व प्राप्त होनेवाले जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वे आत्मासे पृथक् नहीं हैं और परस्परमें भी वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो रत्नत्रय है,

उसका वह (अनुकम्पु) [illegible] है और [illegible] आत्मा है. किन्तु आत्मा उससे पृथक् पदार्थ नहीं। [illegible] है और आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है इसीलिये [illegible] अभिन्न है।

उत्पाद व्यय-ध्रौव्यरूपताकी अपेक्षा

दर्शनज्ञानचारित्रेषूत्पादव्ययध्रौव्य [illegible] ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन [illegible] ॥ २० ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है वह सब आत्माका ही है; क्योंकि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है वह आत्मासे अलग नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मामय ही हैं इसीलिये रत्नत्रयके जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आत्माके ही हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी परस्परमें अभिन्न ही हैं।

इस तरह यदि रत्नत्रयके जितने विशेषण हैं वे सब आत्माके ही हैं और आत्मासे अभिन्न हैं तो रत्नत्रयको भी आत्मस्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माका दर्शन-चारित्र है वह निश्चयरत्नत्रय है, इसके समुदायको (एकताको) निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं, यही मोक्षमार्ग है।

निश्चय व्यवहार माननेका प्रयोजन

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ।
एको ज्ञाता सर्वदेवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ २१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप पृथक् पृथक् पर्यायों द्वारा जीवको जानना सो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है और इन सब पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है, पर्याय तथा जीवके कोई भेद नहीं है—इस प्रकार रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न जानना सो द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

अर्थात्—रत्नत्रयसे जीव अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा जानना सो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयका स्वरूप है; परन्तु रत्नत्रयमें भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहारमोक्षमार्ग है और अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चयमोक्षमार्ग है। अतएव उपरोक्त श्लोकका तात्पर्य यह है कि—

आत्माको प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय द्वारा जानकर पर्यायपरसे लक्ष्य

हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्यस्वभाव-जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी ओर झुकनेसे शुद्धता और निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है।

नोटः—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयसे जो मुक्तिमार्गका स्वरूप बतलाया है, ऐसा स्वरूप श्री प्रवचनसारकी गाथा २४२ तथा उसकी टीकामें भी बतलाया है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थका प्रयोजन

(वसंततिलका)

तत्त्वार्थसारमिति यः समधिर्विदित्वा,
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह-
श्चैतन्यरूपममलं शिवतत्त्वमेति ॥ २२ ॥

अर्थः—बुद्धिमान और संसारसे उपेक्षित हुए जो जीव इस ग्रन्थको अथवा तत्त्वार्थके सारको ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझकर निश्चलतापूर्वक मोक्षमार्गमें प्रवृत होगा वह जीव मोहका नाश कर संसार-बन्धनको दूर करके निश्चयचैतन्यस्वरूपी मोक्षतत्त्वको (शिवतत्त्वको) प्राप्त कर सकता है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता पुद्गल हैं, आचार्य नहीं—

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥

अर्थः—वर्ण (अर्थात् अनादिसिद्ध अक्षरोंका समूह) इन पदोंके कर्त्ता हैं, पदावलि वाक्योंकी कर्त्ता है और वाक्योंने यह शास्त्र बनाया है। कोई यह न समझे कि यह शास्त्र मैंने (आचार्यने) बनाया है। (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ ४२१ से ४२८)

नोटः—(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता नहीं हो सकता—यह सिद्धांत सिद्ध करके यहाँ आचार्य भगवानने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जीव जड़ शास्त्रको नहीं बना सकता।

(२) श्री समयसारकी टीका, श्री प्रवचनसारकी टीका, श्री पंचास्तिकायकी टीका और श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्रके कर्तृत्वके सम्बन्धमें भी आचार्य भगवान श्री अमृतचन्द्रजी सूरिने बतलाया है कि—इस शास्त्रका अथवा टीकाका कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है, मैं (आचार्य) नहीं। यह बात तत्त्वजिज्ञासुओंको विशेष ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है, अतः आचार्य भगवानने तत्त्वार्थसार पूर्ण करनेपर भी यह स्पष्टरूपसे बतलाया है। इसलिये पहले भेद-

विज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता। यह निश्चय करने पर जीवका स्वकी ओर ही झुकाव रहता है। अब स्वकी ओर झुकानेमें दो पहलू हैं। उनमें एक त्रिकाली चैतन्यस्वभावभाव जो परमपारिणामिकभाव कहा जाता है—वह है, और दूसरा स्वकी वर्तमान पर्याय। पर्यायपर लक्ष करनेसे विकल्प (राग) दूर नहीं होता, इसलिये त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी तरफ झुकनेके लिये सर्व वीतरागी शास्त्रोंकी, और श्रीगुरुओंकी आज्ञा है। अतः उसकी तरफ झुकना और अपनी शुद्धदशा प्रगट करना यही जीवका कर्त्तव्य है। इसलिये तदनुसार ही सर्व जीवोंको पुरुषार्थ करना चाहिये। इस शुद्धदशाको ही मोक्ष कहते हैं। मोक्षका अर्थ निज-शुद्धताकी पूर्णता अथवा सर्व समाधान है। और वही अविनाशी और शाश्वत-सच्चा सुख है। जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने ज्ञानके अनुसार प्रवृत्ति भी करता है, किन्तु उसे मोक्षके सच्चे उपायकी खबर नहीं है, इसलिये दुःख (बन्धन) के उपायको सुखका (मोक्षका) उपाय मानता है। अतः विपरीत उपाय प्रति-समय किया करता है। इस विपरीत उपायसे पीछे हटकर सच्चे उपायकी ओर पात्र जीव झुकें और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करें यह इस शास्त्रका हेतु है।

परिशिष्ट–२

प्रत्येक द्रव्य और उसकी प्रत्येक पर्यायकी स्वतंत्रताकी घोषणा

१—प्रत्येक द्रव्य अपनी–अपनी त्रिकाली पर्यायका पिंड है इसलिये वह तीनों कालकी पर्यायोंके योग्य है; और पर्याय प्रति–समयकी है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें उस–उस समयकी पर्यायके योग्य है और उस–उस समयकी पर्याय उस–उस समयमें होने योग्य है अतः होती है; किसी द्रव्यकी पर्याय आगे या पीछे होती ही नहीं।

२—मिट्टी द्रव्य (मिट्टीके परमाणु) अपने तीनों कालकी पर्यायोंके योग्य है तथापि यदि ऐसा माना जाय कि उसमें तीनों कालमें एक घड़ा होनेकी योग्यता है तो मिट्टी द्रव्य एक पर्याय जितना ही हो जायगा और उसके द्रव्यत्वका भी नाश हो जायगा।

३—जो यों कहा जाता है कि मिट्टी द्रव्य तीन कालमें घड़ा होनेके योग्य है सो परद्रव्यसे मिट्टीको भिन्न बतलाकर यह बतलाया जाता है कि मिट्टीके अतिरिक्त अन्य द्रव्य किसी कालमें मिट्टीका घड़ा होनेके योग्य नहीं है। परन्तु जिस समय मिट्टी द्रव्यका तथा उसकी पर्यायकी योग्यताका निर्णय करना हो तब यों मानना मिथ्या है कि 'मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है; क्योंकि ऐसा माननेसे, मिट्टी द्रव्यकी अन्य जो–जो पर्यायें होती हैं उन पर्यायोंके होनेके योग्य मिट्टी द्रव्यकी योग्यता नहीं है तथापि होती हैं—ऐसा मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असत् है। इसलिये मिट्टी मात्र घटरूप होने योग्य है–यह मानना मिथ्या है।

४—उपरोक्त कारणोंको लेकर यह मानना कि "मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है और जहाँ तक कुम्हार न आये वहाँ तक घड़ा नहीं होता"—यह मानना मिथ्या है; किन्तु मिट्टी द्रव्यकी पर्याय जिस समय घड़ेरूप होनेके योग्य है वह एक समयकी ही योग्यता है अतः उसी समय घड़ेरूप पर्याय होती है, आगे-पीछे नहीं होती, और उस समय कुम्हार आदि निमित्त स्वयं स्वतः होते ही हैं।

५—प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्यायका स्वामी है अतः उसकी पर्याय उस–उस समयकी योग्यताके अनुसार स्वयं स्वतः हुआ ही करती है; इस तरह प्रत्येक द्रव्यकी अपनी पर्याय प्रत्येक समय उस-उस द्रव्यके ही अधीन है; किसी दूसरे द्रव्यके आधीन वह पर्याय नहीं है।

६—जीव द्रव्य त्रिकाल पर्यायोंका पिंड है; इसलिये वह त्रिकाल वर्तमान पर्यायोंके योग्य है और प्रगट पर्याय एक समयकी है अतः उस-उस पर्यायके स्वयं योग्य है।

७—यदि ऐसा न माना जावे तो एक पर्यायमात्र ही द्रव्य हो जायगा। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका स्वामी है अतः उसकी वर्तमानमें होनेवाली एक-एक समयकी पर्याय है वह उस द्रव्यके आधीन है।

८—जीवको पराधीन कहते हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि परद्रव्य उसे आधीन करता है अथवा परद्रव्य उसे अपना खिलौना बनाता है, किन्तु उस-उस समयकी पर्यायमें जीव स्वयं परद्रव्यकी पर्यायके आधीन होकर करता है। यह मान्यता मिथ्या है कि परद्रव्य या उसकी कोई पर्याय जीवको कभी भी आश्रय दे सकती है, उसे रमा सकती है, हैरान कर सकती है या सुखी-दुःखी कर सकती है।

९—प्रत्येक द्रव्य सत् है अतः वह द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे भी सत् है और इसीलिये वह हमेशा स्वतंत्र है। जीव पराधीन होता है वह भी स्वतंत्ररूपसे पराधीन होता है। कोई परद्रव्य या उसकी पर्याय उसे पराधीन या परतंत्र नहीं बनाते।

१०—इस तरह श्री वीतरागदेवने संपूर्ण स्वतंत्रताकी घोषणा की है।

परिशिष्ट-३

साधक जीवकी दृष्टिको मापनेकी रीति

अध्यात्म-शास्त्रोंमें ऐसा नहीं कहा कि "जो निश्चय है सो मुख्य है"। यदि निश्चयका ऐसा अर्थ करें कि जो निश्चयनय है सो मुख्य है, तो किसी समय निश्चयनय मुख्य हो और किसी समय व्यवहारनय मुख्य हो; अर्थात् किसी समय 'द्रव्य' मुख्य हो और किसी समय 'गुण-पर्यायके भेद' मुख्य हों, लेकिन द्रव्यके साथ अभेद हुई पर्यायको भी निश्चय कहा जाता है। इसलिये निश्चय सो मुख्य न मानकर मुख्य सो निश्चय मानना चाहिये। और आगम-शास्त्रोंमें किसी समय व्यवहारनयको मुख्य और निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है। अध्यात्म-शास्त्रोंमें तो हमेशा 'जो मुख्य है सो निश्चयनय' है और उसीके आश्रयसे धर्म होता है—ऐसा समझाया जाता है और उसमें सदा निश्चयनय मुख्य ही रहता है। पुरुषार्थके द्वारा स्वमें शुद्ध पर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय दूर करनेके लिये हमेशा निश्चयनय ही आदरणीय है। उस समय दोनों नयोंका ज्ञान होता है किन्तु धर्म प्रगट करनेके लिये दोनों नय कभी आदरणीय नहीं। व्यवहारनयके आश्रयसे कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता, परन्तु उसके आश्रयसे तो राग-द्वेषके विकल्प ही उठते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये किसी समय निश्चयनयकी मुख्यता और व्यवहारनय की गौणता रखकर कथन किया जाता है और किसी समय व्यवहारनयको मुख्य करके तथा निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है; स्वयं विचार करनेमें भी किसी समय निश्चयनयकी मुख्यता और किसी समय व्यवहार-नयकी मुख्यता की जाती है। अध्यात्म-शास्त्रमें भी जीव विकारी पर्याय स्वयं करता है इसलिये होती है और वह जीवके अनन्य परिणाम हैं—ऐसा व्यवहार द्वारा कहा और समझाया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक समयमें निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है ऐसा ज्ञानियोंका कथन है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और किसी समय व्यवहारनय आदरणीय है सो भूल है। तीनों काल अकेले निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है —ऐसा समझना।

प्रश्नः-क्या साधक जीवके नय होते ही नहीं ?

उत्तरः-साधक दशामें ही नय होते हैं। क्योंकि केवलीके तो प्रमाण है अतः उनके नय नहीं होते। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि व्यवहारनयके आश्रयसे धर्म होता है इसलिये उनको तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया, इसलिये अज्ञानीके सच्चे नय नहीं होते। इस तरह साधक जीवके ही उनके श्रुतज्ञानमें नय होते हैं। निर्विकल्पदशासे अतिरिक्त कालमें जब उनके नयरूपसे श्रुतज्ञानका भेदरूप उपयोग होता है तब, और संसारके शुभाशुभभावोंमें हों या स्वाध्याय, व्रत, नियमादि कार्योंमें हों तब जो विकल्प उठते हैं वह सब व्यवहारनयके विषय हैं, परन्तु उस समय भी उनके ज्ञानमें एक निश्चयनय ही आदरणीय (अतः उस समय व्यवहारनय है तथापि वह आदरणीय नहीं होनेसे) उनकी शुद्धता बढ़ती है। इस तरह सविकल्पदशामें भी निश्चयनय आदरणीय है और जब व्यवहारनय उपयोगरूप हो तब भी ज्ञानमें उसी समय हेयरूपसे है; इस तरह निश्चय और व्यवहारनय-ये दोनों साधक जीवोंके एक ही समयमें होते हैं।

इसलिये यह मन्यता ठीक नहीं है कि साधक जीवोंके नय होते ही नहीं, किन्तु साधक जीवोंके ही निश्चय और व्यवहार दोनों नय एक ही साथ होते हैं। निश्चयनयके आश्रयके बिना सच्चा व्यवहारनय होता ही नहीं। जिसके अभिप्रायमें व्यवहारनयका आश्रय हो उसके तो निश्चयनय रहा ही नहीं, क्योंकि उसके तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया।

चारों अनुयोगोंमें किसी समय व्यवहारनयकी मुख्यता से कथन किया जाता है और किसी समय निश्चयनयको मुख्य करके कथन किया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक अनुयोगमें कथनका सार एक ही है और वह यह है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों जानने योग्य हैं, किन्तु शुद्धताके लिये आश्रय करने योग्य एक निश्चयनय ही है और व्यवहारनय कभी भी आश्रय करने योग्य नहीं है—वह हमेशा हेय ही है—ऐसा समझना।

व्यवहारनयके ज्ञानका फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चयनयका आश्रय करना है। यदि व्यवहारनयको उपादेय माना जाय तो वह व्यवहारनयके सच्चे ज्ञानका फल नहीं है। किन्तु व्यवहारनयके अज्ञानका अर्थात् मिथ्याज्ञानका फल है।

निश्चयनयका आश्रय करनेका अर्थ यह है कि निश्चयनयके विषयभूत आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वरूपका आश्रय करना और व्यवहारनयका आश्रय छोड़ना-उसे हेय समझना। इसका यह अर्थ है कि व्यवहारनयके विषयरूप विकल्प, परद्रव्य या स्वद्रव्यकी अपूर्ण अवस्थाकी ओरका आश्रय छोड़ना।

अध्यात्मका रहस्य

अध्यात्ममें जो मुख्य है सो निश्चय और जो गौण है सो व्यवहार; यह माप है, अतः इसमें मुख्यता सदा निश्चयनयकी ही है और व्यवहार सदा गौणरूपसे ही है। साधक जीवका यह माप है। साधक जीवकी दृष्टिको मापनेकी हमेशा यही रीति है।

साधक जीव प्रारम्भसे अन्ततक निश्चयनयकी मुख्यता रखकर व्यवहारको गौण ही करता जाता है; इसलिये साधकको साधकदशामें निश्चयकी मुख्यताके बलसे शुद्धताकी वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता हटती ही जाती है। इस तरह निश्चयकी मुख्यताके बलसे ही पूर्ण केवलज्ञान होता है फिर वहां मुख्यता–गौणता नहीं होती और नय भी नहीं होते।

वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके !

वस्तुमें द्रव्य और पर्याय, नित्यत्व और अनित्यत्व इत्यादि जो विरुद्ध धर्मस्वभाव दूर नहीं होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं उनमें एकके आश्रयसे विकल्प टूटता है और दूसरेके आश्रयसे राग होता है। अर्थात् द्रव्यके आश्रयसे विकल्प टूटता है और पर्यायके आश्रयसे राग होता है, इससे इन दो नयोंमें विरोध है। अब, द्रव्यस्वभावकी मुख्यता और अवस्थाकी–पर्यायकी गौणता करके जब साधक जीव द्रव्यस्वभावकी तरफ झुक गया तब विकल्प दूर होकर स्वभावमें अभेद होनेपर ज्ञान प्रमाण हो गया। अब यदि वह ज्ञान पर्यायको जाने तो भी वहां मुख्यता तो सदा द्रव्यस्वभावकी ही रहती है। इसतरह जो निज-द्रव्यस्वभावकी मुख्यता करके स्व-सन्मुख होने पर ज्ञान प्रमाण हुआ वही द्रव्य-स्वभावकी मुख्यता साधक दशाकी पूर्णता तक निरन्तर रहा करती है। और जहां द्रव्य-स्वभावकी ही मुख्यता है वहां सम्यग्दर्शन से पीछे हटना कभी होता ही नहीं; इसलिये साधक जीवके सतत द्रव्यस्वभावकी मुख्यताके बलसे शुद्धता बढ़ते-बढ़ते जब केवलज्ञान हो जाता है, तब वस्तुके परस्पर विरुद्ध दोनों धर्मोंको (*द्रव्य और पर्यायको*) एक साथ जानना है, किन्तु वहाँ अब एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता करके झुकना नहीं रहा। वहां सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान हो जाने पर दोनों नयोंका विरोध दूर हो गया (*अर्थात् नय ही दूर हो गये*) तथापि वस्तुमें जो विरुद्ध धर्मस्वभाव हैं वह तो दूर नहीं होते।

परिशिष्ट-४

शास्त्रका संक्षिप्त सार

१—इस जगतमें जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल यह छह द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। इसे संक्षेपमें 'विश्व' कहते हैं। (अध्याय ५)

२—वे सत् हैं अतः उनका कोई कर्ता नहीं या उनका कोई नियामक नहीं, किन्तु विश्वका प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वतंत्ररूपसे नित्य स्थिर रहकर प्रति-समय अपनी नवीन अवस्था प्रगट करता है और पुरानी अवस्था दूर करता है। (अध्याय ५ सूत्र ३०)

३—उन छह द्रव्योंमेंसे जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्य जड़ हैं; उनमें ज्ञान, आनन्द गुण नहीं है अतः वे सुखी-दुःखी नहीं हैं। जीवोंमें ज्ञान, आनन्द गुण हैं किंतु वे अपनी भूलसे अनादिसे दुःखी हो रहे हैं। उनमें जो जीव मनसहित हैं वे हित-अहितकी परीक्षा करनेकी शक्ति रखते हैं अतः ज्ञानियोंने, उन्हें दुःख दूर कर अविनाशी सुख प्रगट करनेका उपदेश दिया है।

४—अज्ञानी जीव मानते हैं कि शरीरकी क्रिया, पर जीवकी दया, दान, व्रत आदि सुखके उपाय हैं; परन्तु यह उपाय खोटे हैं, यह बतलानेके लिये इस शास्त्रमें सबसे पहले ही यह बतलाया है कि सुखका मूल कारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद उस जीवके सम्यक्चारित्र प्रगट हुये बिना नहीं रहता।

५—जीव ज्ञाता-दृष्टा है और उसका व्यापार या जिसे उपयोग कहा जाता है वह जीवका लक्षण है; राग, विकार, पुण्य, विकल्प, मन्दकषायरूप करुणा आदि जीवके लक्षण नहीं—ये उसमें गर्भितरूपसे कहे हैं। (अध्याय २ सूत्र ८)

६—दया, दान, अणुव्रत, महाव्रत, मैत्री आदि शुभभाव तथा मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इत्यादि अशुभभाव आस्रवके कारण हैं—ऐसा कहकर पुण्य-पाप दोनोंको आस्रवके कारणरूपसे वर्णन किया है। (अध्याय ६ तथा ७)

७—मिथ्यादर्शन संसारका मूल है, ऐसा अध्याय ८ सूत्र १ में बतलाया है तथा बन्धके दूसरे कारण और बन्ध के भेदोंका स्वरूप भी बतलाया है।

८—संसारका मूल कारण मिथ्यादर्शन है। वह सम्यग्दर्शनके द्वारा ही दूर हो सकता है। बिना सम्यग्दर्शनके उत्कृष्ट शुभभावके द्वारा भी वह दूर नहीं हो सकता। संवर-निर्जरारूप धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद सम्यक्चारित्रमें क्रमशः शुद्धि प्रगट होने पर श्रावकदशा तथा मुनिदशा कैसी होती है यह भी बतलाया है। यह भी बतलाया है कि मुनि बाईस परीषहोंपर विजय प्राप्त करते हैं। यदि किसी समय भी मुनि परीषह-जय न करें तो उनके बन्ध होता है, इस विषयका समावेश आठवें बन्ध अधिकारमें आ गया है और परीषह-जय ही संवर-निर्जरारूप है, अतः यह विषय नववें अध्यायमें बतलाया है।

६—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकताकी पूर्णता होने पर (अर्थात् संवर-निर्जराकी पूर्णता होने पर) अशुद्धताका सर्वथा नाश होकर जीव पूर्णतया जड़कर्म और शरीरसे पृथक् होता है और पुनरागमन रहित अविचल सुखदशा प्राप्त करता है, यही मोक्षतत्व है। इसका वर्णन दसवें अध्यायमें किया है।

इस प्रकार इस शास्त्रके विषयोंका संक्षिप्त सार है।

॥ मोक्षशास्त्र गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवादसमाप्त हुआ ॥

लक्षण-संग्रह